प्राक्कथन

श्रीअरविंद की योगविषयक तथा आध्यात्मिक विचारधारा से तो अब लोग धीरे धीरे कुछ कुछ परिचित होने लगे है, उनकी इस विषय की पुस्तकों में विचारशील लोगो की रुचि बढने लगी है ऐसा दीख रहा है। पर उन्होने वेद के संबध में जो कुछ लिखा है उससे अब भी बहुत कम लोग परिचित है, यद्यपि वेद के विषय में लिखा हुआ उनका साहित्य किसी भी तरह उनके अन्यान्य लेखो से कम महत्वपूर्ण नही है। श्री-अरविंद और उनके आश्रम से सपर्क होने पर १९३६ मे जब पहिली बार ही मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने वेद पर भी बहुत लिखा है तो मैंने-विशेषत. एक आर्यसमाजी होने से-उसे बडे कुतूहल से देखा, पढा। सन् १९१४ से १९२० तक जो उनका मासिक 'आर्य' पत्र निकलता रहा था उसमें 'The Secret of the Veda' तथा 'Selected Hymns' ये दो प्रसिद्ध लेखमालाए उन्होंने वेद पर लिखी थी। इनके अतिरिक्त 'A Defence of Indian Culture' लेखमाला मे तथा 'आर्य' के अन्य लेखो मे एव आश्रम के साधको द्वारा पूछे गये वेदसबधी प्रश्नो के उत्तर मे भी वेद के सबध मे श्रीअरविंद ने अपने विस्तृत विचार प्रकट किये है। उन सबको पढने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। मैने पाया कि उस सबमें श्रीअरविंद के बडे पाडित्यपूर्ण, महत्वपूर्ण और प्रकाशपूर्ण विचार प्रकट हुए है। अत स्वभावत. इच्छा हुई कि उनका हिंदी मे अनुवाद किया जाय। और मैंने यह कार्य प्रारभ कर दिया। पर श्रीअरविंद के लेखो का अनुवाद करना आसान कार्य नही है। पाठकों को मालूम नही होगा कि श्रीअरविंद के वैदिक साहित्य के हिंदी मे पुस्तकाकार इस प्रथम प्रकाशन के पीछे लगभग छ वर्ष का परिश्रम छिपा हुआ है।

श्रीअरविंद की अनुमति से हम उनके वेदसबधी साहित्य को अभी 'वेदरहस्य' नाम से तीन खडो में प्रकाशित करने का विचार रखते है। उनमेंसे प्रथम खड पाठको के हाथ में है। यह 'आर्य' में प्रकाशित 'The Secret of the Veda' नामक लेखमाला का हिंदी अनुवाद है। ये अध्याय स्वाध्यायमडल 'औंध' से प्रकाशित पत्र 'वैदिक धर्म' में सवत् '९८, '९९ में प्रकट होते रहे है। पर इनका फिर सशोधन व परिवर्धन किया गया है।

यह केवल अनुवाद भी नही है। विचार को स्पष्ट करने के लिये कई जगह सक्षिप्त कथन का कुछ समझाकर लिखा गया है, कई जगह अपनी तरफ से टिप्पणी दी गयी है, बहुत जगह वेदमत्रो के पते दे दिये गये है, बहुत जगह जिन ऋचाओ का प्रसग चल रहा है वे ऋचाए उद्धृत कर दी गयी है, जहा वेद के किन्ही स्थलो की तरफ सकेत है वहा उन स्थलो का निर्देश कर दिया गया है। जिन वैदिक शब्दो या शब्दावली का उल्लेख अपने विषय के समर्थन में किया गया है वे वेद में कहा आये हैं यह ढूढकर लिख दिया गया है। इनके अतिरिक्त अत में एक अनुक्रमणिका दी गयी है जिससे कि इस पुस्तक में आये विशेष प्रसगों स्मरणीय विषयो तथा विशिष्ट उल्लेखो की तालिका पाठको को उपलब्ध हो गयी है। इस पुस्तक में आये वेदमत्रो की सूची भी दे दी गयी है। यह होते हुए भी जहा तक अनुवाद का सबध है वह स्वतत्र अनुवाद की जगह शब्दश अनुवाद ही अधिक है। क्योकि श्रीअरविंद का शब्दप्रयोग गभीर अर्थपूर्ण तथा कुछ न कुछ महत्त्व को लिये होता है। इसलिये अनुवाद में भाषा के मुहावरेदार होने की अपेक्षा भी भाव पूरा पूरा आ गया है इसका ही अधिक ध्यान रखा गया है।

श्रीअरविंद के अनुसार 'वेद का प्रतिपाद्य', वेद का असली आशय, क्या है यह तो पाठक श्रीअरविंद के शब्दों में इस पुस्तक में ही पढ़ेंगे। पर उसमें सुगम प्रवेश के लिये इतना कह देना पर्याप्त है कि उन्होने यह सिद्ध किया है कि वेद की प्रकृतिवादी या ऐतिहासिक व्याख्या (जैसे कि योरो-

पियन विद्वान् करते हैं) या कर्मकाण्डपरक व्याख्या (जैसे कि सायण आदि विद्वान् करते हैं) असली व्याख्या नही है। वेद का असली अर्थ आध्यात्मिक अर्थ है जो कि प्रतीकों के पीछे गुप्त है, जानबूझकर छिपाकर रखा हुआ है जिससे कि अनधिकारी लोगों से अगम्य रहे, वही वेद का रहस्य है। प्रतीकों को समझने का सूत्र हाथ लगते ही, कुंजी मिलते ही वेद का रहस्य साफ खुल जाता है, वेद का प्रतिपाद्य साफ दीखने लगता है तब मालूम पडता है कि 'सारा ऋग्वेद प्रकाश की शक्तियों का एक विजयगीत है और' गीत है प्रकाश की शक्तियों के ऊर्ध्वारोहण का' वेद तब न तो असभ्य जगलियों के ऊटपटांग गीत रहते है न प्रकृति के अंध पुजारियों के मूर्खतापूर्ण स्तोत्र, न आर्य और द्रविडियों के युद्ध के निर्देशक छद।

श्रीअरविंद की शैली थोडे में बहुतसा कहने की है। उसे बहुत ध्यान से, तन्मय होकर और बार-बार पठन की आवश्यकता है। तभी लाभ उठाया जा सकता है।

वेद रहस्य के द्वितीय खड में Selected Hymns का अनुवाद होगा जिसमें वेद के एक एक देवता का उसका स्वरूप दिखानेवाला चुना हुआ सूक्त दिया गया है। इसका नाम 'देवताओं का स्वरूप' होगा इसमें १३ अध्याय होगें। तीसरे खड का नाम 'अग्निस्तुति' है। इसमे अग्निदेवता के बहुत से सूक्तो का हिन्दी भाष्य होगा।

अत में मैं गुरुकुल कांगडी के वर्तमान वेदोपाध्याय प० रामनाथजी वेदालंकार का आभार मानता हू जिन्होंने अनुवाद के प्रारभिक कठिन कार्य में मुझे निरंतर सहायता पहुचायी है तथा शुजाबाद के श्री मान्य चौधरी प्रतापसिहजी का भी जिन्होंने गतवर्ष के पजाब के उपद्रवों में अति क्षतिग्रस्त होते हुए भी अपनी आर्थिक सहायता प्रदान की जिससे इसका प्रकाशन सुलभ हो गया।

श्रीअरविंद निकेतन — अभय
महरौली (दिल्ली)

प्रथम खण्ड

वेद का प्रतिपाद्य

अध्याय-सूची

इन अध्यायों के कुछ वचन

ये (वेद) न केवल ससार के कुछ सर्वोत्कृष्ट और गभीरतम धर्मों के अपितु उनके कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक दर्शनो के भी सुविख्यात आदिस्रोत के रूप में माने जाते रहे है।

*

'वेद' यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिये माना हुआ नाम है जहातक कि मनुष्य के मन की गति हो सकती है।

*

स्वय ऋग्वेद मानवविचार के उस प्रारभकाल से आया एक बडा भारी विविध उपदेशो का ग्रथ है जिस विचार के ही टूटे-फूटे अवशेष वे ऐतिहासिक एलूसिनियन तथा औफिक रहस्य-वचन थे।

*

और इस (वेद) की भाषा को ऐसे शब्दो और अलकारो में आवृत कर दिया था जो कि एक ही साथ विशिष्ट लोगो के लिये आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियो के समुदाय के लिये एक स्थूल अर्थ प्रकट करती थी।

*

ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वय निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।

*

(वेद) दिव्य वाणी है जो कपन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अन्तःश्रवण में पहुची जिसने पहिले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।

*

अपने गूढ अर्थ में भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थ में, यह (वेद)

कर्मों की पुस्तक है; आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है; यह है आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति जब कि वह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोजकर पा लेता है और उनमें आरोहण करता है जो कि भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य है।

*

यह (वेद) है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती हैं।

*

वैदिक मन्त्र उस ऋषि के लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वयं अपने लिये तथा दूसरों के लिये आध्यात्मिक प्रगति का साधन था। वह उसकी आत्मा में से उठा था...।

*

पूर्णता की प्राप्ति के लिये संघर्ष करनेवाले आर्य के हाथ में वह (वेदमन्त्र) एक शस्त्र का काम देता था।

*

वे (वेद) असभ्य, जंगली और आदिम कारीगरों की कृति नहीं हैं बल्कि वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं।

*

(वेद) जैसे कि अपनी भाषा में और अपने छन्दों में, वैसे ही अपनी विचार-रचना में भी आश्चर्यजनक हैं।

*

(वेद का सायण भाष्य) एक ऐसी चाबी है जिसने वेद के आन्तरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारंभिक कोठरियों को खोलने के लिये अत्यन्त अनिवार्य है....... प्रत्येक पग पर हम उसके साथ मतभेद रखने के लिये बाध्य हैं, पर प्रत्येक पग पर इसका प्रयोग करने के लिये भी बाध्य हैं।

*

वेद की प्राचीन पुस्तक उस (योरोपियन) पांडित्य के हाथ में आयी जो परिश्रमी, विचार में साहसी.....किंतु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियों की प्रणाली को समझने के अयोग्य था।

*

दयानन्द ने ऋषियों के भाषासंबंधी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्म के एक केंद्रभूत विचार (अनेक देव एक परम-देव में आ जाते हैं) पर फिर से बल दिया है।

*

मैंने यह देखा कि वेद के मंत्र, एक स्पष्ट और ठीक प्रकाश के साथ, मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रकाशित करते हैं।

*

इस परिणाम पर पहुंचने में, सौभाग्यवश मैंने जो सायण के भाष्य को पहिले नहीं पढ़ा था, उसने मेरी बहुत मदद की।

*

तब यह धर्मपुस्तक वेद ऐसी प्रतीत होने लग गयी कि यह अत्यंत बहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्ण की एक स्थिर रेखा को अपने अंदर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अंश-अंश में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है।

*

ऋषियों का भाषाप्रयोग शब्द के इस प्राचीन मनोविज्ञान के द्वारा शासित था।

*

देवताओं के नाम, अपने अर्थ में ही, इसका स्मरण कराते हैं कि वे केवल विशेषण हैं, अर्थसूचक नाम हैं, वर्णन हैं, न कि किसी स्वतंत्र व्यक्ति के वाचक नाम।

*

यह सोमरस उस आनंद की मस्ती का, सत्ता के दिव्य आनंद का

प्रतिनिधि है जो कि 'ऋतम्' या सत्य के बीच में से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है।

*

हम यह पायेंगे कि सारा-का-सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत रूप से चक्कर काट रहा है, मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा निःश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अंदर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।

*

ऋषि वामदेव हक्का-बक्का रह जाता, यदि वह यहाँ देख पाता कि उसके यज्ञसंबंधी रूपकों को आज ऐसा अप्रत्याशित उपहास-रूप दिया जा रहा है।

*

वेद और पुराण दोनों एक ही प्रतीकात्मक अलंकारों का प्रयोग करते हैं, समुद्र उनके लिये असीम और शाश्वत सत्ता का प्रतीक है। . . .नदी या बहनेवाली धारा के रूपक को सचेतन सत्ता के प्रवाह का प्रतीकात्मक वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है।

*

वेद की व्याख्या जुदा-जुदा संदर्भों या सूक्तों को लेकर नहीं की जा सकती। यदि इसका कोई संगत और सम्बद्ध अर्थ होना है तो हमें इसकी व्याख्या समग्र रूप में करनी चाहिये।

*

. .तो इन प्राचीन वेदमंत्रों में जो ऊपर से दीखनेवाली असंगतियां, अस्पष्टताएं तथा क्लिष्ट क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती हैं वे सब क्षण भर में लुप्त हो जाती हैं।

*

इस प्रकार उषा का यह उज्ज्वल अलंकार हमें वेदसंबंधी उन सब भौतिक, कर्मकांडिक, अज्ञानमूलक भ्रान्तियों से मुक्त कर देता है जिनमें

कि यदि हम एसे रहते तो वे हमें असगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरो-पर-ठोकरे खिलाती हुई एक से दूसरे अधकूप में ही गिराती रहतीं, यह (उषा) हमारे लिये बद द्वारो को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अदर हमारा प्रवेश करा देती है।

*

यात्रा वह है जो कि प्रकाश और शक्ति और ज्ञान के हमारे बढते हुए धन के द्वारा हमें दिव्य सुख और अमर आनद की अवस्था की ओर ले जाती है।

*

वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है।

*

सचमुच, यदि एक बार हम केद्रभूत विचार को पकड ले और वैदिक ऋषियो की मनोवृत्ति तथा उनके प्रतीकवाद के नियम को समझ ले तो कोई भी असगति और अव्यवस्था शेष नहीं रहती।

*

ये रहस्यमय (वेद के) शब्द है, जिन्होने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अदर रखा हुआ है जो अर्थ पुरोहित, कर्मकाण्डो, वैयाकरण, पडित, ऐतिहासिक तथा गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है।

*

अदिति है वह सत्ता जो अपनी असीमता में रहती है और देवो की माता है।

पहला अध्याय

प्रश्न और उसका हल

वेद में कुछ रहस्य की बात है भी कि नहीं, अथवा क्या अब भी वेद में कुछ रहस्य की बात रह गयी है ?

यह है प्रश्न जिसका उत्तर साधारणतया 'नकार' में दिया जाता है, क्योंकि प्रचलित विचारों के अनुसार तो उस पुरातन गुह्य का—वेद का—हृदय निकालकर बाहर रख दिया गया है और उसे सबके दृष्टिगोचर बना दिया गया है, बल्कि अधिक ठीक यह है कि उसमें वास्तविक रहस्य की कुछ बात कभी कोई थी ही नहीं। वेद के जो सूक्त है, वे एक आदिम और जो जगलीपन से अभीतक नही उठी ऐसी जाति की यज्ञबलिदान-विषयक रचनायें है जो कि धर्मानुष्ठान तथा शान्तिकरण-सबधी रीति रिवाजों की एक परिपाटी की रट में लिखे गये है, प्रकृति की शक्तियों को सजीव देवता मानकर उन्हे सबोधित किये गये है और अधकचरी गाथाओं तथा अभी बन रहे अधूरे नक्षत्रविद्या-सबधी रूपकों की गडबड और अव्यवस्थित सामग्री से भरपूर है। केवल अन्तिम सूक्तों में हम कुछ गभीरतर आध्यात्मिक तथा नैतिक विचारों का प्रथम आविर्भाव देखने को मिलता है—यह भी कइयों की सम्मति में उन विरोधी द्राविड़ियों से लिया गया है, जो "लुटेरे" और "वेदद्वेषी" थे, जिन्हे इन सूक्तों में ही जी-भरकर कोसा गया है—और यह चाहे किसी तरह प्राप्त किया गया हो, आगे आनेवाले वैदान्तिक सिद्धान्तों का प्रथम बीज बना। वेद के सम्बन्ध में यह आधुनिक वाद उस गृहीत हुए विचार के अनुसार है, जो मानता है कि मनुष्य का विकास बिल्कुल हाल की जगली अवस्था से शीघ्रतापूर्वक हुआ है और इस वाद का समर्थन किया गया है, समालोचनात्मक अनुसन्धान की एक रोबदाबवाली साधनसामग्री द्वारा तथा इसे पुष्ट किया गया है अनेक शास्त्रों की साक्षी द्वारा—जो शास्त्र दुर्भाग्यवश अभीतक बाल-अवस्था में है और अभीतक बहुत कुछ जिनके तरीके अटकल

करनेवाले तथा जिनके परिणाम बदलनेवाले है, अर्थात् तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक गाथाशास्त्र तथा तुलनात्मक धर्म का शास्त्र।

'वेदरहस्य' नाम से इन अध्यायों के लिखने का मेरा उद्देश्य यह है कि मैं इस पुरातन प्रश्न के लिये एक नयी दृष्टि का निर्देश करूं। इस प्रश्न के जो अभीतक हल प्राप्त हुए है उनके विरुद्ध एक अभावात्मक और खण्डनात्मक तरीका इस्तेमाल करने का मेरा इरादा नहीं है, मैं तो यहा केवल भावात्मक और रचनात्मक रूप में एक कल्पना उपस्थित करूगा, एक स्थापना (प्रतिज्ञा) करूगा, जो अधिक विस्तृत आधार पर रची गयी है और जो बृहत्तर तथा एक प्रकार से पूरक स्थापना है—इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि यह स्थापना प्राचीन विचार और मन के इतिहास में एक-दो ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी प्रकाश डाल सके, जो प्रश्न अर्वाचीन के सामान्य वादों द्वारा ठीक तरह हल नहीं किये जा सके है।

ऋग्वेद में—योरोपियन विद्वानों के ख्याल में यही सच्चा एकमात्र वेद है—हमें जो यज्ञसम्बन्धी सूक्तों का समुदाय मिलता है वह एक ऐसी अति प्राचीन भाषा में निबद्ध है जो बहुतसी लगभग न हल होने लायक कठिनाइया उपस्थित करती है। यह ऐसे शब्दों और शब्दरूपों से भरा पड़ा है जो कि आगे की भाषा में नहीं पाये जाते और जिन्हें प्राय बौद्धिक अटकल द्वारा कुछ सन्देहयुक्त अर्थ में लेना पड़ता है। ऐसे बहुतसे शब्द भी जो वेद की तरह शुद्ध सस्कृत में भी वैसे ही पाये जाते है वेद म उससे कुछ भिन्न अर्थ रखते प्रतीत होते है या कम-से-कम उससे भिन्न अर्थवाले हो सकते है जो आगे की साहित्यिक सस्कृत मे उनका अर्थ हुआ है। और इसकी शब्दावली का एक बहुत बड़ा भाग, विशेषतया अतिसामान्य शब्द, वे जो कि अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, आश्चर्यजनक रूप से इतने विविध प्रकार के परस्पर असम्बद्ध से अर्थ देनेवाले होते है कि जिनसे, चुनाव की अपनी पसदगी के अनुसार, सपूर्ण मत्र को, सपूर्ण सूक्त को बल्कि सपूर्ण वैदिक अभिप्राय को एक बिल्कुल दूसरी रगत दी जा सकती है। इन वैदिक प्रार्थनाओं के अभिप्राय और अर्थ का निश्चित करने के लिये पिछले कई हजार वर्षों में कम-से-कम तीन गम्भीर प्रयत्न किये जा चुके है। इनमेंसे एक तो—

(१) इतिहासातीत काल से पूर्व का है और यह केवल विच्छिन्न रूप में ब्राह्मणों

और उपनिषदों में मिलता है।

(२) परन्तु भारतीय विद्वान् सायण का परपरागत भाष्य सपूर्ण रूप में उपलब्ध है, तथा–

(३) आज अपने ही समय म आधुनिक योरोपियन विद्वन्मण्डली द्वारा तुलना और अटकल के महान् परिश्रम के उपरान तैयार किया भाष्य भी विद्यमान है।

इन पिछले दोनों (सायण और योरोपियन) भाष्यो में एक विशेषता समान रूप से दिखायी देती है–असाधारण असम्बद्धता और अर्थलाघव। वेद में कहे गये विचार अत्यत असम्बद्ध हैं और उनम कोई अर्थगौरव नहीं है, यह है छाप जो परिणामत इन भाष्यों द्वारा उन प्राचीन सूक्तो (वेद) पर लग जाती है। एक वाक्य को जुदा लेकर उसे, चाहे स्वाभाविकतया अथवा अटकल के जोर पर एक उत्कृष्ट अर्थ दिया जा सकता है या ऐसा अर्थ दिया जा सकता है जो सगत लगे, शब्दविन्यास जो बनता है–चाहे वह चटकीली-भडकीली शैली में है, चाहे फालतू और शोभापरक विशेषणों से भरा है, चाहे तुच्छ मे भाव को असाधारण तौर पर मनमौजी अलकार के या शब्दाडबर के आश्चर्यकर विशाल रूप म बढा दिया गया है–उसे बुद्धिगम्य वाक्यों म रखा जा सकता है, परतु जब हम सूक्तों को इन भाष्यो के अनुसार समूचे रूप म पढकर देखते हैं, तो हमें प्रतीत होता है कि इनके रचयिता ऐसे लोग थे जो कि, अन्य जातियों के ऐसे प्रारभिक रचयिताओं के विसदृश, सगत और स्वाभाविक भावप्रकाशन करने के या सुसबद्ध विचार करने के अयोग्य थे। कुछ छोटे और सरल सूक्तो को छोडकर, इनकी भाषा या तो धुधली है या कृत्रिम है, विचार या तो सबध-रहित हैं या व्याख्या करनेवाले द्वारा जबरदस्ती और ठोक-पीटकर ठीक बनाये गये हैं। ऐसा मालूम देता है कि मूल मत्रो को लेकर बैठे विद्वान् को इस बात के लिये बाधित सा होना पडा है कि उनकी व्याख्या करने के स्थान पर वह लगभग नयी गढन्त करने की प्रक्रिया का स्वीकार करे। हम अनुभव करते हैं कि भाष्यकार वेद के ही अर्थ को उतना प्रकट नही कर रहा है जितना कि वह काबू में न आनवाली इसकी सामग्री को पकडकर उससे कुछ शक्ल बनाने और उसे सगत करने के लिये इसे ठोक-पीट रहा और कुछ बना रहा है।

तो भी इन धुधली और जगली रचनाओं को समस्त साहित्य के इतिहास मे

एक अत्यन्त शानदार उत्तम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये न केवल भारत के कुछ सर्वोत्कृष्ट और गंभीरतम धर्मों के अपितु उसके कुछ सूक्ष्मतम दार्शनिक दर्शनों के भी मूल-स्थान आदिस्रोत के रूप में मानी जाती रही हैं। हजारों वर्षों से चली आयी परम्परा के अनुसार ब्राह्मणों और उपनिषदों में, तन्त्र और पुराणों में, महान् दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में तथा प्रसिद्ध सन्तों-महात्माओं की शिक्षाओं में जो कुछ भी प्रामाणिक और सत्य करके माना जा सकता है, उस सबके आदर्श मान-दण्ड और मूलस्रोत के रूप में ये सदा आदृत की गयी हैं।

इन्होंने जो नाम पाया वह था वेद, अर्थात् ज्ञान—वेद यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिये माना हुआ नाम है जहांतक कि मनुष्य के मन की गति हो सकती है। किन्तु यदि हम प्रचलित भाष्यों को, चाहे सायण के या आधुनिक विद्वानों के, स्वीकार करते हैं तो वेद की यह सर्वोच्च अत्युत्कृष्ट और पवित्र ख्याति एक बड़ी भारी गप्प हो जाती है। तब तो उलटे वेदमन्त्र न इससे अधिक और कुछ नहीं हैं कि वे ऐसे अशिक्षित और भौतिकवादी जंगलियों की अनाड़ी और अन्ध-विश्वास-पूर्ण कल्पनाएं हैं जिन्हें केवल अत्यन्त स्थूल लाभों और भोगों से ही मतलब था और जो अत्यन्त प्रारम्भिक नैतिक विचारों तथा धार्मिक भावनाओं के सिवाय और किसी भी बात से अनभिज्ञ थे। और इन भाष्यों द्वारा वेद के विषय में हमारे मनों पर जो यह अस्पष्ट छाप पड़ती है, उसमें कहीं-कहीं आ जानेवाले कुछ भिन्न प्रकार के उदात्तवाक्यों के कारण, जो कि वेद की अन्य सामान्य भावना के बिल्कुल विसंवादी होते हैं, कुछ भंग नहीं पड़ता। उनके इस विचार के अनुसार आगे आनेवाले धर्मों और दार्शनिक विचारों के सच्चे आधारभूत या उद्गम-स्थानभूत तो उपनिषदें हैं न कि वेद। उपनिषदों के विषय में हमें फिर यह कल्पना करनी पड़ती है कि ये उपनिषदें दार्शनिक और विचारशील प्रवृत्ति रखनेवाले मनस्वी पुरुषों द्वारा वेद के कर्मकाण्डमय भौतिकवाद के विरुद्ध किये गये विद्रोह के परिणाम हैं।

परन्तु इस कल्पना द्वारा, जिसका योरोपीय इतिहास के समानान्तर उदाहरणों द्वारा जो कि भ्रमोत्पादक हैं समर्थन भी किया गया है, वस्तुतः कुछ सिद्ध नहीं होता। ऐसे गंभीर और चरम सीमा तक पहुंचे हुए विचार, ऐसी सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्मविद्या की पद्धति जैसी कि सारतः उपनिषदों में पायी जाती

है, किसी पूर्ववर्ती शून्य मे नहीं निकल आयी है। प्रगति करता हुआ मानव मन एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान तक पहुचता है या किसी ऐसे पूर्ववर्ती ज्ञान को जो कि धुधला पड गया है और ढक गया है, फिर से नया करता है और वृद्धिगत करता है अथवा किन्ही पुराने अधूरे सूत्रो को पकडता और उनके द्वारा नये आविष्कारो को प्राप्त करता है। उपनिषदो के विचार अपनेमे पहले विद्यमान किन्ही महान् उद्भवो की कल्पना करते है और ये उद्भव प्रचलित वादो के अनुसार कोई भी नही मिलते। और इस रिक्त स्थान को भरने के लिये, जो यह कल्पना गढी गयी है कि ये विचार जगली आर्य आक्रान्ताओं ने सभ्य द्राविड लोगों से लिये थे, एक ऐसी अटकल है जो केवल दूसरी अटकलो द्वारा ही सपुष्ट की गयी है। सचमुच यह अब शकास्पद हो चुका है कि पन्जाब द्वारा आर्यों के आक्रमण करने की कहानी कही भाषाविज्ञानियो की गढन्त तो नही है। अस्तु।

प्राचीन योरप मे जो बौद्धिक दर्शनो के सम्प्रदाय हुए थे, उनसे पहले रहस्य-वादियो के गुह्यसिद्धान्तो का एक समय रहा था, ऑर्फिक (Orphic) और एलूसिनियन (Eleusinian) रहस्यविद्या ने उस उपजाऊ मानसिक क्षेत्र को तैयार किया था जिसमेंसे पिथागोरस और प्लैटो की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार का उद्गमस्थान भारत मे भी आगे के विचारो की प्रगति के लिये रहा हो, यह बहुत सभवनीय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नही कि उपनिषदो में हम जो विचारों के रूप और प्रतीक पाते है उसका बहुत भाग तथा ब्राह्मणों की विषय-सामग्री का बहुतसा भाग भारत मे एक ऐसे काल की कल्पना करता है जिस समय मे विचारो ने इस प्रकार की गुह्य शिक्षाओं का रूप या आवरण धारण किया था जैसी कि ग्रीक रहस्यविद्याओ की शिक्षायें थी।

दूसरा रिक्त स्थान जो अभीतक माने गये वादो द्वारा भरा नही जा सका है, वह वह खाई है जो कि एक तरफ वेद मे पायी जाती बाह्य प्राकृतिक शक्तियो की जड-पूजा को और दूसरी तरफ ग्रीक लोगो के विकसित धर्म को तथा उपनिषदो और पुराणों में जिन्हें हम पाते है ऐसे देवताओ के कार्यों के साथ सम्बन्धित किये गये मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विचारो को विभक्त करती है। क्षण भर के लिये यहा हम इस मत को भी स्वीकार किये लेते है कि मानवधर्म का सबसे

प्रारम्भिक पूर्णतया बुद्धिगम्य रूप अवश्य ही—क्योंकि पार्थिव मनुष्य बाह्य से प्रारम्भ करता है और आन्तर की तरफ जाता है—प्रकृति-शक्तियों की पूजा ही होता है, जिसमें वह इन शक्तियों को वैसी ही चेतना और व्यक्तित्व से युक्त मानता है जैसी यह अपनी निजी सत्ता में देखता है।

यह तो मान ही रखा है कि वेद का अग्नि देवता आग है, सूर्य देवता सूर्य है, पर्जन्य बरसनेवाला मेघ है, उषा प्रभात है, और यदि किन्हीं अन्य देवताओं का भौतिक रूप या कार्य इतना अधिक स्पष्ट नहीं है, तो यह आसान काम है कि उस अस्पष्टता को भाषाविज्ञान की अटकल या कुशल कल्पना द्वारा दूर कर उसे स्पष्ट भौतिक अर्थ में ठीक कर लिया जाय। पर जब हम ग्रीक लोगों की देव-पूजा पर आते हैं, जो कि आधुनिक कालगणना के विचारों के अनुसार वेद के काल से अधिक पीछे की नहीं है, तो हम महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पाते हैं। देवताओं के भौतिक गुण बिल्कुल मिट गये हैं या वे उनके आध्यात्मिक रूपों के उपसर्जनीभूत हो गये हैं। तीक्ष्णस्वभाव अग्नि (आग) का देवता बदलकर लगड़ा श्रम का देवता हो गया है। अपोलो (Apollo) सूर्य देवता, कविता और भविष्य-वाणीसम्बन्धी अन्तःस्फुरणा का अधिष्ठातृ-देवता हो गया है। एथिनी (Athene) जिसे प्रारम्भिक अवस्था में हम सम्भवतः उषादेवी करके पहचान सकते हैं, अब अपने भौतिक व्यापारों की सब याद भूल गयी है और बुद्धिशालिनी, बलधारिणी शुद्ध ज्ञान की देवी हो गयी है। इसी तरह अन्य देवताएं भी हैं, जैसे युद्ध की, प्रेम की, सौन्दर्य की देवताएं जिनके कि भौतिक व्यापार दिखायी नहीं देते हैं, यदि वे कभी थे भी। इसके स्पष्टीकरण में इतना कह देना पर्याप्त नहीं है कि ऐसा परिवर्तन मानव-सभ्यता की प्रगति के साथसाथ होना अवश्य-म्भावी ही था, इस परिवर्तन की प्रक्रिया भी खोज और स्पष्टीकरण चाहती है।

हम देखते हैं कि इस प्रकार की क्रान्ति पुराणों में भी हुई जो कि कुछ तो कुछ पुरानों की जगह नये नामों और रूपोंवाले अन्य देवताओं के आ जाने से, पर कुछ इसी प्रकार की अविज्ञात प्रक्रिया द्वारा हुई जिस प्रक्रिया को हम ग्रीक देवता-ख्यान के विकास में देखते हैं। नदी सरस्वती म्यूज (Muse) और विद्या की देवी बन गयी है, वेद के विष्णु और रुद्र अब सर्वोच्च देवताएं, देवतात्रयी में से दो

अर्थात् क्रमश जगत् की सरक्षिका और विनाशिका प्रक्रिया की द्योतक बन गयी है। ईशोपनिषद् मे हम देखते है कि वहा सूर्य से एक ऐसे स्वयप्रकाश दिव्य-ज्ञान के देवता के रूप मे प्रार्थना की गयी है जिसके कि कार्य द्वारा हम सर्वोत्कृष्ट सत्य को पा सकते है। और सूर्य का यही व्यापार गायत्री नाम से प्रसिद्ध उस पवित्र वैदिक मन्त्र मे है जिसका कि जप न जाने कितने सहस्रो वर्षो से प्रत्येक ब्राह्मण अपने दैनिक सन्ध्यानुष्ठान मे करता आया है, और यहा यह भी ध्यान देने लायक है कि यह मन्त्र ऋग्वेद का, ऋग्वेद मे ऋषि विश्वामित्र के एक सूक्त का है। इसी उपनिषद् मे अग्नि से विशुद्ध नैतिक कार्यो के लिये प्रार्थना की गयी है, उसे पापो से पवित्र करनेवाला एव दिव्य आनद के प्रति सुपथ द्वारा आत्मा का नेता माना गया है और यहा अग्नि सकल्प की शक्ति के साथ एकात्मता रखने-वाला तथा मानवकर्मो के लिये उत्तरदाता प्रतीत होता है। अन्य उपनिषदो मे यह स्पष्ट है कि देवताए मानवदेह में होनेवाले ऐन्द्रियिक व्यापारो के प्रतीक है। सोम, जो कि वैदिक यज्ञ के लिये सोमरस (मदिरा) देनेवाला पौधा (वल्ली) था, वह न केवल चन्द्रमा का देवता हो गया है अपितु मनुष्य मे वह अपनेको मन के रूप में अभिव्यक्त करता है।

शब्दो के इस प्रकार के विकास कुछ काल की अपेक्षा करते है, जो काल वेदो के बाद और पुराणो से पहले बीता है, जिससे पहले भौतिक पूजा या सर्वदेवता-वादी चेतनावाद था, जिससे कि वेद का सम्बन्ध जोडा जाता है और जिसके बाद वह विकसित पौराणिक देवगाथाशास्त्र हुआ जिसमें देवता और अधिक गम्भीर मनोवैज्ञानिक व्यापारोवाले हो गये। और यह बीच का समय, बहुत सम्भव है, एक रहस्यवाद का युग रहा हो। नही तो जो कुछ अबतक माना जाता है, उसके अनुसार या तो बीच मे यह रिक्त स्थान छूटा रहता है या फिर यह रिक्त स्थान हमने बना लिया है इस कारण बना लिया है क्योकि हम वैदिक ऋषियो के धर्म के विषय मे अनन्य रूप से एकमात्र प्रकृतिवादी तत्त्व के साथ आबद्ध हो गये है।

मेरा निर्देश यह है कि यह रिक्त स्थान हमारा अपना बनाया हुआ है और असल मे उस प्राचीन, पवित्र साहित्य मे ऐसे किसी रिक्त स्थान की सत्ता है नही। मै

जो मत प्रस्तुत करता हूं वह यह है कि स्वयं ऋग्वेद मानवविचार के उस प्रारम्भ-काल से आया एक बड़ा भारी विविध उपदेशों का ग्रन्थ है, जिस विचार के ही टूटे-फूटे अवशेष वे ऐतिहासिक एल्यूसिनियन तथा ऑर्फिक रहस्य-वचन थे और वह वह काल था जब कि जाति का आध्यात्मिक और सूक्ष्म मानसिक ज्ञान, किन्ही कारणों से इसका निश्चय करना अब कठिन है, एक ऐसे स्थूल और भौतिक अल-कारों तथा प्रतीकचिह्नों के पर्दे से ढका हुआ था जिसके कारण उसका तत्त्व अन-धिकारी पुरुषों से सुरक्षित रहता तथा दीक्षितों को प्रकट हो जाता था।

आत्मज्ञान की तथा देवताओं विषयक सत्यज्ञान की गुप्तता एवं पवित्रता रखना, यह रहस्यवादियों के प्रमुख सिद्धान्तों में से एक था। उनका विचार था कि ऐसा ज्ञान साधारण मानवमन को दिये जाने के अयोग्य, बल्कि शायद खतरनाक था, हर हालत में यह ज्ञान यदि लौकिक और अपवित्रीभूत आत्माओं को प्रकट किया जाय तो इसके विकृत हो जाने और दुरुपयुक्त होने तथा विगुण हो जाने का भय तो था ही। इसलिये उन्होंने एक बाह्य पूजाविधि का रखना पसंद किया था, जो प्राकृत जनों के लिये उपयोगी पर अपूर्ण थी और दीक्षितों के लिये एक आन्तरिक अनुशासन का काम देती थी और इसकी भाषा को ऐसे शब्दों और अलंकारों से आवृत कर दिया था जो कि एक ही साथ विशिष्ट लोगों के लिये आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियों के समुदाय के लिये एक स्थूल अर्थ प्रकट करती थी। वैदिक सूक्त इसी सिद्धान्त को विचार में रखकर रचे गये थे। वैदिक कण्डिकाएं और विधि-विधान ऊपर से तो सर्वेश्वरवाद की प्रकृतिपूजा (जो उस समय का सामान्य धर्म था) के लिये आयोजित किये गये एक बाह्य कर्मकाण्ड के विस्तृत आचार थे, पर गुप्त तौर से ये पवित्र वचन थे, आध्यात्मिक अनुभूति और ज्ञान के प्रभावोत्पादक प्रतीकचिह्न थे और आत्म-साधना के आन्तरिक नियम थे (जो कि उस समय मानवजाति की सर्वोच्च उप-लब्ध वस्तुएं थी)।

सायण द्वारा अभिमत कर्मकाण्डप्रणाली अपने बाह्य रूप में बेशक रहे, योरो-पियन विद्वानों द्वारा प्रकट किया गया प्रकृतिपरक आशय भी सामान्य रूप में माना जा सकता है, पर फिर भी इनके पीछे सदा ही एक सच्चा और अभीतक भी छिपा

हुआ वेद का रहस्य है, ये वे रहस्यमय वचन, 'निण्या वचांसि'[1] हैं, जो कि आत्मा में पवित्र और ज्ञान में जागे हुए पुरुषों के लिये कहे गये थे। तो वेद के इस कम प्रकट किन्तु अधिक आवश्यक गुह्यतत्त्व का वैदिक शब्दों के आशयों, वैदिक प्रतीकचिह्नों के अभिप्रायों और देवताओं के अध्यात्मव्यापारों के निश्चित करने द्वारा आविष्करण कर देना एक बड़ा कठिन किन्तु अति आवश्यक कार्य है। यह लेखमाला तथा इसके साथ में दी गयी वैदिक सूक्तों की व्याख्यायें[2] इस (कठिन और आवश्यक) कार्य की केवल तैयारी के रूप में ही है।

वेद के विषय में मेरी यह स्थापना यदि प्रामाणिक सिद्ध होती है तो इससे तीन लाभ होंगे। इससे जहां उपनिषदों के वे भाग जो अभीतक अविज्ञात पड़े हैं या जो ठीक तरह समझे नहीं गये हैं, खुल जायेंगे वहां पुराणों के बहुत कुछ मूलस्रोत भी आसानी से और सफलतापूर्वक खुल जायेंगे। दूसरे, इससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय परम्परा युक्तिपूर्वक स्पष्ट हो जायगी और सत्य प्रमाणित हो जायगी, क्योंकि इससे यह सिद्ध हो जायगा कि गम्भीर सत्य के अनुसार वेदान्त, पुराण, तन्त्र, दार्शनिक सम्प्रदाय, सब महान् भारतीय धर्म अपने मौलिक प्रारम्भ में वस्तुतः वैदिक स्रोत तक जा पहुंचते हैं। आगे आये भारतीय विचार के सब आधारभूत सिद्धान्तों को तब उनके मूल बीज में या उनके प्रारम्भिक बल्कि आदिम रूप में हम वेद में देख सकेंगे। इस तरह भारतीय क्षेत्र में तुलनात्मक धर्म का अधिक ठीक अध्ययन कर सकने के लिये एक स्वाभाविक प्रारम्भबिन्दु उपलब्ध हो जायगा। इसके स्थान पर कि हम असुरक्षित कल्पनाओं में भटकते रहें अथवा असंभावित विपर्ययों के लिये और जिनका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता ऐसे संक्रमणों के लिये उत्तरदायी बनें, हमें एक ऐसे स्वाभाविक और क्रमिक विकास का संकेत मिल जायगा जो सर्वथा बुद्धि को सन्तोष देनेवाला होगा। इस-से संयोगप्राप्त, अन्य प्राचीन जातियों की प्रारम्भिक गाथाओं और देवताख्यानों में जो कुछ अस्पष्टताएं हैं, उनपर भी प्रकाश पड़ सकता है। और अन्त में, तीसरे,

---

[1]ऋग्वेद ४-३-१६। इसका अर्थ है 'गुह्य या गुप्त वचन'।

[2]ये व्याख्यायें वेद-रहस्य के द्वितीय भाग में प्रकाशित की जावेंगी।

इससे मूल वेद में जो असंगतियां दीखती हैं उनका एकदम स्पष्टीकरण हो जायगा और वे जाती रहेंगी। ये असंगतियां ऊपर-ऊपर ही दीखती हैं, क्योंकि वैदिक अभिप्राय का असली सूत्र तो इसके आन्तरिक अर्थों में ही पाया जा सकता है। यह सूत्र ज्योंही मिल गया त्योंही वैदिक सूक्त बिल्कुल सुसंगत और सर्वांगपूर्ण लगने लगते हैं, इनकी भावप्रकाशनशैली—यद्यपि हमारे आधुनिक विचारने और बोलने के तरीके की दृष्टि से चाहे कुछ विचित्र ढंग की लगे—अपने ढंग से ठीक-ठीक और यथोचित हो जाती है। इसे शब्दावली के अतिरेक की अपेक्षा शब्दसंकोच की तथा अर्थलाघव की जगह अर्थगाम्भीर्य के अतिरेक की ही दोषिणी माना जा सकता है। वेद नव जंगलीपन के केवल एक मनोरंजक अवशेष के रूप में नहीं दीखते, बल्कि जगत् की प्रारम्भिक धर्मपुस्तकों में से सर्वश्रेष्ठों की गिनती में जा पहुंचते हैं।

दूसरा अध्याय

वैदिकवाद का सिंहावलोकन (क)

वैदिक साहित्य

तो वेद एक ऐसे युग की रचना है जो हमारे बौद्धिक दर्शनो से प्राचीन था। उस प्रारम्भिक युग मे विचार हमारे तर्कशास्त्र की युक्तिप्रणाली की अपेक्षा भिन्न प्रणालियो से आरम्भ होना था और भाषा की अभिव्यक्ति के प्रकार ऐसे होते थे जो हमारी वर्तमान आदतो में बिल्कुल अनुपादेय ठहरते। उस समय बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य अपने सामान्य व्यावहारिक बोधो तथा दैनिक क्रियाकलापों से परे के बाकी सब ज्ञान के लिये आभ्यन्तर अनुभूति पर और अन्तर्ज्ञानयुक्त मन की सूझों पर निर्भर करता था। उनका लक्ष्य था ज्ञानालोक, न कि तर्क-सम्मत निर्णय, उनका आदर्श था अन्त प्रेरित द्रष्टा, न कि यथार्थ तार्किक। भारतीय परम्परा ने वेदो के उद्भव के इस तत्त्व को बडी सच्चाई के साथ सभाल कर रखा हुआ है। ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वय निर्माता नही था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का। वेद की भाषा स्वय 'श्रुति' है, एक छन्द है जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नही हुआ बल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ, एक दिव्य वाणी है जो कपन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अत श्रवण मे पहुची जिसने पहले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, ये शब्द स्वय वैदिक मुहावरे है, ये और इसके सजातीय शब्द, मत्रो के गूढ परिभाषाशास्त्र के अनुसार, स्वत प्रकाश ज्ञान को और दिव्य अन्त श्रवण के विषयो को बताते है।

स्वत प्रकाश ज्ञान (इल्हाम या ईश्वरीय ज्ञान) की वैदिक कल्पना मे किसी चमत्कार या अलौकिकता का निर्देश नही मिलता। जिस ऋषि ने इन शक्तियो का उपयोग किया, उसने एक उत्तरोत्तर वृद्धिशील आत्मसाधना के द्वारा इन्हे पाया था। ज्ञान स्वय एक यात्रा और लक्ष्यप्राप्ति थी, एक अन्वेषण और एक

विजय थी, स्वयं प्रकाश की अवस्था केवल अन्त में आयी, यह प्रकाश एक अन्तिम विजय का पुरस्कार था। वेद में यात्रा का यह अलंकार, सत्य के पथ पर आत्मा का प्रयाण, सतत रूप से मिलता है। उस पथ पर जैसे वह अग्रसर होता है, वैसे ही आरोहण भी करता है, शक्ति और प्रकाश के नवीन क्षेत्र इसकी अभीप्साओं के लिये खुल जाते हैं, वह एक वीरतामय प्रयत्न के द्वारा अपने विस्तृत हुए आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को जीत लेता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद को यह समझा जा सकता है कि यह उस महान् उत्कर्ष का एक लेखा है जिसे मानवीयता ने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल में विशेष उपायों के द्वारा प्राप्त किया था। अपने गुह्य अर्थ में भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थ में, यह कर्मों की पुस्तक है, आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है, यह है आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति जब कि यह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोजकर पा लेता है और उनमें आरोहण करता है जो कि भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य के दुष्प्राप्य हैं, यह है मनुष्य की तरफ से उस दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती है। इसलिये इस बात से यह बहुत दूर है कि यह कोई ऐसा प्रयास हो जिसमें कि बौद्धिक या कल्पनात्मक विचारों के परिणाम प्रतिपादित किये गये हों, न ही यह किसी आदिम धर्म के विधि नियमों को बतलानेवाली पुस्तक है। केवल अनुभव की एकरूपता में से, प्राप्त हुए ज्ञान की नैर्व्यक्तिकता में से विचारों का एक नियत समुदाय निरन्तर दोहराया जाता हुआ उद्गत होता है और एक नियत प्रतीकमय भाषा उद्गत होती है, जो सम्भवत उस आदिम मानवीय बोली में इन विचारों का अनिवार्य रूप थी। क्योंकि यही सिर्फ अपनी मूर्तरूपता के और अपनी रहस्यमय सकेत की शक्ति के—इन दोनोके—एकत्रित होने के द्वारा इस योग्य थी कि इसे अभिव्यक्त कर सके, जिसका व्यक्त करना जाति के साधारण मन के लिये अशक्य था। चाहे कुछ भी हो हम एक ही विचारों को सूक्त-सूक्त में दुहराया हुआ पाते हैं, एक ही नियत परिभाषाओं और अलकारों के साथ और बहुधा एक से ही वाक्यांशों में और किसी कवितात्मक मौलिकता की खोज के प्रति या विचारों की अपूर्वता और भाषा की नवीनता की माग के प्रति बिल्कुल उदासीनता के साथ।

सौंदर्यमय सौष्ठव, आडम्बर या लालित्य का किसी प्रकार का भी अनुसरण इन रहस्यवादी कवियों को इसके लिये नहीं उकसाता कि वे उन पवित्र प्रतिष्ठापित रूपों को बदल दें जो कि उनके लिये, ज्ञान के सनातन सूत्रों को दीक्षिता की सतत परंपरा म पहुचाने जानेवाले, एक प्रकार के दिव्य बीजगणित से बन गये थे।

वैदिक मंत्र वस्तुत ही एक पूर्ण छंदोबद्ध रूप रखते है, उनकी पद्धति म एक सतत सूक्ष्मता और चातुर्य है, उनकी शैली की तथा काव्यमय व्यक्तित्व की महान् विभिन्नताए है, वे असभ्य जगली और आदिम कारीगरो की कृति नहीं है बल्कि वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव नि श्वास है, जो कला अपनी रचनाओ को एक आत्मदर्शिनी अन प्रेरणा की सबल किंतु सुनियन्त्रित गति म उत्पन्न करती है। फिर भी ये सब उच्च उपहार जानबूझकर एक ही अपरिवर्तनीय ढाचे के बीच म और सर्वदा एक ही प्रकार की सामग्री से रचे गये है। क्योकि व्यक्त करने की कला ऋषियो के लिये केवल एक साधनमात्र थी न कि लक्ष्यभूत, उनका मुख्य प्रयोजन अविरत रूप से व्यावहारिक था, बल्कि उपयोगिता के उच्चतम अर्थ में लगभग उपयोगितावादी था।

वैदिक मंत्र उस ऋषि के लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वय अपने लिये तथा दूसरोंके लिये आध्यात्मिक प्रगति का साधन था। यह उसकी आत्मा में से उठा था, यह उसके मन की एक शक्ति बन गया था, यह उसके जीवन के आतरिक इतिहास में कुछ महत्त्वपूर्ण क्षणो में अथवा सकट तक के क्षण में उसकी आत्माभिव्यक्ति का माध्यम था। यह उसे अपने अदर देव को अभिव्यक्त करने मे, भक्षक को, पाप के अभिव्यजक को विनष्ट करने में सहायक था, पूर्णता की प्राप्ति के लिये सघर्ष करनेवाले आर्य के हाथ म यह एक शस्त्र का काम देता था, इन्द्र के वज्र के समान यह आध्यात्मिक मार्ग में आनेवाले प्रवणभूमि के आच्छादक पर, रास्ते के भेडिये पर, नदी किनारे के लुटेरो पर चमकता था।

वैदिक विचार की अपरिवर्तनीय नियमितता को जब हम इसकी गभीरता, समृद्धता और सूक्ष्मता के साथ लेते है तो कुछ रोचक विचार इससे निकलते है। क्योकि हम युक्तियुक्त रूप से यह तर्क कर सकते है कि एक ऐसा नियत रूप और विषय उस काल म आसानी से सभव नही हो सकता था जो कि विचार तथा आध्या-

हिमन अनुभव का आदिकाल था, अथवा उस काल में भी जब कि उनका प्रारभिक उत्कर्ष और विस्तार हो रहा था। इसलिये हम यह अनुमान कर सकते हैं कि हमारी वास्तविक सहिता एक युग की समाप्ति को सूचित करती है, न कि इसके प्रारभ को और न ही इसकी प्रमिक अवस्थाओ म से किसी काल को। यह भी सभव है कि इसके प्राचीनतम सूक्त उनसे भी अधिक प्राचीन* गीतिमय छदो के अपेक्षाकृत नवीन विकसित रूप हो अथवा पाठातर हो जो और भी पहले की मानवीय भाषा के अधिक स्वच्छद तथा सुनम्य रूपों म ग्रथित थे। अथवा यह भी हो सकता है कि इसकी प्रार्थनाओ का सपूर्ण विशाल समुदाय आर्यों के अधिक विविधतया समृद्ध भूतकालीन वाङ्मय म से वेदव्यास के द्वारा किया गया केवल एक सग्रह हो। प्रचलित विश्वास के अनुसार जो द्वैपायन कृष्ण है, उस महान् परपरागत मुनि, महान् सग्रहीता (व्यास) के द्वारा आयस-युग के आरभ की ओर, बढती हुई सध्या की तथा उत्तरवर्ती अधकार की शताब्दियो की ओर, मुह मोडकर बनाया हुआ यह सग्रह शायद दिव्य अतर्ज्ञान के युग की, पूर्वजो की ज्योतिर्मयी उषाओं की केवल अतिम ही वसीयत है जो अपने वशजो को दी गयी है, उस मानवजाति को दी गयी है जो पहले से ही आत्मा में निम्नतर स्तरो की ओर तथा भौतिक जीवन की, बुद्धि और तर्कशास्त्र की युक्तियो की अधिक सुगम और सुरक्षित प्राप्तियो—सुरक्षित शायद केवल प्रतीति में ही—की ओर मुख मोड रही थी।

परतु ये केवल कल्पनाए और अनुमान ही है। निश्चित तो इतना ही है कि मानव चक्र के नियम के अनुसार जो यह माना जाता है कि वेद उत्तरोत्तर अधकार में आते गये और उनका विलोप होता गया, यह बाह्य घटनाओ से पूरी तौर पर प्रमाणित होती है। यह वेदो का अधकार में आना पहले से ही प्रारभ हो चुका था, उससे बहुत पहले जब कि भारतीय आध्यात्मिकता का अगला महान् युग, वैदातिक युग, आरभ हुआ, जिसने कि इस पुरातन ज्ञान को सुरक्षित या पुनरुज्जीवित करने के लिये,

---

*वेद म स्वय सतत रूप से 'प्राचीन" और "नवीन" ऋषियों (पूर्व . . . नूतन) का वर्णन आया है, इनमेंसे प्राचीन इतने अधिक पर्याप्त दूर है कि उन्हे एक प्रकार के अर्ध-देवता, ज्ञान के प्रथम सस्थापक समझना चाहिये।

जितना कि वह उस समय कर सकता था, संघर्ष किया। और तब कुछ और हो सकना प्राय असभव ही था। क्योकि वैदिक रहस्यवादियो का सिद्धात अनुभूतियो पर आश्रित था, जो अनुभूतिया कि साधारण मनुष्य के लिये बडी कठिन होती है और वे उन्हे उन शक्तियो की सहायता से होती थी, जो शक्तिया हममेंसे बहुतो के अदर केवल प्रारभिक अवस्था में होती है और अभी अधूरी विकसित है और ये शक्तिया यदि कभी हमारे अदर सक्रिय होती भी है तो मिले-जुले रूप में ही और अतएव ये अपने व्यापार में अनियमित होती है। एव एक बार जब सत्य के अन्वेषण की प्रथम तीव्रता समाप्त हो चुकी, तो उसके बाद थकावट और शिथिलता का काल बीच मे आना अनिवार्य था, जिस काल में कि पुरातन सत्य आशिक रूप मे लुप्त हो जाने ही थे। और एक बार लुप्त हो जाने पर फिर वे प्राचीन सूक्तो के आशय की छानबीन किये जाने के द्वारा आसानी से पुनरुज्जीवित नहीं किये जा सकते थे, क्योकि वे सूक्त ऐसी भाषा मे ग्रथित थे जो कि जानबूझकर सदिग्धार्थक रखी गयी थी।

एक भाषा जो हमारी समझ के बाहर है, वह भी ठीक-ठीक समझ मे आ सकती है यदि एक बार उसका मूलसूत्र पता लग जाय, पर एक भाषा जो जानबूझकर सदिग्धार्थक रखी गयी है, अपने रहस्य को अपेक्षाकृत अधिक दृढता और सफलता के साथ छिपाये रख सकती है, क्योकि यह उन प्रलोभनो और निर्देशो से भरी रहती है जो भटका देते है। इसलिये जब भारतीय मन फिर से वेद के आशय के अनुसधान की ओर मुडा तो यह कार्य दुस्तर था और इसमे जो कुछ सफलता मिली वह केवल आशिक थी। प्रकाश का एक स्रोत अब भी विद्यमान था, वह परपरागत ज्ञान जो उनके हाथ में था जिन्होंने मूलवेद को कण्ठस्थ किया हुआ था और उसकी व्याख्या करते थे, अथवा जिनके जिम्मे वैदिक कर्मकाण्ड था—ये दोनो कार्य प्रारभ में एक ही थे, क्योकि पुराने दिनों में जो पुरोहित होता था वही शिक्षक और द्रष्टा भी होता था। परतु इस प्रकाश की स्पष्टता पहले से ही धुधली हो चुकी थी। बडी ख्याति पाये हुए पुरोहित भी जिन शब्दों का वे बार-बार पाठ करते थे, उन पवित्र शब्दो की शक्ति और उनके अर्थ का बहुत ही अधूरा ज्ञान रखते हुए याज्ञिक क्रियाए करते थे। क्योकि वैदिक पूजा के भौतिक रूप बढकर

आनन्ति ज्ञान के ऊपर एक मोटी तह के रूप में चढ गये थे और वे उसीका गला घोट रहे थे जिसकी किसी समय वे रक्षा करने का काम करते थे। वेद पहले ही गाथाओं और यज्ञविधियों का एक समुदाय बन चुका था। इसकी शक्ति प्रतीकात्मक विधियों के पीछे से ओझल होने लग गयी थी, रहस्यमय अलकारों में जो प्रकाश था वह उनमें पृथक् हो चुका था और केवल एक प्रत्यक्ष असबद्धता और कलारहित मरल्ना का ऊपरी स्तर ही अवशिष्ट रह गया था।

ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें लेखचिह्न हैं उस एक जबरदस्त पुनरुज्जीवन के जो मूलवेद तथा कर्मकाण्ड को आधार रखकर प्रारभ हुआ और जो आध्यात्मिक विचार तथा अनुभव को एक नवीन रूप में लेखबद्ध करने के लिये था। इस पुनरुज्जीवन के ये दो परस्परपूरक रूप थे, एक था कर्मकाण्डसबन्धी विधियों की रक्षा और दूसरा वेद की आत्मा का पुन प्रकाश—पहले के द्योतक है ब्राह्मणग्रन्थ[1], दूसरे की उपनिषदें।

ब्राह्मणग्रन्थ प्रयत्न करते है वैदिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विधियों का, उनकी भौतिक फलोत्पादकता की शर्तों को, उनके विविध अगो, क्रियाओ व उपकरणो के प्रतीकात्मक अर्थ और प्रयोजन को, यज्ञ के लिये जो महत्त्वपूर्ण मूल मत्र है उनके तात्पर्य को, धुधले सकेतो के आशय को तथा पुरातन गाथाओ और परिपाटियो की स्मृति को नियत करने और सुरक्षित करने का। उनमें आनेवाले कथानकों में से बहुत से तो स्पष्ट ही मत्रों की अपेक्षा उत्तरकाल के है, जिनका आविष्कार उन सदर्भों का स्पष्टीकरण करने के लिये किया गया है जो कि अब समझ म नही आते थे, दूसरे कथानक सभवत मूलगाथा और अलकार की उस सामग्री के अग है जो प्राचीन प्रतीकवादियो के द्वारा प्रयुक्त की गयी थी, अथवा उन वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थितियों की स्मृतिया है जिनके कि बीच मे सूक्तो का निर्माण हुआ था।

---

[1]निश्चय ही, ये तथा इस अध्याय में किये गये दूसरे विवेचन कुछ मुख्य प्रवृत्तियो के सारभूत और सक्षिप्त आलोचन ही है। उदाहरणत ब्राह्मणग्रन्थो म दार्शनिक सदर्भ भी हम पाते है।

मौखिक रूप से चली आ रही परंपरा सदा एक ऐसा प्रकाश होता है जो वस्तु को धुंधला दिखाता है, जब एक नया प्रतीकवाद जो उस प्राचीन प्रतीकवाद पर कार्य करता है, जो कि आधा लुप्त हो चुका है, तो संभवत वह उसके ऊपर उगकर उसे अधिक आच्छादित ही कर देता है, अपेक्षा इसके कि वह उसे प्रकाश मे लाये। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थ यद्यपि बहुत से मनोरजक सवेनो से भरे हुए है, फिर भी हमारे अनुसधान में वे हमें बहुत ही थोडी सहायता पहुचाते है, न ही वे पृथक् मूलमत्रो के अर्थ के लिये एक सुरक्षित पथप्रदर्शक होते है जब कि वे मत्रो की एक यथातथ और शाब्दिक व्याख्या करने का प्रयत्न करते है।

उपनिषदो के ऋषियो ने एक दूसरी प्रणाली का अनुसरण किया। उन्होंने विलुप्त हुए या क्षीण होते हुए ज्ञान को ध्यान-समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया और उन्होंने प्राचीन मत्रो के मूलग्रन्थ (मूलवेद) को अपने निजी अन्तर्ज्ञान तथा अनुभवो के लिये आधार या प्रमाणरूप मे प्रयुक्त किया, अथवा यू कहे कि वेदवचन उनके विचार और दर्शन के लिये एक बीज था, जिससे कि उन्होंने पुरातन सत्यो को नवीन रूपों में पुनरुज्जीवित किया। जो कुछ उन्होने पाया, उसे उन्होने ऐसी दूसरी परिभाषाओं म व्यक्त कर दिया जो उस युग के लिये जिसमें कि वे रहते थे अपेक्षाकृत अधिक समझ में आने योग्य थी। एक अर्थ में उनका वेदमत्रो को हाथ में लेना बिलकुल नि स्वार्थ नही था, इसमें विद्वान् ऋषि की वह सतर्क सूक्ष्मदर्शिनी इच्छा नियन्त्रण नही कर रही थी जिससे कि वे अवश्य शब्दो के यथार्थ भाव तक और अपने वास्तविक रूप में वाक्यो के ठीक-ठीक विचार तक पहुचे। वे शाब्दिक सत्य की अपेक्षा एक उच्चतर सत्य के अन्वेषक थे और शब्दो का प्रयोग केवल उस प्रकाश के सकेतक रूप में करते थे जिसकी ओर कि वे जाने का प्रयत्न कर रहे थे। वे शब्दो के उनकी व्युत्पत्ति से बने अर्थों को या तो जानते ही नही थे या उसकी उपेक्षा कर देते थे और बहुधा वे शब्दो की घटक अक्षरध्वनियो को लेकर प्रतीकात्मक व्याख्या करने की सरणि का ही प्रयोग करते थे, जिसमें कि उन्हे समझना बडा कठिन पड जाता है।

इस कारण से, उपनिषदें जहा अमूल्य वस्तु है, उस प्रकाश के लिये जो कि वे प्रधान विचारो पर तथा प्राचीन ऋषियो की आध्यात्मिक पद्धति पर डालती है,

यहां वे जिन वेदमंत्रों को उद्धृत करती हैं उनके यथार्थ आशय को निश्चय करने में हमारे लिये उतनी ही कम सहायक हैं जितने कि ब्राह्मण-ग्रन्थ। उनका असली कार्य वेदान्त की स्थापना करना था, न कि वेद की व्याख्या करना।

इस महान् आन्दोलन का फल हुआ, विचार और आध्यात्मिकता की एक नवीन तथा अपेक्षाकृत अधिक स्थिर शक्तिशाली स्थापना, वेद की वेदान्त में परिसमाप्ति। और इसके अन्दर दो ऐसी प्रबल प्रवृत्तियां विद्यमान थीं जिन्होंने पुरातन वैदिक विचार तथा संस्कृति की संहति को भंग करने की दिशा में कार्य किया। प्रथम यह कि इसकी प्रवृत्ति बाह्यकर्मकाण्ड को अधिकाधिक गौण करने की, मंत्र और यज्ञ की भौतिक उपयोगिता को कम करके उसके स्थान पर अधिक विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक लक्ष्य और अभिप्राय को देने की थी। प्राचीन रहस्यवादियों ने बाह्य और आभ्यन्तर, भौतिक और आत्मिक जीवन में जो संतुलन, जो समन्वय कर रखा था, उसे स्थानच्युत और अस्तव्यस्त कर दिया गया। एक नवीन संतुलन, एक नवीन समन्वय स्थापित किया गया जो कि अन्ततोगत्वा संन्यास और त्याग की ओर झुक गया और उसने अपने आपको तबतक कायम रखा, जबतक कि यह समय आने पर बौद्धधर्म में आयी हुई इसकी अपनी ही प्रवृत्तियों की अति के द्वारा स्थानच्युत और अस्तव्यस्त नहीं कर दिया गया।

यज्ञ, प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड, अधिकाधिक निरर्थक सा अवशेष और यहांतक कि भारभूत हो गया तो भी, जैसा कि प्रायः हुआ करता है, यन्त्रवत् और निष्फल हो जाने का ही परिणाम यह हुआ कि उनकी प्रत्येक बाह्य से बाह्य वस्तु की भी महत्ता को बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाने लगा और उनकी सूक्ष्म विधियां को राष्ट्र-मन के उस भाग द्वारा जो अब तक उनमें चिपटा हुआ था, बिना युक्ति के ही बल-पूर्वक थोपा जाने लगा। वेद और वेदान्त के बीच एक तीव्र व्यावहारिक भेद अस्तित्व में आया, जो क्रिया में था यद्यपि पूर्णतः सिद्धान्त-रूप से कभी भी स्वीकार नहीं किया गया, जिसे इस सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है "वेद पुरोहितों के लिये, वेदान्त सन्तों के लिये"।

वैदान्तिक हलचल की दूसरी प्रवृत्ति थी अपने-आपको प्रतीकात्मक भाषा के भार से क्रमशः मुक्त करना, अपने ऊपरसे उपचित गाथाओं और कवितात्मक अलंकारों

के पर्दे को हटाना, जिसमें कि रहस्यवादियोने अपने विचारको छिपा रखा था और उसके स्थान पर एक अधिक स्पष्ट प्रतिपादन को और अपेक्षया अधिक दार्शनिक भाषा को रखना। इस प्रवृत्ति के पूर्ण विकास ने न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की, बल्कि मूल वेद की भी उपयोगिता को अप्रचलित कर दिया। उपनिषदें जिनकी भाषा बहुत ही स्पष्ट और सीधी-सादी थी, सर्वोच्च भारतीय विचार का मुख्य स्रोत हो गयी और उन्होने वसिष्ठ तथा विश्वामित्र की अन्त श्रुत ऋचाओ का स्थान ले लिया*।

वेदो के शिक्षा के अनिवार्य आधार के रूप मे क्रमश कम और कम बरते जाने के कारण अब वे वैसे उत्साह और बुद्धिचातुर्य के साथ पढे जाने बद हो गये थे, उनकी प्रतीकमय भाषा ने, प्रयोग मे न आने से, नयी सन्तति के आगे अपने आन्तरिक आशय के अवशेष को भी खो दिया, जिस सन्तति की सारी ही विचारप्रणाली वैदिक पूर्वजो की प्रणाली से भिन्न थी। दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग बीत रहे थे और उनके स्थान पर तर्क के युग की प्रथम उषा का आविर्भाव हो रहा था।

बौद्धधर्म ने इस क्रान्ति को पूर्ण किया और प्राचीन युग की बाह्य परिपाटियो मे से केवल कुछ अत्यादृत आडम्बर और कुछ यन्त्रवत् चलती हुई रूढिया ही अवशिष्ट रह गयी। इसने वैदिक यज्ञ को लुप्त कर देना चाहा और साहित्यिक भाषा के स्थान पर प्रचलित लोक-भाषा को प्रयोग में लाने का यत्न किया। और यद्यपि इसके कार्य की पूर्णता, पौराणिक सम्प्रदायो में हिन्दुधर्म के पुनरुज्जीवन के कारण, कई शताब्दियो तक रुकी रही, तो भी वेद ने स्वय इस अवकाश से न के बराबर ही लाभ उठाया। नये धर्म के प्रचार का विरोध करने के लिये यह आवश्यक था कि पूज्य किन्तु दुर्बोध मूल वेद के स्थान पर ऐसी धर्म-पुस्तके सामने लायी जावे जो अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन सस्कृत में सरल रूप में लिखी गयी

*यहा फिर इससे मुख्य प्रवृत्ति ही सूचित होती है और इसे कुछ शर्तों की अपेक्षा है। वेदो को प्रमाण-रूप से भी उद्धृत किया गया है, पर सर्वांगरूप से कहे तो उपनिषदें ही हैं जो कि ज्ञान की पुस्तक होती है, वेद अपेक्षाकृत कर्मकाण्ड की पुस्तक है।

हो। इस प्रकार देश के सर्वसाधारण लोगों के लिये पुराणों ने वेदों को एक तरफ धकेल दिया और नवीन धार्मिक पूजा-पाठ के तरीकों ने पुरातन विधियों का स्थान ले लिया। जैसे वेद ऋषियों के हाथ से पुरोहितों के पास पहुंचा था, वैसे ही अब यह पुरोहितों के हाथ से निकलकर पण्डितों के हाथ में जाना शुरू हो गया। और इस रक्षण में इसने अपने अर्थों के अन्तिम अवच्छेदन को और अपनी सच्ची शान और पवित्रता की अन्तिम हानि को सहा।

यह बात नहीं कि वेदों का यह पण्डितों के हाथ में जाना और भारतीय पाण्डित्य का वेदमन्त्रों के साथ व्यवहार, जो कि ईसा के पूर्व की शताब्दियों से प्रारम्भ हो गया था, सर्वथा एक घाटे का ही लेखा हो। इसकी अपेक्षा ठीक तो यह है कि पण्डितों के सतर्क अध्यवसाय तथा उनकी प्राचीनता को रक्षित रखने और नवीनता में अप्रीति की परिपाटी के हम ऋणी हैं कि उन्होंने वेदों की सुरक्षा की, बावजूद इसके कि इसका रहस्य लुप्त हो चुका था और वेदमन्त्र स्वयं क्रियात्मक रूप में एक सजीव धर्मशास्त्र समझे जाने बन्द हो गये थे। और साथ ही लुप्त रहस्य के पुनरुज्जीवन के लिये भी पाण्डित्यपूर्ण कट्टरता के ये दो सहस्र वर्ष हमारे लिये कुछ अमूल्य सहायतायें छोड़ गये हैं अर्थात् मूल वेदों के संहिता आदि पाठ जिनके ठीक-ठीक स्वर-चिह्न बड़ी सतर्कता के साथ निश्चित किये हुए हैं, यास्क का महत्त्वपूर्ण कोष और सायण का वह विस्तृत भाष्य जो अनेक और प्राय चौंका देनेवाली अपूर्णताओं के होते हुए भी अन्वेषक विद्वान् के लिये गम्भीर वैदिक शिक्षा के निर्माण की ओर एक अनिवार्य पहला कदम है।

तीसरा अध्याय

वैदिक वाद का सिंहावलोकन (ख)

वैदिक विद्वान्

जो मूल वेद इस समय हमारे पास है उनमें दो सहस्र वर्षों से अधिक काल से कोई विकार नहीं आया है। जहाँतक हम जानते है, इसका काल भारतीय बौद्धिक प्रगति के उस महान् युग से जो कि ग्रीक पुष्पोद्गम के समकालीन किन्तु अपने प्रारम्भिक रूपो में इससे पहले का है, प्रारम्भ होता है जिसने देश के सस्कृत-साहित्य में लेखबद्ध पायी जानेवाली सस्कृति और सभ्यता की नीव डाली। हम नहीं कह सकते कि कितनी अधिक प्राचीन तिथि तक हमारे इस मूल वेद को ले जाया जा सकता है। पर कुछ विचार है, जो इसके विषय मे हमारे इस मन्तव्य को प्रमाणित करते है कि यह अत्यन्त ही प्राचीन काल का होना चाहिये। एक शुद्ध वेद का ग्रथ जिसका प्रत्येक अक्षर शुद्ध हो, प्रत्येक स्वर शुद्ध हो, वैदिक कर्मकाण्डियो के लिये बहुत ही अधिक महत्त्व का विषय था, क्योकि सतर्कता-युक्त शुद्धता पर ही यज्ञ की फलोत्पादकता निर्भर थी। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थो में हमें त्वष्टा की कथा मिलती है कि, वह इस उद्देश्य से यज्ञ कर रहा था कि, इन्द्र से उसके पुत्रवध का बदला लेनेवाला कोई उत्पन्न हो, पर स्वर की एक अशुद्धि के कारण इन्द्र का वध करनेवाला तो पैदा नहीं हुआ, किन्तु वह पैदा हो गया, जिसका कि इन्द्र वध करनेवाला बने। प्राचीन भारतीय स्मृति-शक्ति की असाधारण शुद्धता भी लोकविश्रुत है। और वेद के साथ जो पवित्रता की भावना जुडी हुई है, उसके कारण इसमे वैसे प्रक्षेप,' परिवर्तन, नवीन सस्करण नही हो सके, जैसोंके कारण कि कुरुवशियो का प्राचीन महाकाव्य बदलता-बदलता महाभारत के वर्तमान रूप में आ गया है। इसलिये यह सर्वथा सम्भव है कि हमारे पास व्यास की सहिता साररूप मे वैसी की वैसी हो, जैसा कि इसे उस महान् ऋषि और सग्रहीता ने क्रमबद्ध किया था।

मैंने कहा है 'साररूप में', न कि उसके वर्तमान लिखित रूप में। क्योंकि वैदिक छन्दःशास्त्र कई अंशों में संस्कृत के छन्द शास्त्र से भिन्नता रखता था और विशेषकर, पृथक् पृथक् शब्दों की सन्धि करने के नियमों को जो कि साहित्यिक भाषा का एक विशेष अंग है, बड़ी स्वच्छन्दता के साथ काम में लाता था। वैदिक ऋषि, जैसा कि एक जीवित भाषा में होना स्वाभाविक ही था, नियत नियमों की अपेक्षा श्रुति का ही अधिक अनुसरण करते थे, कभी वे पृथक् शब्दों में सन्धि कर देते थे और कभी वे उन्हें बिना सन्धि किये वैसा ही रहने देते थे। परन्तु जब वेद का लिखित रूप में आना शुरू हुआ, तब सन्धि के नियम का भाषा के ऊपर और भी अधिक निष्प्रतिबन्ध आधिपत्य हो गया और प्राचीन मूल वेद को वैयाकरणों ने जहांतक हो सका, इसके नियमों के अनुकूल बनाकर लिखा। फिर भी, इस बात में वे सचेत रहे कि इस संहिता के साथ उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ भी बना दिया, जिसे 'पदपाठ' कहा जाता है और जिसमें सन्धि के द्वारा संयुक्त सभी शब्दों का फिर से उनके मूल तथा पृथक्-पृथक् शब्दों में सन्धिच्छेद कर दिया गया है और यहांतक कि समस्त शब्दों के घटकों का भी निर्देश कर दिया गया है।

वेदों का स्मरण रखनेवाले प्राचीन पण्डितों की वेदभक्ति के विषय में यह एक बड़ी उल्लेखयोग्य प्रशंसा की बात है कि उस अव्यवस्था के स्थान पर जो कि इस वैदिक रचना में बड़ी आसानी से पैदा की जा सकती थी, यह सदा पूर्ण रूप से आसान रहा है कि इस संहितात्मक वेद को वैदिक छन्दाविधि के अनुसारी उनके मौलिक रूपों में पृथक् करके देखा जा सके। और बहुत ही कम ऐसे उदाहरण हैं जिनमें कि पदपाठ की यथार्थता अथवा उसके युक्तियुक्त निर्णय पर आपत्ति उठायी जा सके।

तो, हमारे पास अपने आधार के रूप में एक वेद का ग्रन्थ है जिसे कि हम विश्वास के साथ स्वीकार कर सकते हैं, और चाहे इसे हम कुछ थोड़े से अवसरों पर सन्दिग्ध या दोषयुक्त भी क्यों न पाते हों, यह किसी प्रकार से भी संशोधन के उस प्राय: उच्छृंखल प्रयत्न के योग्य नहीं है जिसके लिये कि कुछ युरोपियन विद्वान् अपने-आपको प्रस्तुत करते हैं। प्रथम तो यही एक अमूल्य लाभ है जिसके

लिये हम प्राचीन भारतीय पाण्डित्य की सत्यनिष्ठा के प्रति जितने कृतज्ञ हों, उतना ही थोडा है।

कुछ अन्य दिशाओ मे सभवत. यह सर्वदा सुरक्षित न हो–अर्थात् जहा कही प्राचीन परम्परा पुष्ट और युक्तियुक्त नही भी थी, वहा भी–कि पण्डितो की परम्परा का हमेशा निर्विवाद रूप से अनुसरण किया जाय–जैसे कि वैदिक सूक्तो के उनके ऋषियो के साथ सम्बन्ध में। परन्तु ये सब ब्योरे की बाते है जो कि बहुत ही कम महत्त्व की है। न ही मेरी दृष्टि में इसमें सन्देह करने का कोई युक्तियुक्त कारण है कि वेद के सूक्त अधिकतर अपनी ऋचाओ के सही क्रम में और अपनी यथार्थ सम्पूर्णता मे बद्ध है। अपवाद यदि कोई हो भी तो वे सख्या और महत्त्व की दृष्टि से उपेक्षणीय है। जब सूक्त हमें असम्बद्ध से प्रतीत होते है, तो उसका कारण यह होता है कि वे हमारी समझ में नही आ रहे होते। एक बार जब मूल सूत्र हाथ लग जाय, तो हम पाते है कि वे पूर्ण अवयवी है, जो जैसे कि अपनी भाषा मे और अपने छन्दो में वैसे ही अपनी विचार-रचना में भी आश्चर्यजनक है।

यह तब होता है जब हम वेद की व्याख्या की ओर आते है और इसमें प्राचीन भारतीय पाण्डित्य से सहायता लेना चाहते है, कि हम अधिक से अधिक सकोच करने के लिये अपनेको बाध्य अनुभव करते है। क्योकि प्रथम श्रेणी के पाण्डित्य के प्राचीनतर काल में भी वेदो के विषय मे कर्मकाण्डपरक दृष्टिकोण पहले से ही प्रधान था, शब्दो का, पक्तियो का, सकेतो का मौलिक अर्थ तथा विचार-रचना का मूल सूत्र चिरकाल से लुप्त हो चुका था या धुधला पड गया था, न ही उस समय के विद्वान् मे यह अन्तर्ज्ञान या वह आध्यात्मिक अनुभूति थी, जो लुप्त रहस्य को अशत ही पुनरुज्जीवित कर सकती। ऐसे क्षेत्र मे केवलमात्र पाण्डित्य जितनी बार पथप्रदर्शक होता है, उतनी ही बार उलझानेवाला जाल भी बन जाता है, विशेषकर तब जब कि इसके पीछे एक कुशल विद्वत्ताशाली मन हो।

यास्क के कोष मे, जो कोष कि हमारे लिये सबसे आवश्यक सहायता है, हमें दो बहुत ही असमान मूल्यवाले अगो म भेद करना चाहिये। जब यास्क एक कोषकार की हैसियत से वैदिक शब्दो के विविध अर्थों को देता है, तो उसकी

प्रामाणिकता बहुत बडी है और जो सहायता वह देता है वह प्रथम महत्त्व की है। यह प्रतीत नही होता कि वह सभी प्राचीन अर्थों पर अधिकार रखता था, क्योंकि उनमेंसे बहुतसे अर्थ कालक्रम से और युगपरिवर्तन के कारण विलुप्त हो चुके थे और एक वैज्ञानिक भाषाविज्ञान की अनुपस्थिति में उन्हे फिर से प्राप्त नही किया जा सकता था। पर फिर भी परम्परा के द्वारा बहुत कुछ सुरक्षित था। जहा कही यास्क इस परम्परा को कायम रखता है और एक व्याकरणज्ञ के बुद्धि-कौशल को काम में नहीं लाता, वहा वह शब्दो के जो अर्थ निश्चित करता है, चाहे यह हमेशा ठीक न भी हो कि जिस मन्त्र के लिये वह उन शब्दो का निर्देश करता है वहा उनका वही अर्थ लगे, फिर भी युक्तियुक्त भाषाविज्ञान के द्वारा उनकी पुष्टि की जा सकती है कि उनके अर्थ सगत है। परन्तु निरुक्तिकार यास्क कोष-कार यास्क की कोटि में नही आता। वैज्ञानिक व्याकरण पहले-पहल भारतीय पाण्डित्य के द्वारा विकसित हुआ, परन्तु सुव्यवस्थित भाषा विज्ञान के प्रारम्भ के लिये हम आधुनिक अनुसन्धान के ऋणी है। केवल-मात्र बुद्धि-कौशल की उन प्रणालियो की अपेक्षा अधिक मनमौजी तथा नियम रहित अन्य कुछ नही हो सकता, जो कि प्राचीन निरुक्तकारो से लेकर १८वीं शताब्दी तक भी प्रयुक्त की गयी है, चाहे वे योरोप में की गयी हो, चाहे भारत में। और जब यास्क इन प्रणालियों का अनुसरण करता है तो हम सर्वथा उसका साथ छोडने के लिये बाध्य हो जाते हैं। न ही वह किन्हीं अमुक अमुक मन्त्रो की अपनी व्याख्या में उत्तरकालीन सायण के पाण्डित्य की अपेक्षा अधिक विश्वासोत्पादक है।

सायण का भाष्य वेद पर मौलिक तथा सजीव पाण्डित्यपूर्ण कार्य के उस युग को समाप्त करता है, जिसका प्रारम्भ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थो के साथ में यास्क के निरुक्त को कहा जा सकता है। यह कोष (यास्क का निघण्टु निरुक्त) भारतीय मन के प्रारम्भिक उत्साह के दिनो में सगृहीत किया गया था, जब कि भारतीय मन मौलिकता के एक नवीन उद्भव के लिये साधनों के रूप में प्रागैति-हासिक प्राप्तियो को सचित करने में लगा हुआ था, यह भाष्य (सायण का वेदभाष्य) अपने प्रकार का लगभग एक अन्तिम महान् प्रयत्न है, जिसे पाण्डित्यपरपरा दक्षिण भारत में अपने अतिम अवलब और केंद्र के रूप में हमारे लिये छोड गयी थी,

इससे पहले कि पुरातन संस्कृति मुस्लिम विजय के धक्के के द्वारा अपने स्थान से च्युत हुई और टूटकर भिन्न भिन्न प्रादेशिक खण्डो में बट गयी। इसके बाद दृढ और मौलिक प्रयत्न कहीं-कही फूट निकलते रहे, नयी रचना और नवीन सघटन के लिये बिखरे हुए यत्न किये गये, पर बिल्कुल इस प्रकार का सर्वसाधारण, महान् तथा स्मारकभूत कार्य नहीं ही तैयार हो सका।

भूतकाल की इस महान् वसीयत की प्रभावशालिनी विशेषताए स्पष्ट है। उस समय के विद्वान्-से विद्वान् पण्डितो की सहायता से सायण के द्वारा निर्माण किया गया, यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो पाण्डित्य के एक बहुत ही महान् प्रयास का द्योतक है, शायद ऐसे किसी भी प्रयास से अधिक, जो उस काल में किसी अकेले मस्तिष्क के द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता था। फिर भी इसपर, सब वैषम्य हटाकर एक प्रकार की समरसता ले आनेवाले मन की छाप दिखायी देती है। समूह-रूप म यह सगत है, यद्यपि विस्तार मे जाने पर इसमें कई असगतिया दीखती है। यह एक विशाल योजना पर बना हुआ है, तो भी बहुत ही सरल तरीके पर, एक ऐसी शैली में रचा गया है जो स्पष्ट है, सक्षिप्त है और लगभग एक एसी साहित्यिक छटा से युक्त है जिसे कि भारतीय भाष्य करने की परपरागत प्रणाली म कोई असभव ही समझता। इसमें कहींपर भी विद्यावलेप का दिखावा नही है, मन्त्रो मे उपस्थित होनेवाली कठिनाइयो के साथ जो सघर्ष होता उसपर बड चातुर्य के साथ पर्दा डाला गया है और इसमें एक स्पष्ट कुशाग्रता का तथा एक विश्वासपूर्ण, पर फिर भी सरल, प्रामाणिकता का भाव है, जो अविश्वासी पर भी अपनी छाप डाल देता है। यूरोप के पहले-पहल वैदिक विद्वानो ने सायण की व्याख्याओ में युक्तियुक्तता की विशेष रूप से प्रशसा की है।

तो भी, वेद के बाह्य अर्थ के लिये भी यह सभव नही है कि सायण की प्रणाली का या उसके परिणामो का बिना बडे-से-बडे सकोच के अनुसरण किया जाय। यही नहीं कि वह अपनी प्रणाली म भाषा और रचना की ऐसी स्वच्छदता को स्वीकार करता है जो कि अनावश्यक है और कभी-कभी अविश्वसनीय भी होती है, न केवल यही है कि वह बहुधा अपने परिणामो पर पहुचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषा-ओ की और नियत वैदिक सूत्रो तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असगति

दिखाता हूं। ये तो ब्योरे की त्रुटियां हैं, जो संभवत उस सामग्री की अवस्था में जिससे उसने कार्य शुरू किया था, अनिवार्य थीं। परंतु सायण की प्रणाली की केंद्रीय त्रुटि यह है कि, वह सदा कर्मकाण्ड-विधि में ही ग्रस्त रहता है और निरंतर वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित साँचे में डालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसलिये वह उन बहुत से मूल सूत्रों को खो देता है जो इस पुरातन धर्मपुस्तक के बाह्य अर्थ के लिये—जो कि, बिल्कुल वैसा ही रोचक प्रश्न है जैसा कि इसका आंतरिक अर्थ—बहुत बड़े निर्देश दे सकते हैं और बहुत ही महत्त्व के हैं। परिणामत सायणभाष्य द्वारा ऋषियों का, उनके विचारों का, उनकी संस्कृति का, उनकी अभीप्साओं का, एक ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो वह वेद के संबंध में प्राचीन पूजाभाव को, इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को बिल्कुल अबुद्धिगम्य कर देता है, या उसे इस रूप में रखता है कि इसकी व्याख्या केवलमात्र यही हो सकती है कि यह उस श्रद्धा की एक अंधी और बिना ननुनच किये मानी गयी परंपरा है जिस श्रद्धा का प्रारंभ एक मौलिक भूल से हुआ है।

इस भाष्य में अवश्य ही अन्य रूप (पहलू) और तत्त्व भी हैं, परंतु वे मुख्य विचार के सामने गौण हैं या उसके ही अनुवर्ती हैं। सायण और उसके सहायकों को बहुधा परस्पर टकरानेवाले विचार और परंपराओं के विशाल समुदाय पर जो कि भूतकाल से आकर अबतक बचा रह गया था, कार्य करना पड़ा था। इनके तत्त्वों में से कुछ को उन्होंने नियमित स्वीकृति देकर कायम रखा, दूसरों के लिये उन्होंने छोटी-छोटी छूट देने के लिये अपनेको बाध्य अनुभव किया। यह हो सकता है कि, पुरानी अनिश्चितता या गड़बड़ तक में से एक ऐसी व्याख्या निकाल लेने में जिसकी कि स्थिर आकृति और जिसमें एकात्मता हो, सायण का जो बुद्धि-कौशल है, उसीके कारण उसके कार्य की यह महान् और चिरकाल तक अबाधित प्रामाणिकता बनी हो।

प्रथम तत्त्व जिससे सायण को वास्ता पड़ा और जो कि हमारे लिये बहुत अधिक रोचक है, श्रुति की प्राचीन आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं

का अवशेष था, जो कि इसकी पवित्रता का असली आधार है। उस अंश तक जहा तक कि ये प्रचलित अथवा कट्टरपथी[1] (Orthodox) विचार मे प्रविष्ट हो चुकी थी, सायण उन्हे स्वीकार करता है, परतु वे उसके भाष्य में एक अपवादात्मक रूप में है, जो मात्रा तथा महत्त्व की दृष्टि से तुच्छ हो गयी है। कहीं-कहीं प्रसग-वश वह अपेक्षया कम प्रचलित आध्यात्मिक अर्थों का चलते-चलते जिक्र कर जाता है या उन्हे स्वीकृति दे देता है। उदाहरणत.-उसने 'वृत्र' की उस प्राचीन व्याख्या का उल्लेख किया है, पर उसे स्वीकार करने के लिये नही, जिसमे कि 'वृत्र' वह आच्छादक (आवरक) है, जो मनुष्य के पास पहुचने (प्राप्त होने) से उसकी कामना की और अभीप्सा की वस्तुओ को रोके रखता है। सायण के लिये 'वृत्र' या तो केवलमात्र शत्रु है या भौतिक मेघरूपी असुर है, जो जलों को रोक रखता है और जिसका वर्षा करनेवाले (इन्द्र) को भेदन करना पडता है।

दूसरा तत्त्व है गाथात्मक या इसे पौराणिक भी कहा जा सकता है-देवताओ की गाथाए और कहानिया जो उनके बाह्य रूप में दी गयी है, बिना उस गभीरतर आशय और प्रतीकात्मक तथ्य के जो कि समस्त पुराण[2] के औचित्य को सिद्ध करनेवाला एक सत्य है।

तीसरा तत्त्व आख्यानात्मक या ऐतिहासिक है, प्राचीन राजाओ और ऋषियो की कहानिया जो वेद के अस्पष्ट वर्णनों का स्पष्टीकरण करने के लिये ब्राह्मणग्रन्थो मे दी गयी है या उत्तरकालीन परपरा के द्वारा आयी है। इस तत्त्व के साथ

---

[1]इस शब्द का मै शिथिलता के साथ प्रयोग कर रहा हू। कट्टरपथी (Orthodox) और धर्मविरोधी (Heterodox) ये पारिभाषिक शब्द युरोपियन या साप्रदायिक अर्थ में भारत के लिये, जहा कि सम्मति हमेशा स्वतत्र रही है, सच्चे अर्थों में प्रयुक्त नही होते है।

[2]यह मान लेना सयुक्तिक है कि पुराण (आख्यान तथा उपाख्यान) और इतिहास (ऐतिहासिक परपरा) वैदिक सस्कृति के ही अग थे, उससे बहुत पूर्वकाल से जब कि पुराणों के और ऐतिहासिक महाकाव्यो के वर्तमान स्वरूपो का विकास हुआ।

सायण का बर्ताव कुछ हिचकिचाहट से युक्त है। बहुधा वह उन्हें मंत्रों की उचित व्याख्या के रूप में ले लेता है, कभी-कभी वह विकल्प के तौर पर एक दूसरा अर्थ भी देता है जिसके साथ कि स्पष्ट तौर से वह अपनी अधिक बौद्धिक सहानुभूति रखता है, परंतु उन दोनोंमेंसे किसे प्रामाणिक माने इस विषय में वह दोलायमान रहता है।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रकृतिवादी व्याख्या का तत्त्व। न केवल उसमें स्पष्ट या परंपरागत तद्रूपताएं हैं, इन्द्र है, मरुत है, त्रित अग्नि है, सूर्य है, उषा है, परंतु हम देखते हैं कि मित्र को दिन का तद्रूप मान लिया गया है, वरुण को रात्रि का, अर्यमा तथा भग को सूर्य का और ऋभुओं को इसकी रश्मियों का। हम यहां वेद के संबंध में उस प्रकृतिवादी सिद्धांत के बीज पाते हैं, जिसे यूरोपियन पाण्डित्य ने बहुत ही बड़ा विस्तार दे दिया है। प्राचीन भारतीय विद्वान् अपनी कल्पनाओं में वैसी स्वतन्त्रता और वैसी क्रमबद्ध सूक्ष्मता का प्रयोग नहीं करते थे। तो भी सायण के भाष्य में पाया जानेवाला यह तत्त्व ही योरोप के तुलनात्मक गाथाशास्त्र के विज्ञान का असली जनक है।

परंतु जो व्यापक रूप से सारे भाष्य में छाया हुआ है, वह है कर्मकाण्ड का विचार, यही स्थिर स्वर है, जिसमें अन्य सब अपने-आपको खो देते हैं। वेदमन्त्र भले ही ज्ञान के लिये सर्वोच्च प्रमाण-रूप से उपस्थित हों, तो भी वे दार्शनिक मतों के अनुसार प्रधान रूप से और सैद्धान्तिक रूप से कर्मकाण्ड के साथ, कर्मों के साथ, संबद्ध हैं और 'कर्मों से' समझा जाता था मुख्य रूप से वैदिक यज्ञों का कर्मकाण्डमय अनुष्ठान। सायण सर्वत्र इसी विचार के प्रकाश में प्रयत्न करता है। इसी सांचे के अन्दर वह वेद की भाषा को ठोक-पीटकर ढालता है, इसके विशिष्ट शब्दों के समुदाय को कर्मकाण्डपरक अर्थों का रूप देता है,—जैसे भोजन, पुरोहित, दक्षिणा देनेवाला, धन-दौलत, स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ, बलिदान।

धनदौलत (धन) और भोजन (अन्न) इनमें मुख्य हैं। क्योंकि ये सब अधिक से अधिक स्वार्थसाधक तथा भौतिकतम पदार्थ ही हैं जो कि यज्ञ के ध्येय के तौर पर चाहे गये हैं जैसे स्वामित्व, बल, शक्ति, बाल-बच्चे, सेवक, सोना, घोड़े, गौएं, विजय, शत्रुओं का वध तथा लूट, प्रतिस्पर्धी तथा विद्वेषी आलोचक का विनाश।

जब कोई व्यक्ति पढ़ता है और मन्त्र के बाद मन्त्र को लगातार इसी एक अर्थ में व्याख्या किया हुआ पाता है, तो उसे गीता की मनोवृत्ति में ऊपर से दिखायी देने-वाली यह असगति और भी अच्छी तरह समझ में आने लगती है कि गीता एक तरफ तो वेद की एक दिव्य ज्ञान (गीता १५-१५) के रूप में प्रतिष्ठा करती है, फिर भी दूसरी तरफ केवलमात्र उस वेदवाद के रक्षकों का दृढ़ता के साथ तिरस्कार करती है (गीता २-४२) जिसकी सब पुष्पित शिक्षायें केवल भौतिक धन-दौलत, शक्ति और भोग का प्रतिपादन करती है।

वेद के सब सभव अर्थों मे से इस निम्नतर अर्थ के साथ ही वेद को अन्तिम तौर पर और प्रामाणिकतया बाध देना, यह है जो कि सायण के भाष्य का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ। कर्मकाण्डपरक व्याख्या की प्रधानता ने पहले ही भारतवर्ष को अपने सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र (वेद) के सजीव उपयोग से और उपनिषदो के समस्त आशय को बतानेवाले सच्चे मूल सूत्र से वचित कर रखा था। सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी, जो कि कई शताब्दियों तक नहीं टूट सकती थी। और इसके दिये हुए निर्देश, उस समय जब कि एक दूसरी सभ्यता ने वेद को ढूढकर निकाला और इसका अध्ययन प्रारम्भ किया, युरोपियन विद्वानो के मन में नयी नयी गलतियो के कारण बने।

फिर भी यदि सायण का ग्रन्थ एक ऐसी चाबी है, जिसने वेद के आन्तरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियों को खोलने के लिये अत्यन्त अनिवार्य है। युरोपियन पाण्डित्य का सारा-का-सारा विशाल प्रयास भी इसकी उपयोगिता का स्थान लेने योग्य नहीं हो सका है। प्रत्येक पग पर हम इसके साथ मतभेद रखने के लिये बाध्य है, पर प्रत्येक पग पर इसका प्रयोग करने के लिये भी बाध्य है। यह एक आवश्यक कूदने का तख्ता है या एक सीढी है, जिसका कि हमें प्रवेश के लिये उपयोग करना पड़ता है, यद्यपि इसे हम अवश्य ही पीछे छोड़ देना चाहिये, यदि हम आगे बढकर आन्तरिक अर्थ की गहराई मे गोता लगाना चाहते है, मन्दिर के भीतरी भाग म पहुचना चाहते है।

चौथा अध्याय

आधुनिक मत

यह एक विदेशी संस्कृति की वेदों के प्रति जिज्ञासा थी, जिसने कि कई शताब्दियों बाद अन्तिम प्रामाणिकता की उस मुहर को तोड़ा जो सायण ने वेद की कर्मकाण्डपरक व्याख्या पर लगा दी थी। वेद की प्राचीन धर्मपुस्तक उस पाण्डित्य के हाथ में आयी जो परिश्रमी, विचार में साहसी, अपनी कल्पना की उड़ान में प्रतिभाशाली, अपने निजी प्रकाशों के अनुसार सच्चे, परन्तु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियों की प्रणाली को समझने के अयोग्य था। क्योंकि यह उस पुरातन संस्थान के साथ किसी प्रकार की भी सहानुभूति नहीं रखता था, वैदिक अलंकारों और रूपकों के अंदर छिपे हुए विचारों को समझने के लिये अपने बौद्धिक या आत्मिक वातावरण में इसके पास कोई सूत्र नहीं था। इसका परिणाम दोहरा हुआ है, एक ओर तो वैदिक व्याख्या की समस्याओं पर जरा अधिक स्वाधीनता के साथ बड़ा अधिक सूक्ष्म, पूर्ण और सावधानी के भी साथ विचार और दूसरी ओर इसके बाह्य भौतिक अर्थ की चरम अतिशयोक्ति तथा इसके असली और आन्तरिक रहस्य का अविकल विलोप।

अपने विचारों की साहसिक दृढ़ता तथा अनुसंधान या आविष्कार की स्वाधीनता के होते हुए भी योरोप के वैदिक पाण्डित्य ने वस्तुतः सब जगह अपने-आपको सायण के भाष्य में रखे हुए परम्परागत तत्त्वों पर ही अवलम्बित रखा है और इस समस्या पर सर्वथा स्वतन्त्र विचार करने का प्रयत्न नहीं किया है। जो कुछ इसने सायण में और ब्राह्मणग्रन्थों में पाया, उसीको इसने आधुनिक सिद्धांतों और आधुनिक विज्ञानों के प्रकाश में लाकर विकसित कर दिया है। भाषाविज्ञान, गाथाशास्त्र और इतिहास में प्रयुक्त होनेवाली तुलनात्मक प्रणाली से निकाले हुए गवेषणापूर्ण निगमनों के द्वारा, प्रतिभाशाली कल्पना की सहायता से विद्यमान विचारों को विशाल रूप देने द्वारा और इधर-उधर बिखरे हुए उपलभ्य निर्देशों को एकत्रित

कर देने द्वारा इसने वैदिक गाथाशास्त्र, वैदिक इतिहास, वैदिक सभ्यता के एक पूर्ण वाद को खडा कर लिया है, जो अपने ब्योरे की बातों तथा पूर्णता के द्वारा मोह लेता है और अपनी प्रणाली की ऊपर से दिखायी देनेवाली निश्चयात्मकता के द्वारा इस वास्तविकता पर पर्दा डाले रखता है कि, यह भव्य-भवन अधिकतर कल्पना की रेत पर खडा हुआ है।

वेद के विषय में आधुनिक सिद्धांत इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी है, कि वेद एक ऐसे आदिम, जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति-संहिता है, जिसके नैतिक तथा धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिसका दृष्टिकोण बिलकुल बच्चों का सा था। यज्ञ-याग को जिसे सायण ने एक दिव्य ज्ञान का अंग तथा एक रहस्यमय प्रभावोत्पादकता से युक्त स्वीकार किया था, योरोपियन पाण्डित्य ने इस रूप में स्वीकार किया कि, यह उन प्राचीन जंगली शान्तिकरणसम्बन्धी यज्ञ-बलिदानों का श्रम-साधित विस्तार था, जो ऐसी काल्पनिक अतिमानुष व्यक्ति-सत्ताओं को समर्पित किया जाता था जो कि, इसके अनुसार कि उनकी पूजा की जाती है या उपेक्षा की जाती है, हितैषी अथवा विद्वेषी हो सकते थे।

सायण से अंगीकृत ऐतिहासिक तत्त्व को उसने तुरन्त ग्रहण कर लिया और मन्त्रों में आये प्रसंगों के नये अर्थ और नयी व्याख्याएं करके उसे विस्तृत रूप दे दिया, जो नये अर्थ और नयी व्याख्यायें इस प्रबल लिप्सा को लेकर विकसित की गयी थीं कि वेदमन्त्र उन बर्बर जातियों के प्रारम्भिक इतिहास, रीतिरिवाजों तथा उनकी संस्थाओं का पता देनेवाले सिद्ध हो सके। प्रकृतिवादी तत्त्व ने और भी अधिक महत्त्व का हिस्सा लिया। वैदिक देवताओं का अपने बाह्य रूपों में जो स्पष्टतया किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के साथ तद्रूपता का सम्बन्ध है, उसका प्रयोग उसने इस रूप में किया कि उससे आर्यन गाथाशास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रारम्भ किया गया, अपेक्षया कम प्रधान देवताओं में से कुछ की, जैसे सूर्य-शक्तियों की, जो कुछ संदिग्ध तद्रूपता है वह इस रूप में दिखायी गयी कि उससे प्राचीन गाथा निर्माण किये जाने की पद्धति का पता चलता है और तुलनात्मक

गाथाशास्त्र की बड़े परिश्रम से बनायी हुई जो सूर्य-गाथा तथा नक्षत्र-गाथा की कल्पनायें हैं, उनकी नींव डाली गयी।

इस नये प्रकाश में वैदिक सूक्त-रचना की व्याख्या इस रूप में की जाने लगी है कि, यह प्रकृति का एक अर्ध-अंधविश्वासयुक्त तथा अर्ध-कवितायुक्त रूपक है, जिसमें साथ ही महत्त्वपूर्ण नक्षत्र-विद्यासम्बन्धी तत्त्व भी है। इनसे जो अवशिष्ट बचा इसमें कुछ अंश उस समय का इतिहास है और कुछ अंश यज्ञबलिदानविषयक कर्मकाण्ड के नियम और विधियां हैं, जो रहस्यमय नहीं हैं, बल्कि केवलमात्र जंगलीपन तथा अन्ध-विश्वास से भरा हुआ है।

पश्चिमी पण्डितों की वेदविषयक यह व्याख्या आदिम मानवसंस्कृतिसम्बन्धी उनकी कल्पनाओं से और निपट जंगलीपन से अभी उठना बतानेवाली वैज्ञानिक कल्पनाओं से पूरी तरह मेल खाती है, जो कि कल्पनायें संपूर्ण १८ वीं शताब्दी में प्रचलित रही हैं और अब भी प्रधानता रखती हैं। परन्तु हमारे ज्ञान की वृद्धि ने इस पहले-पहल के और अत्यन्त जल्दबाजी में किये गये व्याप्तीकरण को अब अत्यधिक हिला दिया है। अब हम जानते हैं कि कई सहस्र वर्ष पूर्व चीन में, मिश्र में, खाल्दिया में, ऐसीरिया में अपूर्व सभ्यताएं विद्यमान थी और अब इसपर आम तौर से लोग सहमत होते जा रहे हैं कि, एशिया में तथा भूमध्यतटवर्ती जातियों में जो सामान्य उच्च संस्कृति थी, ग्रीस और भारत उसके अपवाद नहीं थे।

इस नये प्राप्त हुए ज्ञान का लाभ यदि वैदिक काल के भारतीयों को नहीं मिला है तो इसका कारण उस कल्पना का अभीतक बचा रहना है जिससे कि योरोपियन पाण्डित्य ने शुरूआत की थी, अर्थात् यह कल्पना कि वे तथाकथित आर्यजाति के थे और पुराने आर्यन ग्रीक लोगों, केल्ट लोगों तथा जर्मन लोगों के साथ-साथ संस्कृति के उसी स्तर पर थे जिसका कि वर्णन हमें होमर की कविताओं में प्राचीन नौर्स गाथाओं में तथा प्राचीन गौल (Gaul) और ट्यूटनों (Teuton) के रोमन उपाख्यानों में दिखलाया गया है। इसीसे उस कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ है कि ये आर्यन जातियां उत्तर की बर्बर जातियां थीं जो शीतप्रधान प्रदेशों से आकर भूमध्यतटवर्ती योरोप की और द्राविड भारत की प्राचीन तथा समृद्ध सभ्य जातियों के अन्दर आ घुसी थीं।

परन्तु वेद में वे निर्देश, जिनसे कि इस हाल के आर्यन आक्रमण की कल्पना का निर्माण हुआ है, संख्या में बहुत ही थोडे है और अपने अर्थ में अनिश्चित हैं। वहा ऐसे किसी आक्रमण का वास्तविक उल्लेख कहीं नही मिलता। आर्यों और अनार्यों के बीच का भेद जिसपर इतना सब कुछ निर्भर है, बहुत से प्रमाणो से यह प्रतीत होता है कि, वह कोई जातीय भेद नही, बल्कि सास्कृतिक भेद था।[1]

सूक्तो की भाषा स्पष्ट तौर पर सकेत करती है कि एक विशेष प्रकार की पूजा या आध्यात्मिक सस्कृति ही आर्यों का भेदक चिह्न थी–प्रकाश की और प्रकाश की शक्तियो की पूजा तथा एक आत्म-नियन्त्रण जो 'सत्य' की सस्कृति और अमरता की अभीप्सा, ऋतम् और अमृतम्, पर आश्रित था। किसी जातीय भेद का कोई भी विश्वसनीय निर्देश वेद में नही मिलता। यह हमेशा सम्भव है कि इस समय भारत में बसनेवाले जन-समुदाय का प्रधान भाग उस एक नयी जाति का वशज हो जो अधिक उत्तरीय अक्षो से–या यह भी हो सकता है, जैसा कि श्रीयुत तिलक ने युक्तियो द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है कि, उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशो से–आयी थी, परन्तु वेद में इस विषय मे कुछ नही है, जैसे कि देश की वर्तमान जातिविज्ञानसम्बन्धी[2] मुखाकृतियो में भी यह सिद्ध करने के लिये कोई

---

[1]यह कहा जाता है कि गौर वर्णवाले और उभरी हुई नासिकावाले आर्यों के प्रतिकूल दस्युओ का वर्णन इस रूप में आता है कि वे काली त्वचावाले और बिना नासिकावाले (अनस्) है। परन्तु इनमें जो पहला सफेद और काले का भेद है, वह तो निश्चय ही 'आर्य देवो' तथा 'दासशक्तियो के लिये 'प्रकाश' और 'अन्धकार' के अर्थ म प्रयुक्त किया गया है। और दूसरेके विषय में पहिली बात यह है कि 'अनस्' शब्द का अर्थ 'बिना नासिका वाला नही है। पर यदि इसका यह अर्थ होता, तो भी यह द्राविड जातियो के लिये तो कभी भी प्रयुक्त नही हो सकता था, क्योकि दाक्षिणात्य लोगो की नासिका अपने होने का वैसा ही अच्छा प्रमाण दे सकती है, जैसा कि उत्तर देशो मे आर्यों की शुण्डाकार उभरी हुई, कोई भी नाक दे सकती है।

[2]भारत में हम प्राय भारतीय जातियो के भाषा-विज्ञान द्वारा किये गये उन

प्रमाण नहीं है कि, यह आर्यों का नीचे उतरना वैदिक सूक्तों के काल के आसपास हुआ अथवा यह गौरवर्णवाले बर्बर लोगों के एक छोटे से समुदाय का सभ्य द्राविड प्रायद्वीप के अन्दर शनैः प्रवेश था।

न ही हमारे पास अनुमान करने को जो आधार है उनसे यह निश्चित परिणाम निकलता है कि प्राचीन आर्य-संस्कृतियां—यह मानकर कि केल्ट, टघूटन, ग्रीक तथा भारतीय संस्कृतियां एक ही साधारण सांस्कृतिक उद्गम को सूचित करती हैं—अविकसित तथा जंगली थीं।

उनके बाहरी जीवन में तथा जीवन के संगठन में एक विशुद्ध तथा उच्च सरलता का होना, जिन देवताओं की वे पूजा किया करते थे उनके प्रति अपने विचार में तथा उनके साथ अपने सम्बन्धों में एक निश्चित मूर्तरूपता तथा स्पष्ट मानवीय परिचय का होना, आर्यन स्वरूप को उसमे अधिक शानदार और भौतिकवादी मिश्र-खाल्दियन (Egypto-chaldean) सभ्यता से तथा इसके गम्भीरता दिखानेवाले और गुह्यता रखनेवाले धर्मों से भिन्न करता है। परन्तु (आर्यन संस्कृति की) ये विशेषतायें एक उच्च आन्तरिक संस्कृति के साथ असंगत नहीं है। इसके विपरीत एक महान् आध्यात्मिक परम्परा के चिह्न हमें बहुत से स्थलों पर वहां मिलते हैं और वे इस साधारण कल्पना का प्रतिषेध करते हैं।

पुरानी केल्टिक जातियों में निश्चय ही कुछ उच्चतम दार्शनिक विचार पाये जाते थे और वे अबतक उन विचारों पर अकित एक उस आदिम रहस्यमय तथा अन्तर्ज्ञानमय विकास के परिणाम को सुरक्षित रखे हुए हैं, जिसे कि ऐसे चिर-

---

पुराने विभागों से और मिस्टर रिस्ले (Mr. Risley) की उन कल्पनाओं से ही परिचित है, जो कि पहिले के किये गये उन्हीं साधारणीकरणों पर आश्रित है। परन्तु अपेक्षाकृत अधिक उन्नत जातिविज्ञान अब सभी शब्दव्युत्पत्ति-सम्बन्धी कसौटियों को मानने से इन्कार करता है और इस विचार की ओर अपना झुकाव रखता है कि भारत के प्रायद्वीप पर एक ही प्रकार की जाति निवास करती थी।

स्थायी परिणामो को पैदा करने के लिये चिरकाल से स्थिर और अत्यधिक विकसित हो चुकना चाहिये था। ग्रीस में, यह बहुत सम्भव है कि, हैलेनिक रूप (Hellenic Type) को उसी तरह ऑर्फिक और ऐलूसीनियन (orphic and eleusinian) प्रभावों के द्वारा ढाला गया हो और ग्रीक गाथाशास्त्र, जैसा कि यह सूक्ष्म आध्यात्मिक निर्देशो से भरा हुआ हमें प्राप्त हुआ है, ऑर्फिक शिक्षा की ही वसीयत हो।

सामान्य परम्परा के साथ इसकी सगति तभी लग सकती है, यदि यह निकल आवे कि शुरू से आखिर तक सारी-की-सारी भारतीय सभ्यता उन प्रवृत्तियो और विचारो का विस्तार रही है, जिन्हे कि हमारे अन्दर वैदिक पुरुषाओ 'पितरो ने' बोया था। इन प्राचीन संस्कृतियो की असाधारण जीवन-शक्ति, जो अब-तक हमारे लिये हमें आधुनिक मनुष्य के मुख्य रूपो का, उसके स्वभाव के मुख्य अगो का, उसके विचार, कला और धर्म की मुख्य प्रवृत्तियो का निर्धारण कराती है, किसी आदिम जगलीपन से निकली हुई नही हो सकती। ये एक गभीर और प्रबल प्रागैतिहासिक विकास के परिणाम है।

तुलनात्मक गाथाशास्त्र ने मानवीय उन्नति के बीच मे आनेवाले इस महत्त्वपूर्ण क्रम की उपेक्षा करके मनुष्य के प्रारम्भिक परम्पराओ-सम्बन्धी ज्ञान को विकृत कर दिया है। इसने अपनी व्याख्या का आधार एक ऐसे सिद्धान्त को बनाया है, जिसने प्राचीन जगलियो और प्लेटो या उपनिषदो के बीच में और कुछ भी नही देखा। इसने यह कल्पना की है कि प्राचीन धर्मों की नीव जगली लोगो के उस महान् आश्चर्य पर पडी हुई है, जो कि उन्हे तब हुआ जब कि उन्हे अचानक ही इस आश्चर्यजनक तथ्य का बोध हुआ कि उषा, रात्रि और सूर्य जैसी अद्भुत वस्तुए विद्यमान है, और उन्होने उनकी सत्ता को एक असस्कृत, जगली और काल्पनिक तरीके से शब्दो में प्रकट करने का यत्न किया। और इस बच्चो के से आश्चर्य से उछकर हम अगले ही कदम में छलाग मारकर ग्रीक, दार्शनिक तथा वैदान्तिक ऋषियो के गम्भीर सिद्धातो तक पहुच जाते है। तुलनात्मक गाथाशास्त्र एक यूनानीभाषा-विज्ञो की कृति है, जिसके द्वारा गैरयूनानी बातो की व्याख्या की गयी है और वह भी एक ऐसे दृष्टिबिन्दु से जिसका स्वय

आधार ही प्रति मन को गलत तौर से समझने पर है। इसकी प्रणाली कवितामय कल्पना का एक प्रतिभासूचक खेल है, इसकी अपेक्षा कि यह कोई धीरतापूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण हो।

इस प्रणाली के परिणामों पर यदि हम दृष्टि डालें, तो हम वहां रूपकों की और उनकी व्याख्याओं की एक असाधारण गडबड पाते हैं, जिनमें कि कहीं भी कोई संगति या सामञ्जस्य नहीं है। यह एक विस्तृत वर्णनों का समुदाय है, जो एक दूसरेमें प्रवेश कर रहा है, गडबडी के साथ एक दूसरेके मार्ग में आ रहा है एक दूसरेके साथ असहमत है तो भी उसके साथ उलझा हुआ है और इनकी प्रामाणिकता निर्भर करती है केवल उन काल्पनिक अटकलों पर जिन्हें कि ज्ञान का एकमात्र साधन समझकर खुली छुट्टी दे दी गयी है। यहांतक कि इस असंगति को इतने उच्च पद पर पहुचा दिया गया है कि इसे सच्चाई का एक मानदण्ड समझा गया है, क्योंकि प्रमुख विद्वानों ने यह गम्भीरतापूर्वक युक्ति की है कि अपेक्षाकृत अधिक तर्कसम्मत और सुव्यवस्थित परिणाम पर पहुचनेवाली कोई प्रणाली इसीसे खण्डित और अविश्वसनीय साबित हो जाती है चूंकि उसमें संगति पायी जाती है, क्योंकि (वे कहते हैं) यह अवश्य मानना चाहिये कि, गडबडी का होना यह प्राचीन गाथाविज्ञानात्मक योग्यता का एक आवश्यक तत्त्व ही था। परन्तु उस अवस्था में तुलनात्मक गाथा-विज्ञान के परिणामों में कोई चीज नियन्त्रण करनेवाली नहीं हो सकती और एक कल्पना वैसी ही ठीक होगी, जैसी कि कोई दूसरी, क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं है कि, क्यों असंबद्ध वर्णना के किसी एक विशेष समुदाय को उससे भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किये गये दूसरे किसी असम्बद्ध वर्णनों के समुदाय की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक समझा जावे।

तुलनात्मक गाथा-विज्ञान की मीमांसाओं में बहुत कुछ है जो कि उपयोगी है, परन्तु इसके लिये कि, इसके अधिकांश परिणाम युक्तियुक्त और स्वीकार करने लायक हो सकें, इसे अपेक्षया अधिक धैर्यसाध्य और सघन प्रणाली का प्रयोग करना चाहिये और इस अपना संगठन एक सुप्रतिष्ठित धर्मविज्ञान (Science of Religion) के अंग के रूप में ही करना चाहिये। हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि प्राचीन धर्म ऐसे विचारों पर आश्रित अग-

प्रत्ययुक्त सस्थान थे, जो विचार कि कम-से-कम उतने ही सगत थे जितने कि हमारे धर्मविश्वासो के आधुनिक सस्थानो को बनानेवाले विचार है। हम यह भी मानना चाहिये कि धार्मिक सप्रदाय और दार्शनिक विचार के पहिले के सस्थाना से लेकर बाद म आनेवाले सस्थानो तक सर्वथा बुद्धिगम्य ही क्रमिक विकास हुआ है। इस भावना के साथ जब हम प्रस्तुत सामग्री का विस्तृत रूप से और गभीर रूप से अध्ययन करेगे, तथा मानवीय विचार और विश्वास के सच्चे विकास का अन्वेषण करेग, तभी हम वास्तविक सत्य तक पहुच सकेगे।

ग्रीक और सस्कृत नामो की केवलमात्र तद्रूपता और इन बाता का चातुर्यपूर्ण अन्वेषण कि हैरेक्ल की चिता (Heracle's pyre) अस्त होते हुए सूर्य का प्रतीक है या पारिस (Paris) और हैलन (Helen) वेद के 'सरमा' और 'पणिया' के ही ग्रीक अपभ्रश है, कल्पना प्रधान मन के लिये एक रोचक मनोरञ्जन का विषय अवश्य है, परन्तु अपने-आपम ये किसी गभीर परिणाम पर नही पहुचा सकती, चाहे यह भी सिद्ध क्यो न हो जाय कि ये बाते ठीक है। न ही वे ऐसी ठीक ही है कि उनपर गभीर सन्देह की गुन्जाइश न हो, क्योकि उस अधूरी तथा कल्पनात्मक प्रणाली का, जिसके द्वारा कि सूर्य और नक्षत्र-गाथा की व्याख्याए की गयी है, यह एक दोष है कि वे एक-सी ही सुगमता और विश्वासजनकता के साथ किसी भी, और प्रत्येक ही मानवीय परम्परा, विश्वास या इतिहास की वास्तविक घटना* तक के लिय प्रयुक्त की जा सकती है। इस प्रणाली को लेकर हम कभी भी निश्चय पर नही पहुच सकते है कि कहा हमने वस्तुत किसी सत्य को जा पकडा है और कहा हम केवलमात्र बुद्धिचातुर्य की बाते सुन रहे है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative philology) सचमुच हमारी कुछ सहायता कर सकता है, परन्तु अपनी वर्तमान अवस्था मे वह भी

*उदाहरणार्थ, एक बडा विद्वान् हमें यह निश्चय दिलाता है कि, ईसा और उसके १२ देवदूत, सूर्य और १२ महीने है। नेपोलियन का चरित्र सारे कथानक या इतिहास म सबसे अधिक पूर्ण सूर्यगाथा है।

गयी है कि, इसमे भाषा-विज्ञानसम्बन्धी गलती है, वल यह हो सकता है कि इसे फिर से मान लिया जाय। 'परमे व्योमन्' एक वैदिक मुहावरा है, जिसका कि हममेंसे अधिकाश "उच्चतम आकाश मे" यह अनुवाद करेगे, परन्तु श्रीयुत टी. परम शिव अय्यर अपने बौद्धिक चमक-दमक से युक्त और आश्चर्यजनक ग्रथ "दि ऋक्स" ('ऋग्वेद के मंत्र') मे हमें बताते है कि इसका अर्थ है, "निम्नतम गुहा में" क्योकि 'व्योमन्' का अर्थ होता है "विच्छेद, दरार" और शाब्दिक अर्थ है, "रक्षा (ऊमा) का अभाव" और जिस युक्ति-प्रणाली का उन्होने प्रयोग किया है, वह आधुनिक विद्वान् की प्रणाली के ऐसी अनुरूप है कि, भाषाविज्ञानी इसे यह कहकर अमान्य नही कर सकता कि "रक्षा के अभाव" का अर्थ दरार होना सभव नही है और यह कि मानवीय भाषा का निर्माण ऐसे नियमो के अनुसार नही हुआ है।

यह इसीलिये है क्योकि भाषा-विज्ञान उन नियमो का पता लगाने मे असफल रहा है जिन नियमो पर कि भाषा का निर्माण हुआ है, या यह कहना अधिक ठीक है कि, जिन नियमो से भाषा का शनैः शनैः विकास हुआ है, और दूसरी ओर इसने एकमात्र कल्पना और बुद्धिकौशल की पुरानी भावना को पर्याप्त रूप मे कायम रखा है और यह सदिग्ध अटकलो की ठीक इस प्रकार की (जैसी कि, श्री अय्यर ने दिखलायी है) बौद्धिक चमक-दमक से ही भरा पडा है। लेकिन तब हम इस परिणाम पर पहुचते है कि, हमें इस बात के निर्णय मे सहायता देने के लिये इसके पास कुछ नही है कि वेद का 'परमे व्योमन्' 'उच्चतम आकाश' की ओर निर्देश करता है या 'निम्नतम खाई' की ओर। यह स्पष्ट है कि ऐसा अपूर्ण भाषाविज्ञान वेद का आशय समझने के लिये कही-कही एक उज्ज्वल सहायता तो हो सकता है, परन्तु एक निश्चित पथप्रदर्शक कभी नही हो सकता।

यह बात वस्तुत. हमे माननी चाहिये कि वेद के सबध मे विचार करते हुए योरोपियन पाण्डित्य को, योरोप मे हुई वैज्ञानिक प्रगति के साथ जो उनका सम्बन्ध है उसके कारण, आम जनता के मनो मे कुछ अतिरिक्त प्रतिष्ठा मिल जाती है। पर सत्य यह है कि स्थिर, निश्चित और यथार्थ भौतिक विज्ञानो के तथा जिनपर वैदिक पाण्डित्य निर्भर करता है ऐसी इन विद्वत्ता की दूसरी उज्ज्वल

किन्तु अपरिपक्व शाखाओं के बीच एक बड़ी भारी खाई है। वे (भौतिक-विज्ञान) अपनी स्थापना में मनर्क, उसके व्याप्तीकरण में मद, अपने परिणामों में सतर्क हैं और ये (दूसरी विद्वत्ता की शाखायें) कुछ थोड़े से स्वीकृत तत्वों पर विशाल और व्यापक सिद्धान्तों को बनाने के लिये बाध्य हुई हैं और किन्हीं निश्चित निर्देशों को न दे सकने की अपनी कमी को अटकलों और कल्पनाओं के अतिरेक द्वारा पूरी करती है। ये ज्वलन्त प्रारम्भों से तो भरी पड़ी हैं, पर किसी सुरक्षित परिणाम पर नहीं पहुंच सकतीं। ये विज्ञान (पर चढ़ने) के लिये प्रारंभिक असंस्कृत मञ्च अवश्य हैं, पर अभीतक विज्ञान नहीं बन पायी हैं।[१]

इससे यह परिणाम निकलता है कि वेद की व्याख्या की सम्पूर्ण समस्या अब-तक एक खुला क्षेत्र है जिसमें किसी भी सहायता का, जो कि इस समस्या पर प्रकाश डाल सके, स्वागत किया जाना चाहिये। तीन इस प्रकार की सहाय-ताएँ भारतीय विद्वानों से आयी हैं। उनमें दो योरोपियन अनुसन्धान के पद-चिह्नों या प्रणालियों का अनुसरण करती हैं, फिर भी उन नयी कल्पनाओं को प्रस्तुत करती हैं, जो यदि सिद्ध हो जाय, तो मन्त्रों के बाह्य अर्थ के विषय में हमारे दृष्टिकोण को बिल्कुल बदल दें। श्रीयुत तिलक ने "वेद में आर्यों का उत्तरीय-ध्रुवनिवास" (Arctic Home in the Vedas) नामक पुस्तक में योरो-पियन पाण्डित्य के सामान्य परिणामों को स्वीकार कर लिया है, परन्तु वैदिक उषा की, वैदिक गौओं के अलंकार की और मन्त्रों के नक्षत्र विद्यासम्बन्धी तत्त्वों की नवीन परीक्षा के द्वारा यह स्थापना की है कि, कम-से-कम इस बात की बहुत अधिक सम्भावना तो है ही कि, आर्यजातियां प्रारम्भ में, हिम-युग में, उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशों से उतरकर आयीं।

श्रीयुत टी० परम शिव अय्यर ने और भी अधिक साहस के साथ योरोपियन पद्धतियों से अपनेको जुदा करते हुए यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि सारा-का-सारा ऋग्वेद आलंकारिक रूप से उन भू-गर्भसंबंधी घटनाओं का वर्णन है, जो कि उस समय में हुई जब कि चिरकाल से जारी हिम-सहति का विनाश समाप्त हुआ और उसके पश्चात् भौमिक विकास के उसी युग में हमारे ग्रह का नवीन जन्म हुआ था। यह कठिन है कि श्रीयुत अय्यर की युक्तियों और परिणामों को

सामूहिक रूप में स्वीकार किया जाय, परन्तु यह तो है कि कम-से-कम उसने वेद की 'अहि वृत्र' की महत्त्वपूर्ण गाथा पर और सात नदियों के विमोचन पर एक नया प्रकाश डाला है। उसकी व्याख्या प्रचलित कल्पना (Theory) की अपेक्षा कहीं बहुत अधिक सगत और सम्भव है, जब कि प्रचलित कल्पना मन्त्रो की भाषा से कदापि पुष्ट नहीं होती। तिलक के ग्रथ के साथ मिलाकर देखने से यह इस प्राचीन धर्मशास्त्र वेद की एक नवीन बाह्य व्याख्या के लिये प्रारम्भ-बिन्दु का काम दे सकती है और इससे उस बहुत से अश का स्पष्टीकरण हो जायगा, जो अबतक अव्याख्येय बना हुआ है, तथा यह हमारे लिये यदि प्राचीन आर्यजगत् की वास्तविक भौतिक परिस्थितियो को नहीं तो कम-से-कम भौतिक प्रारम्भो को तो नया रूप प्रदान कर देगी।

तीसरी भारतीय सहायता तिथि में अपेक्षया कुछ पुरानी है, परन्तु मेरे वर्तमान प्रयोजन के अधिक नजदीक है। यह है वेद को फिर से एक सजीव धर्मपुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिये आर्यसमाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द के द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भारतीय भाषा विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार बनाया, जिसे कि उसने निरुक्त में पाया था। स्वय एक सस्कृत का महाविद्वान् होते हुए, उसने उसके पास जो सामग्री थी, उसपर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन सस्कृत-भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्त्व का उसने रचनात्मक प्रयोग किया, जो कि सायण के "धातुओ की अनेकार्थता" इस एक वाक्याश से बहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि, इस तत्त्व का, इस मूलसूत्र का ठीक ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियो की निराली प्रणाली समझने के लिये बहुत अधिक महत्त्व रखता है।

दयानन्द की मन्त्रो की व्याख्या इस विचार से नियन्त्रित है कि, वेद धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्य का एक पुञ्ज ईश्वरप्रेरित ज्ञान है। वेद की धार्मिक शिक्षा एकदेवतावाद की है और वैदिक देवता एक ही देव के भिन्न भिन्न वर्णनात्मक नाम है साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियों के सूचक भी है जिन्हे कि हम प्रकृति म कार्य करता हुआ देखते हैं, और वेदो के आशय को सच्चे रूप में समझकर हम उन सभी वैज्ञानिक सचाइयो पर पहुच सकते है जिनका कि आधुनिक अन्वेषण

द्वारा आविष्कार हुआ है।

इस प्रकार के सिद्धान्त की स्थापना करना, स्पष्ट ही, बड़ा कठिन काम है। अवश्य ही ऋग्वेद स्वयं कहता है[1] कि, देवता एक ही विश्वव्यापक सत्ता के केवल भिन्न नाम और अभिव्यक्तियां हैं जो सत्ता कि अपनी निजी वास्तविकता में विश्व को अतिक्रमण किये हुए है, परन्तु मन्त्रों की भाषा से देवताओं के विषय में निश्चित रूप से हमें यह पता लगता है कि वे न केवल एक देव के भिन्न भिन्न नाम, किन्तु साथ ही उस देव के भिन्न भिन्न रूप, शक्तियां और व्यक्तित्व भी हैं। वेद का एकदेवतावाद विश्व की अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी और यहांतक कि बहुदेवतावादी दृष्टियों को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है और यह किसी भी प्रकार से आधुनिक ईश्वरवाद का कटा-छँटा और सीधा-सा रूप नहीं है। यह केवल मूल वेद के साथ जबर्दस्ती करने से ही हो सकता है कि हम इसपर ईश्वरवाद के इसकी अपेक्षा किसी कम जटिल रूप को मढ़ देने में कामयाब हो सकें।

यह बात भी मानी जा सकती है कि प्राचीन जातियां भौतिक विज्ञान में उसकी अपेक्षा कहीं बहुत अधिक उन्नत थीं जितना कि अभीतक स्वीकार किया जाता है। हमें मालूम है कि मिश्र और काल्डिया के निवासी बहुत से आविष्कार कर चुके थे जिन्हें कि विज्ञान ने आधुनिक विज्ञान के द्वारा पुनराविष्कृत किया है और उनमेंसे बहुत से ऐसे भी हैं जो फिर से आविष्कृत नहीं किये जा सके हैं। प्राचीन भारतवासी, कम-से-कम, कोई छोटे-मोटे ज्योतिर्विद् नहीं थे और वे सदा कुशल चिकित्सक थे। न ही हिन्दुवैद्यकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र का उद्भव विदेश से हुआ प्रतीत होता है। यह संभव है कि भौतिक विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी भारतवासी प्राचीन काल में भी उन्नत रहे हों। परन्तु यह सिद्ध करने के लिये कि वेदों में वैज्ञानिक ज्ञान बिल्कुल पूर्ण रूप में प्रकट हुआ, जैसा कि स्वामी दयानन्द का कथन है, बहुत अधिक प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

वह स्थापना जिसे कि मैं अपनी परीक्षा का आधार बनाऊंगा, यह है कि वेद

---

[1] इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋग् १-१६४-४६)

द्विविध रूप रखता है और उन दोनो रूपों को, यद्यपि वे परस्पर बहुत घनिष्ठता के साथ सम्बद्ध हैं, हम पृथक्-पृथक् ही रखना चाहिये। ऋषियो ने अपनी विचार की सामग्री को एक समानान्तर तरीके से व्यवस्थित किया था, जिसके द्वारा कि एक ही देवता एक साथ विराट् प्रकृति की आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनो शक्तियो के रूप मे प्रकट हो जाते थे और उन्होंने इसे एक ऐसी द्वयर्थक प्रणाली से अभिव्यक्त किया कि जिसमे एक ही भाषा दोनो रूपो में उनकी पूजा के प्रयोजन को सिद्ध कर देती थी। परन्तु भौतिक अर्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान है और अपेक्षया अधिक व्यापक घनिष्ठता के साथ ग्रथित तथा अधिक सगत है। वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्म-साधना के लिये अभिप्रेत है। इसलिये यही अर्थ है जिसे कि प्रथम हमें पुनरुज्जीवित करना चाहिये।

इस कार्य म व्याख्या की प्रत्येक, प्राचीन तथा आधुनिक, प्रणाली एक अनिवार्य सहायता देती है। सायण और यास्क बाह्य प्रतीकों के कर्मकाण्डमय ढाचे का और अपनी परम्परागत व्याख्याओ तथा स्पष्टीकरणों के बडे भारी भण्डार को प्रस्तुत करते है। उपनिषदें प्राचीन ऋषियो के आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारो को जानने के लिये अपने मूलसूत्र हमें पकडाती है और आध्यात्मिक अनुभूति तथा अन्तर्ज्ञान की अपनी प्रणाली को हमतक पहुचाती हैं। योरोपियन पाडित्य तुलनात्मक अनुसन्धान की एक आलोचनात्मक प्रणाली का देता है, जो प्रणाली यद्यपि अभीतक अपूर्ण है, परन्तु तो भी जो साधन अबतक प्राप्य हैं उन्हे बहुत अधिक उन्नत कर सकती है और जो निश्चित रूप से अन्त में जाकर एक वैज्ञानिक निश्चयात्मकता तथा दृढ बौद्धिक आधार का दे सकेगी जो कि अबतक प्राप्त नही हुआ है। दयानन्द ने ऋषियो के भाषासम्बन्धी रहस्य का मूलसूत्र हमे पकडा दिया है और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् म एक ही देव की सत्ता है और भिन्न भिन्न देवता अनेक नामो और रूपो से उस एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं।

मध्यकालीन भूत से इतनी सहायता लेकर हम अब भी इस सुदूरवर्त्ती प्राचीनता का पुनर्निर्माण करने में सफलता प्राप्त कर सकते है और वेद के द्वार से प्रागैतिहासिक ज्ञान के विचारो तथा सचाइयो के अन्दर प्रवेश पा सकते है।

पांचवां अध्याय

आध्यात्मिकवाद के आधार

वेदों के अर्थ के विषय में कोई वाद निश्चित और युक्तियुक्त हो सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसे आधारपर टिका हो जो कि स्पष्ट तौर पर स्वयं वेद की ही भाषा में विद्यमान हो। चाहे वेद में जो सामग्री है उसका अधिक भाग प्रतीकों और अलंकारों का एक समुदाय हो, जिसका आशय कि खोजकर पता लगाने की आवश्यकता है, तो भी मंत्रों की स्पष्ट भाषा में ही हमें साफ साफ निर्देश मिलने चाहियें जो कि वेद का आशय समझने में हमारा पथप्रदर्शन करें। नहीं तो, क्योंकि प्रतीक स्वयं संदिग्ध अर्थ को देनेवाले है, यह खतरा है कि ऋषियों ने जिन अलंकारों को चुना है उनके वास्तविक अभिप्राय को ढूंढ निकालने के बजाय कहीं हम अपनी स्वतंत्र कल्पनाओं और पसंदगी के बलपर कुछ और ही वस्तु न गढ़ डालें। इस अवस्था में, हमारा सिद्धांत चाहे कितना ही बुद्धिपूर्वक और पूर्ण क्यों न हो, यह हवाई किले बनाने के समान होगा जो कि बेशक शानदार हो पर उसमें कोई वास्तविकता या सार नहीं होगा।

इसलिये हमारा सबसे पहिला कर्तव्य यह है कि हम इस बात का निश्चय करें कि, अलंकारों और प्रतीकों के अतिरिक्त, वेदमंत्रों की स्पष्ट भाषा में आध्यात्मिक विचारों का पर्याप्त बीज विद्यमान है या नहीं, जो कि हमारी इस कल्पना को न्यायोचित सिद्ध कर सके कि वेद का जंगली और अनघड़ अर्थ की अपेक्षा एक उच्चतर अर्थ है। और इसके बाद हमें, जहां तक हो सके स्वयं सूक्तों की अन्तःसाक्षी के ही द्वारा, प्रत्येक प्रतीक और अलंकार का वास्तविक अभिप्राय क्या है तथा वैदिक देवताओं में से प्रत्येक का अलग-अलग ठीक ठीक आध्यात्मिक व्यापार क्या है यह मालूम करना होगा। वेद की प्रत्येक नियत परिभाषा का एक स्थिर, न कि इच्छानुसार बदलता रहनेवाला, अर्थ पता लगाना होगा जिसकी कि प्रामाणिकता ठीक-ठीक भाषाविज्ञान से पुष्ट होती हो और जो कि उस प्रकरण में जहां

कि वह शब्द आता है स्वभावत ही बिल्कुल उपयुक्त बैठता हो। क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वेदमन्त्रो की भाषा एक नियत तथा अपरिवर्तनीय भाषा है, यह सावधानी के साथ सुरक्षित तथा निर्दोष रूप मे आदर पायी हुई वाणी है, जो कि या तो एक विधिविधानसम्बन्धी सम्प्रदाय और याज्ञिक कर्मकाड का अथवा एक परम्परागत सिद्धान्त और सतत अनुभूति को सतर्कतापूर्वक अभिव्यक्त करती है। यदि वैदिक ऋषियो की भाषा स्वच्छन्द तथा परिवर्तनीय होती, यदि उनके विचार स्पष्ट तौर से तरल अवस्था म, अस्थिर और अनियत होते, तब तो हम जो ऐसा कहते हैं कि उनकी परिभाषाओ म जैसा चाहो वैसा अर्थ कर लेने की सुलभ छूट है तथा असगति है यह बात एव उन के विचारो में हम जो कुछ सम्बन्ध निकालते हैं, वह सब न्याय्य अथवा सह्य हो सकता था। परन्तु वेदमन्त्र स्वय बिल्कुल प्रत्यक्ष ही ठीक इसके विरुद्ध साक्षी देते ह। इसलिये हमें यह माग उपस्थित करने का अधिकार है कि व्याख्याकार को अपनी व्याख्या करते हुए वैसी ही सचाई और सतर्कता रखनी चाहिये, जैसे कि उस मूल म रखी गयी है जिसकी कि वह व्याख्या करना चाहता है। वैदिक धर्म के विभिन्न विचारो और उसकी अपनी परिभाषाओ में स्पष्ट ही एक अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उनकी व्याख्या मे यदि असगति और अनिश्चितता होगी, तो उससे केवल यही सिद्ध होगा कि व्याख्याकार ठीक-ठीक सम्बन्ध को पता लगाने म असफल रहा है, न कि यह कि वेद की प्रत्यक्ष साक्षी भ्रान्तिजनक है।

इस प्रारम्भिक प्रयास को सतर्कता तथा सावधानी के साथ कर चुकने के पश्चात् यदि मन्त्रो के अनुवाद के द्वारा यह दिखाया जा सके कि जो अर्थ हमने निश्चित किये थे वे स्वाभाविकतया और आसानी के साथ किसी भी प्रकरण म ठीक बैठते हैं, यदि उन अर्थों को हम ऐसा पाये कि उनसे धुधले दीखनेवाले प्रकरण स्पष्ट हो जाते हैं और जहा पहिले केवल असगति और अव्यवस्था मालूम होती थी वहा उनसे समझ म आने योग्य और स्पष्ट-स्पष्ट सगति दीखने लगती है, यदि पूरे-के-पूरे सूक्त इस प्रकार एक स्पष्ट और सुसम्बद्ध अभिप्राय को देने लग जाय और क्रमबद्ध मन्त्र सम्बद्ध विचारो की एक युक्तियुक्त शृखला को दिखाने लगे, और कुल मिलाकर जो परिणाम निकले वह यदि सिद्धान्तो का एक गम्भीर, सगत तथा पूर्ण समुदाय हो,

सो हमारी कल्पना को यह अधिकार होगा कि वह दूसरी कल्पनाओं के मुकाबले में खड़ी हो और जहा वे इसके विरोध में जाती हो वहा उन्हें ललकारे या जहा वे इसके परिणामो से सगति रखती हो वहा उन्हें पूर्ण बनाये। न ही उस अवस्था में हमारी स्थापना की सभवनीयता अपेक्षाकृत कम होगी, बल्कि इसके विपरीत इसकी प्रामाणिकता पुष्ट ही होगी, यदि यह पता लगे कि इस प्रकार वेद में जो विचारो और सिद्धातो का समुदाय प्रकट हुआ है वह उन उत्तरवर्ती भारतीय विचार और धार्मिक अनुभूति का एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूप है, जो कि स्वभावत वेदान्त और पुराण के जनक हुए हैं।

ऐसा बडा और सूक्ष्म प्रयास इस छोटी-सी और सक्षिप्त लेखमाला के क्षेत्र से बाहर की बात है। इन अध्यायो को लिखने का मेरा प्रयोजन केवल यह है कि उनके लिये जो कि उस सूत्र का अनुकरण करना चाहते है जिसे कि मैंने पाया है, उस मार्ग का और उसमें आनेवाले मुख्य-मुख्य मोडो का दिग्दर्शन कराऊ— उन परिणामो का दिग्दर्शन कराऊ जिनपर कि मैं पहुचा हू और उन मुख्य निर्देशों का जिनके द्वारा कि वेद स्वयमेव उन परिणामो तक पहुचने में हमारी सहायता करता है। और सबसे पहिले, यह मुझ उचित प्रतीत होता है कि, मैं यह स्पष्ट कर दू कि यह कल्पना मेरे अपने मन म किस प्रकार उदय हुई, जिससे कि पाठक जिस दिशा को मैंने अपनाया है उसे अधिक अच्छी प्रकार समझ सके, अथवा हो सकता है कि, मेरे कोई पूर्वपक्षपात या मेरी अपनी वैयक्तिक अभिरुचिया हो जिन्होंने कि इस कठिन प्रश्न पर होनेवाली युक्ति-शृखला के यथोचित प्रयोग को सीमित कर दिया हो या उसे प्रभावित किया हो तो उसको, यदि पाठक चाहे, निवारण कर सके।

जैसा कि अधिकाश शिक्षित भारतीय करते है, मैंने भी स्वय वेद को पढने से पहले ही बिना परीक्षा किये योरोपियन विद्वानो के परिणामो को कुछ भी प्रतिकार किये बगैर वैसा का वैसा ही स्वीकार कर लिया था, जो परिणाम कि प्राचीन मन्त्रों की धार्मिक दृष्टि तथा ऐतिहासिक व जाति विज्ञानसम्बन्धी दृष्टि दोनोके विषय में थे। इसके फलस्वरूप, फिर आधुनिक रग में रगे हिन्दूधर्म के स्वीकृत सामान्य दिशा का ही अनुसरण करते हुए, मैंने उपनिषदो को ही भारतीय विचार

और धर्म का प्राचीन स्रोत, सच्चा वेद, ज्ञान की आदिपुस्तक समझ लिया था। ऋग्वेद के जो आधुनिक अनुवाद प्राप्त हैं, केवलमात्र वही सब कुछ था जो कि मैं इस गम्भीर धर्मपुस्तक के विषय में जानता था और इस ऋग्वेद को मैं यही समझता था कि यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण लेखा है, परन्तु विचार के इतिहास के रूप में या एक सजीव आत्मिक अनुभूति के रूप में मुझे इसका मूल्य या इसकी महत्ता बहुत थोडी प्रतीत होती थी।

वैदिक विचार के साथ मेरा प्रथम परिचय अप्रत्यक्ष रूप से उस समय हुआ जब कि मैं भारतीय योग की विधि के अनुसार आत्मविकास की किन्ही दिशाओ में अभ्यास कर रहा था। आत्मविकास की ये दिशाए स्वत ही हमारे पूर्व पितरो से अनुसृत, प्राचीन और अब अनभ्यस्त मार्गों की ओर मेरे अनजाने ही प्रवृत्ति रखती थी। इस समय मेरे मन में प्रतीकरूप नामा की एक शृखला उठनी शुरू हुई, जो प्रतीक कि किन्ही ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियो से सम्बद्ध थे, जो अनुभूतिया नियमित रूप से होनी आरम्भ हो चुकी थी, और उनके बीच में तीन स्त्रीलिगी शक्तियो इला, सरस्वती, सरमा के प्रतीक आये, जो कि अन्तर्ज्ञानमय बुद्धि की चार शक्तियो में से तीन की—क्रमश स्वत प्रकाश (Revelation), अन्त प्रेरणा (Inspiration) और अन्तर्ज्ञान (Intuition) की द्योतक थी। इन नामो में से दो मुझे इस रूप में सुपरिचित नही थे कि ये वैदिक देवियो के नाम है, बल्कि इससे कही अधिक इनके विषय में मैं यह समझता था कि ये प्रचलित हिंदुधर्म या प्राचीन पौराणिक कथानको के साथ सबध रखती है अर्थात् 'सरस्वती विद्या की देवी है और 'इळा' चन्द्रवश की माता है। परतु तीसरी 'सरमा' से मैं पर्याप्त रूप से परिचित था। तथापि इसकी जो आकृति मेरे अदर उठी थी, उसम और स्वर्ग की कुतिया ('सरमा') में मैं कोई सबध निश्चित नही कर सका, जो कि 'सरमा मेरी स्मृति में आर्गिव हेलन (Argive Helen)* के साथ जुडी हुई थी और केवल उस भौतिक उषा के रूपक की द्योतक थी, जो खोयी हुई प्रकाश की गौओ को खोजते-खोजते

*ग्रीक गाथाशास्त्र की एक देवी।

अधकार की शक्तियों की गुफा में घुस जाती है। एक बार यदि मूलसूत्र मिल जाता, इस बात का सूत्र कि भौतिक प्रकाश मानसिक प्रकाश को निरूपित करता है, तो यह समझ जाना आसान था कि स्वर्ग की कुतिया ('सरमा') अतर्ज्ञान हो सकता है, जो कि अवचेतन मन (Subconscious mind) की अधेरी गुफाओ के अदर प्रवेश करता है, ताकि उन गुफाओ मे बद पडे हुए ज्ञान के चमकीले प्रकाशो को छुटकारा दिलाने की और छूटकर उनके जगमगाने की तैयारी करे। परतु वह सूत्र नहीं मिला, और मैं प्रतीक के किसी सादृश्य के बिना, केवल नाम के सादृश्य को कल्पित करने के लिये बाध्य हुआ।

पहिले-पहल गभीरतापूर्वक मेरे विचार वेद की ओर तब आकृष्ट हुए जब कि मैं दक्षिण भारत मे रह रहा था। दो बातो ने जो कि बलात् मेरे मन पर आकर पडी, उत्तरीय आर्य और दक्षिणीय द्रविडियो के बीच जातीय विभाग के मेरे विश्वास पर, जिस विश्वास को मैंने दूसरोंसे लिया था, एक भारी आघात पहुचाया। मेरा यह जातीय विभाग का विश्वास पूर्णत निर्भर करता था, उस कल्पित भेद पर जो कि आर्यों तथा द्रविडियो के भौतिक रूपो में किया गया है, तथा उस अपेक्षाकृत अधिक निश्चित विसवादिता पर जो कि उत्तरीय सस्कृतजन्य तथा दक्षिणीय सस्कृतभिन्न भाषाओं के बीच में पायी जाती है। मै उन नये मतो से तो अवश्य परिचित था, जिनके अनुसार कि भारत के प्रायद्वीप पर एक ही सवर्णजाति, द्रविड-जाति या भारत-अफगान (Indo-Afghan) जाति, निवास करती है, परतु अबतक मैंने इनको कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया था। पर दक्षिण भारत में मुझपर यह छाप पडने में बहुत समय नही लगा कि तामिल जाति में उत्तरीय या 'आर्यन' रूप विद्यमान है। जिधर भी मैं मुडा, एक चकित कर देनेवाली स्पष्टता के साथ मुझे यह प्रतीत हुआ कि मैं न केवल ब्राह्मणो में किंतु सभी जातियो और श्रेणियो में महाराष्ट्र, गुजरात, हिंदुस्थान के अपने मित्रो के उन्ही पुराने परिचित चेहरो, रूपो, आकृतियो को पहिचान रहा हू, बल्कि अपने प्रात बगाल के भी यद्यपि यह बगाल की समानता अपेक्षाकृत कम व्यापक रूप में फैली हुई थी। जो छाप मुझपर पडी, वह यह थी कि मानो उत्तर की सभी जातियो, उपजातियो की एक सेना दक्षिण म उतरकर आयी हो और आकर जो कोई भी लोग यहा पहिले से बस

हुए हों, उनमें हिल-मिल गयी हो। दक्षिणीय रूप (Type) की एक सामान्य छाप बची रही, परंतु व्यक्तियों की मुखाकृतियों का अध्ययन करते हुए उस रूप को दृढ़ता के साथ स्थापित कर सकना असंभव था। और अंत में यह धारणा बनाये बिना मैं नहीं रह सका कि जो कुछ भी संकर हो गये हों, चाहे जो भी प्रादेशिक भेद विकसित हो गये हों, सब विभेदों के पीछे सारे भारत में एक भौतिक –जैसे कि एक सांस्कृतिक–रूप (Type)[1] की एकता अवश्य है। शेषतः, यह है परिणाम जिसकी ओर पहुंचने की स्वयं जाति-विज्ञान[2]-संबंधी विचार भी बहुत अधिक प्रवृत्ति रखता है।

परंतु तो फिर उस तीव्र भेद का क्या होगा, जो कि भाषाविज्ञानियों ने आर्य तथा द्राविड जातियों के बीच में बना रखा है? यह समाप्त हो जाता है। यदि किसी तरह आर्यजाति के आक्रमण को मान ही लिया जाय, तो हमें या तो यह मानना होगा कि इसने भारत को आर्यों से भर दिया और इस तरह बहुत थोड़े-से अन्य परिवर्तनों के साथ इसीने यहां के लोगों के भौतिक रूप को निश्चित किया, अथवा यह मानना पड़ेगा कि एक कम सभ्य जाति के छोटे-छोटे दल ही यहां आ घुसे थे, जो कि बदलकर धीरे-धीरे आदिम निवासियों जैसे हो गये। तो फिर आगे हमें यह कल्पना करनी पड़ती है कि, ऐसे विशाल प्रायद्वीप में आकर भी जहां कि सभ्य

---

[1]मैंने यह पसंद किया है कि यहां जाति (Race) शब्द का प्रयोग न करूं क्योंकि जाति एक ऐसी चीज है जो जैसा कि इसके विषय में साधारणतया समझा जाता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक अस्पष्ट है और इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। 'जाति' के विषय में सोचते हुए सर्वसाधारण मन में जो तीव्र भेद प्रचलित हैं, वे यहां कुछ भी प्रयोजन के नहीं हैं।

[2]यह, यह मानकर कहा है कि जातिविज्ञानसंबंधी कल्पनाएं सर्वथा किसी प्रमाण पर आश्रित हैं। पर जातिविज्ञान का एकमात्र दृढ़ आधार यह मत है कि मनुष्य का कपाल वंशपरंपरा से अपरिवर्तनीय है जिस मत को कि अब ललकारा जाने लगा है। यदि यह असिद्ध हो जाता है तो इसके साथ यह सारा-का-सारा विज्ञान ही असिद्ध हो जाता है।

लोग रहते थे, जो कि बड़े-बड़े नगरों को बनानेवाले थे, दूर-दूर तक व्यापार करनेवाले थे, जो मानसिक तथा आत्मिक संस्कृति से भी शून्य नहीं थे, उनपर वे आक्रान्ता अपनी भाषा, धर्म, विचारों और रीतिरिवाजों को थोप देने में समर्थ हो सके। ऐसा कोई चमत्कार तभी संभव हो सकता था, यदि आक्रान्ताओं की बहुत ही अधिक संगठित अपनी भाषा होती, रचनात्मक मन की अधिक बड़ी शक्ति होती और अपेक्षया अधिक प्रबल धार्मिक विधि और भावना होती।

और दो जातियों के मिलाने की कल्पना को पुष्ट करने के लिये भाषा के भेद की बात तो सदा विद्यमान थी ही। परंतु इस विषय में भी मेरे पहिले के बने हुए विचार गड़बड़ और भ्रान्त निकले। क्योंकि तामिल शब्दों की परीक्षा करने पर, जो कि यद्यपि देखने में संस्कृत के रूप और ढंग से बहुत अधिक भिन्न प्रतीत होते थे, मैंने यह पाया कि वे शब्द या शब्द-परिवार जो कि विशुद्ध रूप में तामिल ही समझे जाते थे, संस्कृत तथा इसकी दूरवर्ती बहिन लैटिन के बीच में और कभी-कभी ग्रीक तथा संस्कृत के बीच में नये संबंधों की स्थापना करने में मेरा पथप्रदर्शन करते थे। कभी-कभी तामिल शब्द न केवल शब्दों के परस्पर संबंध का पता देते थे, बल्कि संबद्ध शब्दों के परिवार में किसी ऐसी कड़ी को भी सिद्ध कर देते थे जो कि मिल नहीं रही होती थी। और इस द्राविड भाषा के द्वारा ही मुझे पहिले-पहल आर्यन भाषाओं के नियम का जो कि मुझे अब सत्य नियम प्रतीत होता है, आर्यन भाषाओं के उत्पत्ति-बीजों का, या यों कहना चाहिये कि, मानो इनकी गर्भविद्या का पता मिला था। मैं अपनी जांच को पर्याप्त दूर तक नहीं ले जा सका जिससे कि कोई निश्चित परिणाम स्थापित कर सकता, परंतु यह मुझे निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि द्राविड और आर्यन भाषाओं के बीच में मौलिक संबंध उसकी अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ और विस्तृत था, जितना कि प्रायः माना जाता है और संभावना तो यह प्रतीत होती है कि वे एक ही लुप्त आदिम भाषा से निकले हुए दो विभिन्न परिवार हों। यदि ऐसा हो, तो द्राविड भारत में आर्यन आक्रमण होने के विषय में एकमात्र अवशिष्ट साक्षी यही रह जाती है कि वैदिक सूक्तों में इसके निर्देश पाये जाते हों।

इसलिये मेरी दोहरी दिलचस्पी थी, जिससे कि प्रेरित होकर मैंने पहिले-पहल

मूल वेद को अपने हाथ में लिया, यद्यपि उस समय मेरा कोई ऐसा इरादा नहीं था कि मैं वेद का सूक्ष्म या गंभीर अध्ययन करूगा। मुझे यह देखने में अधिक समय नहीं लगा कि वेद में कहे जानेवाले आर्यों और दस्युओं के बीच में जातीय विभाग-सूचक निर्देश तथा यह बतानेवाले निर्देश कि दस्यु और आदिम भारतनिवासी एक ही थे, जितनी कि मैंने कल्पना की हुई थी, उससे भी कही अधिक निःसार है। परतु इससे भी अधिक दिलचस्पी का विषय मेरे लिये यह था कि इन प्राचीन सूक्तो के अदर उपेक्षित पड़े हुए जो गभीर आध्यात्मिक विचारो का बडा भारी समुदाय है और जो अनुभूति है, उसका पता लगना। और इस अग की महत्ता तब मेरी दृष्टि में और भी बढ गयी जब कि पहिले तो, मैंने यह देखा कि वेद के मत्र एक स्पष्ट और ठीक प्रकाश के साथ मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो को प्रकाशित करते हैं, जिनके लिये कि न तो योरोपियन अध्यात्म-विज्ञान में, न ही योग की या वेदात की शिक्षाओ में जहातक मैं इनसे परिचित था, मुझे कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता था। और दूसरे यह कि वे उपनिषदो के उन धुधले सदर्भों और विचारो पर प्रकाश डालते थे जिनका कि पहिले मैं कोई ठीक-ठीक अर्थ नही कर पाता था, और इसके साथ ही इनसे पुराणों के भी बहुत से भाग का एक नया अभिप्राय पता लगता था।

इस परिणाम पर पहुचने में, सौभाग्यवश मैंने जो सायण के भाष्य को पहिले नही पढा था, उसने मेरी बहुत मदद की। क्योकि मैं स्वतन्त्र था कि वेद के बहुत से सामान्य और बार-बार आनवाले शब्दो को उनका जो स्वाभाविक आध्यात्मिक अर्थ है वह उन्हे दे सकू, जैसे कि 'धी' का अर्थ विचार या समझ, 'मनस्' का अर्थ मन, 'मति' का अर्थ विचार, अनुभव या मानसिक अवस्था, 'मनीषा' का अर्थ बुद्धि, 'ऋतम्' का अर्थ सत्य, और मैं स्वतन्त्र था कि शब्दो को उनके अर्थ की वास्तविक प्रतिच्छाया दे सकू, 'कवि' को द्रष्टा की, 'मनीषी' को विचारक की, 'विप्र विपश्चित्' को प्रकाशित-मनस्क की, इसी प्रकार के और भी कई शब्दो को, और मैं स्वतन्त्र था कि ऐसे शब्दो का एक आध्यात्मिक अर्थ—जिसे कि मेरे अधिक व्यापक अध्ययन ने भी युक्तियुक्त ही प्रमाणित किया था—प्रस्तुत करने का साहस करू जैसे कि 'दक्ष' का जिसका कि सायण के अनुसार 'बल' अर्थ

है और 'श्रवस्' का जिसका सायण ने धन, दौलत, अन्न या कीर्ति यह अर्थ किया है। वेद के विषय में आध्यात्मिक अर्थ का सिद्धान्त इन शब्दों का स्वाभाविक अर्थ ही स्वीकार करने के हमारे अधिकार पर आधार रखता है।

सायण ने 'धी' 'ऋतम्' आदि शब्दों के बहुत ही परिवर्तनशील अर्थ किये है। 'ऋतम्' शब्द का, जिसे कि हम मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक व्याख्या की लगभग कुन्जी कह सकते हैं, सायण ने कभी कभी 'सत्य', अधिकतर 'यज्ञ' और किसी-किसी जगह 'जल' अर्थ किया है। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार निश्चित रूप से इसका अर्थ सत्य होता है। 'धी' के सायण ने 'विचार', 'स्तुति', 'कर्म', 'भोजन' आदि अनेक अर्थ किये है। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार नियत रूप से इसका अर्थ विचार या समझ है। और यही बात वेद की अन्य नियत संज्ञाओं के सम्बन्ध म है। इसके अतिरिक्त, सायण की प्रवृत्ति यह है कि वह शब्दों के अर्थों की छायाओं को और उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होता है उसे बिल्कुल मिटा देता है और उनका अधिक-से-अधिक स्थूल जो सामान्य अर्थ होता है वही कर देता है। सारे-के-सारे विशेषण जो कि किसी मानसिक क्रिया के द्योतक हैं, उसके लिये एकमात्र 'बुद्धि' अर्थ को देते है, सारे-के-सारे शब्द जो कि शक्ति के विभिन्न विचारों के सूचक हैं—और वेद उनसे भरा पड़ा है—बल के स्थूल अर्थ म परिणत कर दिये गये हैं। इसके विपरीत, वेदाध्ययन से मुझपर तो इस बात की छाप पड़ी कि वेद के अर्थों की ठीक-ठीक छाया को नियत करने तथा उन्हें सुरक्षित रखने की और विभिन्न शब्दों के अपने ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्ध क्या हैं उन्हें निश्चित करने की बड़ी भारी महत्ता है, चाहे वे शब्द अपने सामान्य अभिप्राय में परस्पर कितना ही निकट सम्बन्ध क्यों न रखते हों। सचमुच, मैं नहीं समझ पाता कि हमें यह क्या कल्पना कर लेनी चाहिये कि वैदिक ऋषि, काव्यात्मक शैली में सिद्धहस्त अन्य रचयिताओं के विसदृश, शब्दों को अव्यवस्थित रूप से और अविवेकपूर्णता के साथ प्रयुक्त करते थे, उनके ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्धों को बिना अनुभव किये ही और शब्दों की शृंखला में उन्हें उनका ठीक-ठीक और यथोचित बल बिना प्रदान किये ही।

इस नियम का अनुसरण करते-करते मैंने पाया कि शब्दों और वाक्य-खण्डों

के सरल, स्वाभाविक और सीधे अभिप्राय को बिना छोडे ही, न केवल पृथक्-पृथक् ऋचाओ का बल्कि सम्पूर्ण सन्दर्भो का एक असाधारण विशाल समुदाय तुरन्त ही बुद्धिगोचर हो गया, जिसने कि पूर्ण रूप से वेद के सारे स्वरूप को ही बदल दिया। क्योंकि तब यह धर्म-पुस्तक वेद ऐसी प्रतीत होने लग गयी कि यह अत्यन्त बहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्ण की एक स्थिर रेखा को अपने अन्दर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अश अश में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है, जो कि कही छोटी छोटी रेखाओ में, कही बडे बडे समूहो में, इसके अधिकाश सूक्तो मे दिखायी देती है। साथ ही, उन शब्दो के अतिरिक्त जो कि अपने स्पष्ट और सामान्य अर्थ से तुरन्त ही अपने प्रकरणो को आध्यात्मिक अर्थ की सुवर्णीय रगत दे देते हैं, वेद अन्य भी ऐसे बहुत से शब्दो से भरा पडा है जिनके लिये यह सम्भव है कि, वेद के सामान्य अभिप्राय के विषय मे हमारी जो भी धारणा हो उसीके अनुसार, चाहे तो उन्हे बाह्य और प्रकृतिवादी अर्थ दिया जा सके, चाहे एक आभ्यन्तर और आध्यात्मिक अर्थ। उदाहरणार्थ, इस प्रकार के शब्द जैसे कि राये, रयि, राधस्, रत्न केवलमात्र भौतिक समृद्धि या धनदौलत के वाचक भी हो सकते है और आन्तरिक ऐश्वर्य तथा समृद्धि के भी। क्योकि वे मानसिक जगत् और बाह्य जगत् दोनो के लिये एक से प्रयुक्त हो सकते हैं। धन, वाज, पोष का अर्थ बाह्य धनदौलत, समृद्धि और पुष्टि भी हो सकता है अथवा सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ चाहे वे आन्तरिक हो चाहे बाह्य, व्यक्ति के जीवन में उनका बाहुल्य और उनकी वृद्धि। उपनिषद् में ऋग्वेद के एक उद्धरण की व्याख्या करते हुए 'राये' को आध्यात्मिक सम्पत्ति के अर्थ मे प्रयुक्त किया है, तो फिर मूल वेद मे इसका यह अर्थ क्या नही हो सकता ? 'वाज' बहुधा ऐसे सन्दर्भ में आता है जिसमे कि अन्य प्रत्येक शब्द आध्यात्मिक अभिप्राय रखता है, जहा कि भौतिक समृद्धि का उल्लेख समस्त एकरस विचार के अन्दर असगति का एक तीव्र बेसुरापन ला देगा। इसलिये, सामान्य बुद्धि की माग है कि वेद में इन शब्दो के प्रयोग को आध्यात्मिक अभिप्राय देनेवाला ही स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यदि यह सगतिपूर्वक किया जा सके, तो इससे न केवल सम्पूर्ण ऋचाए और सदर्भ, बल्कि सारे-के-सारे सूक्त तुरन्त आध्यात्मिक रगत से रग जाते हैं।

एक शर्त पर वेदों का यह आध्यात्मिक रंग में रंगा जाना प्राय: पूर्ण होगा, एक भी शब्द या एक भी वाक्यखण्ड इससे प्रभावित हुए बिना नहीं बचेगा, वह शर्त यह है कि हमें वैदिक 'यज्ञ' को प्रतीकरूप में स्वीकार करना चाहिये। गीता में हम पाते हैं कि 'यज्ञ' का प्रयोग उन सभी कर्मों के प्रतीक के रूप में किया गया है, चाहे वे आन्तर हों चाहे बाह्य, जो देवों को या ब्रह्म को समर्पित किये जाते हैं। इस शब्द का यह प्रतीकात्मक प्रयोग क्या उत्तरकालीन दार्शनिक बुद्धि का पैदा किया हुआ है, अथवा यह यज्ञ के वैदिक विचार में पहिले से अन्तर्निहित था? मैंने देखा कि स्वयं वेद में ही ऐसे सूक्त हैं जिनमें कि 'यज्ञ' का अथवा बलि का विचार खुले तौर पर प्रतीकात्मक है, और दूसरे कुछ सूक्तों में यह प्रतीकात्मकता अपने ऊपर पड़े आवरण में से स्पष्ट दिखायी देती है। तब यह प्रश्न उठा कि क्या ये बाद की रचनाएं थीं जो कि पुराने अन्धविश्वासपूर्ण विधि-विधानों में से एक प्रारम्भिक प्रतीकवाद को विकसित करती थीं अथवा इसके विपरीत यह अवसर पाकर कहीं-कहीं किया गया स्पष्टतर कथन था, उस अर्थ का जो कि अधिकांश सूक्तों में कम-अधिक सावधानी के साथ अलंकार के पर्दे से ढका हुआ रखा है। यदि वेद में आध्यात्मिक सदर्भ सतत रूप से न पाये जाते तो निस्सदेह पहिले स्पष्टीकरण को ही स्वीकार किया जाता। परन्तु इसके विपरीत, सारे सूक्त स्वभावत एक आध्यात्मिक अर्थ को लिये हुए हैं जिनमें कि एक-से-दूसरे मन्त्र में एक पूर्ण और प्रकाशमय संगति है, अस्पष्टता केवल वहां आती है जहां कि यज्ञ का उल्लेख है या हवि का अथवा कहीं-कहीं यज्ञ-सचालक पुरोहित का, जो कि या तो मनुष्य हो सकता था या देवता। यदि इन शब्दों को प्रतीक मानकर व्याख्या की जाती थी तो मैं हमेशा यह देखता था कि विचार की शृखला अधिक पूर्ण, अधिक प्रकाशमय, अधिक संगत हो जाती है और पूरे-के-पूरे सूक्त का आशय उज्ज्वल रूप से पूर्ण हो जाता है। इसलिये स्वस्थ समालोचना के प्रत्येक नियम के द्वारा मैंने इसे न्यायोचित अनुभव किया कि मैं अपनी कल्पना के अनुसार आगे चलता चलूं और इसमें वैदिक यज्ञ के प्रतीकात्मक अभिप्राय को भी सम्मिलित कर दूं।

तो भी यहीं पर आध्यात्मिक व्याख्या की सर्वप्रथम वास्तविक कठिनाई आकर उपस्थित हो जाती है। अबतक तो मैं एक पूर्ण रूप से सीधी और स्वाभाविक

व्याख्यापद्धति से चल रहा था जो कि शब्दो और वाक्यो के ऊपरी अर्थ पर निर्भर थी। पर अब मै एक ऐसे तत्त्व पर आ गया जिसमे कि, एक दृष्टि से ऊपरी अर्थ को अतिक्रमण कर जाना पडता था, और यह ऐसी पद्धति थी जिसमें कि प्रत्येक समालोचक और बिल्कुल निर्दोषता चाहनेवाला मन अवश्य अपने-आपको निरन्तर सन्देहो से आक्रान्त पावेगा। न ही कोई, चाहे वह कितनी भी सावधानी रक्खे, इस तरह सदा इस बात मे निश्चित हो सकता है कि उसने ठीक सूत्र को ही पकडा है और उसे ठीक व्याख्या ही सूझी है।

वैदिक यज्ञ के अन्तर्गत–एक क्षण के लिये देवता और मन्त्र को छोड दें तो–तीन अग है, हवि देनेवाले, हवि और हवि के फल। यदि 'यज्ञ' एक कर्म है जो कि देवताओ को समर्पित किया जाता है तो 'यजमान' को, हवि देनेवाले को मै यह समझे बिना नही रह सकता कि वह उस कर्म का कर्त्ता है। 'यज्ञ' का अभिप्राय है कर्म, वे कर्म आन्तरिक हो या बाह्य, इसलिये 'यजमान' होना चाहिये आत्मा अथवा वह व्यक्तित्व जो कि कर्त्ता है। परतु साथ ही यज्ञ-सचालक, पुरोहित भी होते थे, होता, ऋत्विज्, पुरोहित, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि। इस प्रतीकवाद मे उनका कौनसा भाग था ? क्योकि एक बार यदि यज्ञ के लिये हम प्रतीकात्मक अभिप्राय की कल्पना कर लेते है तो इस यज्ञ-विधि के प्रत्येक अग का हम प्रतीकात्मक मूल्य कल्पित करना चाहिये। मैंने पाया कि देवताओ के विषय मे सतत रूप से यह कहा गया है कि वे यज्ञ के पुरोहित है और बहुत से सदर्भो मे तो प्रकट रूप से यह एक अमानुषी सत्ता या शक्ति है जो कि यज्ञ का अधिष्ठान करती है। मैंने यह भी देखा कि सारे वेद मे हमारे व्यक्तित्व को बनानेवाले तत्त्व स्वय सतत रूप से सजीव शरीरधारी मानकर वर्णन किये गये है। मुझे इस नियम को केवल व्यत्यास से प्रयुक्त करना था और यह कल्पना करनी थी कि बाह्य अलकार मे जो पुरोहित या व्यक्ति है वह आभ्यतर क्रियाओ मे आलकारिक रूप से एक अमानुषी सत्ता या शक्ति को अथवा हमारे व्यक्तित्व के किसी तत्त्व को सूचित करता है। फिर अवशिष्ट रह गया पुरोहितसबधी भिन्न भिन्न कार्यों के लिये आध्यात्मिक अभिप्राय नियत करना। यहां मैंने पाया कि वेद स्वय अपने भाषासबधी निर्देशो और दृढ उक्तियो के द्वारा मूलसूत्र को पकडा रहा है, जैसे कि 'पुरोहित' शब्द का प्रति-

निति के भाव के साथ अपने अलमस्त रूप में, पुरोहित "आगे रखा हुआ" इस अर्थ में प्रयुक्त होना और प्राय इससे अग्निदेवता का संकेत किया जाना, जो अग्नि कि मानवता में उस दिव्य संकल्प या दिव्य शक्ति का प्रतीक है जो यज्ञरूप से किये जानेवाले सब पवित्र कर्मों में क्रिया को ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियों को समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी जिन प्रकरणों में इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभाव के द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दों से मिलनेवाले भाषा-विज्ञानसंबंधी निर्देश के द्वारा स्वयं अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञ के घी, 'घृतम्' का क्या अभि-प्राय लिया जाना संभव था ? और तो भी वेद में यह शब्द जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है वह इसीपर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अन्तरिक्ष से बूंदरूप में गिरनेवाले घृत का या इन्द्र के घोड़ों में से क्षरित होनेवाले अथवा मन से क्षरित होनेवाले घृत का क्या अर्थ हो सकता था ? स्पष्ट ही एक बिलकुल असंगत और व्यर्थ की बात होती, यदि घी अर्थ को देनेवाले 'घृत' शब्द का इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बात के लिये एक ऐसा प्रतीक है जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलता के साथ किया गया है, यहांतक कि विचारक को बहुधा अपने मन में इसके बाह्य अर्थ को सर्वांश में या आंशिक रूप से अलग रख देना चाहिये। निःसंदेह यह भी संभव था कि आसानी के साथ इन शब्दों के अर्थ को प्रसंगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कहीं घी और कहीं पानी के अर्थ में ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कहीं मन और कहीं अन्न या अङ्कुर कर लिया जाय। परन्तु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूप से विचार या मन के साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेद में 'द्यौ' मन का प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है और उसके दो घोड़े उस मनोवृत्ति की द्विविध शक्तियां हैं और मैंने यहांतक देखा कि वेद कहीं-कहीं साफ तौर से बुद्धि (धिषणा) को शोधित घृत के रूप में देवों के लिये हवि देने को कहता है, 'घृतं न पूतं धिषणां' (३-२-१)। 'घृत' शब्द की भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो व्याख्याएं की जाती हैं, उनमें भी इसका एक अर्थ अग्निदीप्त या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशों की अनुकूलता के आधार पर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीक की यदि मैं कोई

आध्यात्मिक व्याख्या करता हू, तो मैं ठीक रास्ते पर हू। और इसी नियम तथा इसी प्रणाली को मैंने यज्ञ के दूसरे अगो में भी प्रयुक्त करने योग्य पाया।

हवि के फल देखने म विशुद्ध रूप से भौतिक प्रतीत होते थे—गौए, घोडे, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक बल, युद्ध मे विजय। यहा कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी। पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेद का 'गौ' बहुत ही पहेलीदार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशाला से नही आया है। 'गो' शब्द के दानो अर्थ हैं, गाय और प्रकाश और कुछ एक सदर्भों मे तो, चाहे हम गाय के अर्थ को अपने सामने रख भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम सूर्य की गौओ—होमर (Homer) कवि की हीलियस की गौओ—और उषा की गौआ पर विचार करते है। आध्यात्मिक रूप में, भौतिकप्रकाश ज्ञान के—विशेषकर दिव्य ज्ञान के—प्रतीक के रूप में अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परतु यह तो केवल सभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाण से स्थापना कैसे होती? मैंने पाया कि ऐसे सदर्भ आते हैं, जिनमें कि आसपास का सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ' का प्रतीक ही है जो कि अपने अडियल भौतिक अर्थ के साथ बीच मे आकर बाधा डालता है। इन्द्र का आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपो के निर्माता 'सुरूपकृत्नु' के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरस को पिये, उसे पीकर वह आनन्द म भर जाता है और गौओ की देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तब हम उसके समीपतम या चरम सुविचारो को प्राप्त कर सकते है, तब हम उससे प्रश्न करते है और उसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कराता है*। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सदर्भों मे गौए भौतिक गाय नही हो सकतीं, नाहीं 'भौतिक प्रकाश को देनेवाला' यह अर्थ प्रकरण मे किसी अभिप्राय को लाता है। कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मन में यह निश्चित रूप से स्थापित कर दिया कि यहा वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है। तब मैंने इसे उन दूसरे सदर्भों में प्रयुक्त किया जहा कि 'गो' शब्द आता था और सर्वदा मैंने यही पाया कि

*यह ऋक् मडल १ सूक्त ४ के आधार पर है। —अनुवादक।

परिणाम यह होता था कि इससे प्रकरण का अर्थ अच्छे-से-अच्छा हो जाता था और उसमें अधिक-से-अधिक संभवनीय संगति आ जाती थी।

गाय और घोडा, 'गो' और 'अश्व' निरन्तर इकट्ठे आते हैं। उषा का वर्णन इस रूप में हुआ है कि वह 'गोमती अश्वावती' है, उषा यज्ञकर्त्ता (यजमान) को घोड़े और गौएं देती है। प्राकृतिक उषा को ले, तो 'गोमती' का अर्थ है प्रकाश की किरणों से युक्त या प्रकाश की किरणों को लाती हुई और यह मानवीय मन में होनेवाली प्रकाश की उषा के लिये एक रूपक है। इसलिये 'अश्वावती' विशेषण भी एकमात्र भौतिक घोडों का निर्देश करनेवाला नहीं हो सकता, साथ में इसका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी अवश्य होना चाहिये। वैदिक 'अश्व' का अध्ययन करने पर मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि 'गो' और 'अश्व' वहां प्रकाश और शक्ति के, ज्ञान और बल के दो सहचर विचारों के प्रतिनिधि हैं जो कि वैदिक और वैदांतिक मन के लिये सत्ता की सभी प्रगतियों के द्विविध या युगलरूप होते थे।

इसलिये यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक यज्ञ के दो मुख्य फल गौओं की संपत्ति और घोडों की संपत्ति, क्रमशः मानसिक प्रकाश की समृद्धि और जीवन-शक्ति की बहुलता के प्रतीक हैं। इससे परिणाम निकला कि वैदिक कर्म (यज्ञ) के इन दो मुख्य फलों के साथ निरन्तर संबद्ध जो दूसरे फल हैं उनकी भी अवश्यमेव आध्यात्मिक व्याख्या हो सकनी चाहिये। अवशिष्ट केवल यह रह गया कि उन सबका ठीक-ठीक अभिप्राय नियत किया जाय।

वैदिक प्रतीकवाद का एक दूसरा अत्यावश्यक अंग है लोकों का संस्थान और देवताओं के व्यापार। लोकों के प्रतीकवाद का सूत्र मुझे 'व्याहृतियों' के वैदिक विचार में, "ओ३म् भूर्भुवः स्वः" इस मंत्र के तीन प्रतीकात्मक शब्दों में और चौथी व्याहृति 'महः' का आध्यात्मिक अर्थ रखनेवाले 'ऋतम्' शब्द के साथ जो संबंध है, उसमें मिल गया। ऋषि विश्व के तीन विभागों का वर्णन करते हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष या मध्यस्थान और द्यौ, परन्तु साथ ही एक आध्यात्मिक बड़ा द्यौ (बृहत् द्यौ) भी है, जिसे विस्तृत लोक (बृहत्) भी कहा गया है और कहीं-कहीं जिसे महान् जल, 'महो अर्ण' के रूप में भी वर्णित किया है। फिर इस 'बृहत्' का 'ऋतम्

वृहत्' इस रूप में अथवा 'सत्य ऋतम् वृहत्'* इन तीन शब्दो की परिभाषा के रूप में वर्णन मिलता है और क्योकि तीन लोक प्रारमिक तीन व्याहृतियो से सूचित होते है, इसलिये 'वृहत्' के और 'ऋत' के इस चौथे लोक का सबध उपनिषदो में उल्लिखित चौथी व्याहृति 'मह' से होना चाहिये। पौराणिक सूत्र में ये चार तीन अन्य–'जन' 'तप' 'सत्य' से मिलकर पूर्ण होते है, जो तीन कि हिंदु विश्व-विज्ञान के तीन उच्च लोक है। वेद में भी हमें तीन सर्वोच्च लोको का उल्लेख मिलता है, यद्यपि उनके नाम नही दिये गये है। परतु वेदातिक और पौराणिक सम्प्रदाय में ये सात लोक सात आध्यात्मिक तत्त्वो या सत्ता के सात रूपो–सत्, चित्, आनद, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न – को सूचित करते है। अब यह मध्य का लोक विज्ञान, जो कि 'मह' का लोक है, महान् लोक ह, वस्तुओ का सत्य है, और यह तथा वदिक 'ऋतम्' जो कि 'वृहत्' का लोक है, दोनो एक ही है, और जहा कि पौराणिक सप्रदाय में 'मह' के बाद यदि नीचे से ऊपर का क्रम ले तो, 'जन' (जो कि आनन्द का, दिव्य सुख का लोक है) आता है, वहा वेद मे भी 'ऋतम्' अर्थात् सत्य ऊपर की ओर 'मय' तक, सुख तक, ले जाता है। इसल्यि, हम उचित रूप से इस निश्चय पर पहुच सकते है कि (पौराणिक तथा वैदिक) ये दोनो सम्प्रदाय इस विषय मे एक है और दोनो का आधार इस एक विचार पर है कि अन्दर अपनी चेतना के सात तत्त्व है जो कि बाहर सात लोको के रूप म अपने-आपको प्रकट करते है। इस सिद्धान्त पर मैं वैदिक लोको की तदनुसारी चेतना में आध्यात्मिक स्तरो के साथ एकता स्थापित कर सका और तब सारा ही वैदिक सस्थान मेरे मन म स्पष्ट हो गया।

जब इतना सिद्ध हो चुका, तो जो बाकी था वह स्वभावत और अनिवार्य रूप से होने लगा। मै यह पहिले ही देख चुका था कि वैदिक ऋषियो का केन्द्रीभूत विचार था कि मिथ्या का सत्य से, विभक्त तथा सीमाबद्ध जीवन का सम्पूर्णता तथा असीमता से परिवर्तन करके, मानवीय आत्मा को मृत्यु की अवस्था से निकालकर अमरता की अवस्था तक पहुचा देना। मृत्यु है मन और प्राणसहित शरीर

*सत्यम् वृहत् ऋतम्। अथर्व १२-१-१

की मर्त्य अवस्था, अमरता है असीम सत्ता, चेतना और आनन्द की अवस्था। मनुष्य द्यौ और पृथ्वी, मन और शरीर इन दो लोकों, 'रोदसी' से ऊपर उठकर सत्य की असीमता में, 'मह' में और इस प्रकार दिव्य सुख में पहुंच जाता है। यही वह 'महा-पथ' है जिसे ऋषियों ने खोजा था।

देवों के विषय में मैंने यह वर्णन पाया कि वे प्रकाश से उत्पन्न हुए हैं, 'अदिति' के, अनन्तता के पुत्र हैं, और बिना अपवाद के उनका इस प्रकार वर्णन आता है कि वे मनुष्य की उन्नति करते हैं, उसे प्रकाश देते हैं, उसपर पूर्ण जलों की, द्यौ के ऐश्वर्य की वर्षा करते हैं, उसके अन्दर सत्य की वृद्धि करते हैं, दिव्य लोकों का निर्माण करते हैं, सब आक्रमणों से बचाकर उसे महान् लक्ष्य तक, अखण्ड समृद्धि तक, पूर्ण सुख तक पहुंचाते हैं। उनके पृथक्-पृथक् व्यापार उनकी क्रियाओं से, उनके विशेषणों से, उनसे सम्बद्ध कथानकों का जो अध्यात्मपरक आशय होता था उससे, उपनिषदों और पुराणों के निर्देशों से तथा ग्रीक गाथाओं द्वारा कभी-कभी पडनेवाले आंशिक प्रकाशों से निकल आते थे। दूसरी ओर दैत्य जो कि उनके विरोधी हैं, सबके सब विभाग तथा सीमा की शक्तियां हैं, वे जैसा कि उनके नाम सूचित करते हैं, आ-च्छादक हैं, विदारक हैं, हड़प लेनेवाले हैं, घेरनेवाले हैं, द्वैध पैदा करनेवाले हैं, प्रति-बन्धक हैं, वे ऐसी शक्तियां हैं जो कि जीवन की स्वतन्त्र तथा एकीभूत सम्पूर्णता के विरुद्ध कार्य करती हैं। ये वृत्र, पणि, अत्रि, राक्षस, शम्बर, बल, नमुचि कोई द्राविड राजा और देवता नहीं हैं, जैसा कि आधुनिक मन अपनी अति की पहुंची हुई ऐतिहासिक दृष्टि से चाहता है कि वे हों, वे एक अधिक प्राचीन भाव के द्योतक हैं, जो कि धार्मिक तथा नैतिक ही विचारों-कृत्यों में मुख्यतया व्यापृत रहनेवाले हमारे पूर्व पितरों के लिये अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त था। वे उच्चतर भद्र की तथा निम्नतर इच्छा की शक्तियों के बीच में होनेवाले संघर्ष के द्योतक हैं और ऋग्वेद का यह विचार तथा पुण्य और पाप का इसी प्रकार का विरोध जो कि अपेक्षा-कृत कम आध्यात्मिक सूक्ष्मता के साथ तथा अधिक नैतिक स्पष्टता के साथ पारसियों के—हमारे इन प्राचीन पडोसियों और सजातीय बन्धुओं के—धर्मशास्त्रों में दूसरे प्रकार से प्रकट किया गया है, सम्भवत एक ही आर्यसंस्कृति के मौलिक शिक्षण से प्रादुर्भूत हुआ था।

अन्त मे मैंने देखा कि वेद का नियमित प्रतीकवाद बढकर कथानकों मे भी पहुचा हुआ है जिनमें कि देवों का तथा उन देवो के प्राचीन ऋषियो के साथ सबध का वर्णन है। इन गाथाओं में से यदि सबका नही तो कुछका मूल तो, इसकी पूर्ण सम्भावना है कि, प्रकृतिवादी तथा नक्षत्रविद्यासम्बन्धी रहा हो, पर यदि ऐसा रहा हो तो उनके प्रारम्भिक अर्थ की आध्यात्मिक प्रतीकवाद के द्वारा पूर्ति की गयी थी। एक बार यदि वैदिक प्रतीको का अभिप्राय ज्ञात हो जाय, तो इन कथानकों का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट तथा अनिवार्य हो जाता है। वेद का प्रत्येक तत्त्व उसके दूसरे प्रत्येक तत्त्व के साथ अपृथक्करणीय रूप से गुथा हुआ है और इन रचनाओं का स्वरूप ही हमें इसके लिये बाध्य करता है कि हमने एक बार व्याख्या के जिस नियम को स्वीकार कर लिया है उसे हम अधिक-से-अधिक युक्तिसगत दूरी तक ले जाय। उनकी सामग्रिया बडी चतुराई के साथ दृढ़ हाथो के द्वारा मिलाकर ठीक की गयी है और उनपर हमारे काम करने में यदि कोई असगति वर्त्ती जाती है तो उससे उनके अभिप्राय का और उनकी सुसम्बद्ध विचार-श्रृखला का सारा ताना बाना ही टूट जाता है।

इस प्रकार वेद, मानो अपनी प्राचीन ऋचाओ म से अपने-आपको प्रकट करता हुआ, मेरे मन के सामने इस रूप म निकल आया कि यह सारा-का-सारा ही एक महान् और प्राचीन धर्म की, जो कि पहिले से ही एक गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षण से सुसज्जित था धर्मपुस्तक है, ऐसी धर्मपुस्तक नही जो कि गडबड विचारो से भरी हो या उसकी प्रतिपाद्य सामग्री आदिम हो यह भी नही कि वह कोई परस्पर-विरुद्ध तथा जगली तत्त्वा की खिचडी हो, बल्कि ऐसी धर्मपुस्तक है जो अपने लक्ष्य और अपने अभिप्राय में पूर्ण है तथा अपने आपसे अभिज्ञ है, यह अवश्य है कि यह एक दूसरे और भौतिक अर्थ के आवरण से ढकी हुई है, जो आवरण कि कही घना है और कही स्पष्ट है, परन्तु तो भी यह क्षणभर के लिये भी अपने उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तथा प्रवृत्ति की दृष्टि को ओझल नही होने देती है।

छठा अध्याय

वेद की भाषावैज्ञानिक पद्धति

वेद की कोई भी व्याख्या प्रामाणिक नहीं हो सकती, यदि वह सबल तथा सुरक्षित भाषावैज्ञानिक आधार पर टिकी हुई नहीं है, और तो भी यह धर्म-पुस्तक (वेद) अपनी उस धुंधली तथा प्राचीन भाषा के साथ जिसका कि केवलमात्र यही लेख अवशिष्ट रह गया है अपूर्व भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को प्रस्तुत करती है। भारतीय विद्वानों के परम्परागत तथा अधिकतर काल्पनिक अर्थों पर पूर्ण रूप से विश्वास कर लेना किसी भी समालोचनाशील मन के लिये असम्भव है। दूसरी तरफ आधुनिक भाषा-विज्ञान यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित और वैज्ञानिक आधार को पाने के लिये प्रयत्नशील है, पर अभी तक वह इसे पा नहीं सका है।

वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या में विशेषतया दो कठिनाइयां ऐसी हैं जिनका कि सामना केवलमात्र सन्तोषप्रद भाषावैज्ञानिक समाधान के द्वारा ही किया जा सकता है। पहली यह कि इस व्याख्यापद्धति को वेद की बहुत-सी नियत संज्ञाओं के लिये—उदाहरणार्थ, ऊति, अवस्, वयस् आदि संज्ञाओं के लिये—कई नये अर्थों को स्वीकार करने की आवश्यकता पड़ती है। हमारे ये नये अर्थ एक परीक्षा को तो सन्तुष्ट कर देते हैं, जिसकी कि न्यायोचित रूप में मांग की जा सकती है, अर्थात् वे प्रत्येक प्रकरण में ठीक बैठते हैं, आशय को स्पष्ट कर देते हैं और एवं हमें इससे मुक्त कर देते हैं कि वेद जैसे अत्यधिक निश्चित स्वरूपवाले ग्रन्थ में हमें एक ही संज्ञा के बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ करने की आवश्यकता पड़े। परन्तु यही परीक्षा पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, अवश्य ही हमारे पास भाषाविज्ञान का आधार भी होना चाहिये, जो कि न केवल नये अर्थ का समाधान करे, परन्तु साथ ही इसका भी स्पष्टीकरण कर दे कि, किस प्रकार एक ही शब्द इतने सारे भिन्न-भिन्न अर्थों को देने लगा - इस अर्थ को जो कि अध्यात्मपरक व्याख्या के अनुसार होना है, उन अर्थों को जो कि प्राचीन वैयाकरणों ने किये हैं और उन अर्थों को भी जो कि (यदि

वे कोई हैं) बाद की सस्कृत में हो गये हैं। परन्तु यह आसानी से नहीं हो सकता है जबतक कि हम अपने भाषाविज्ञानसम्बन्धी परिणामो के लिये उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक आधार नही पा लेगें जो कि हमारे अबतक के ज्ञान से प्राप्त है।

दूसरे यह कि अध्यात्मपरक व्याख्या का सिद्धात अधिकतर मुख्य शब्दो के—उन शब्दो के जो कि रहस्यमय वैदिक शिक्षा में कुञ्जीरूप शब्द है—द्व्यर्थक प्रयोग पर आश्रित है। यह वह अलकार है जो परम्परा द्वारा सस्कृतसाहित्य में भी आ गया है और कही वही पीछे के सस्कृतग्रथो में अत्यधिक कुशलता के साथ प्रयुक्त हुआ है, यह है श्लेष या द्विविध अर्थ का अलकार। परन्तु इसकी यह कुशलतापूर्ण कृत्रिमता ही हमें यह विश्वास करने के लिये प्रवृत्त करती है कि यह कवितामय चातुर्य अवश्य ही अपेक्षाकृत उत्तरकाल का तथा अधिक मिश्रितकृत्रिम सस्कृति का होना चाहिये। तो अधिकतम प्राचीन काल के किसी ग्रन्थ में इसकी सतत रूप से उपस्थिति का हम कैसे समाधान कर सकते है? इसके अतिरिक्त वेद में तो हम इसके प्रयोग को अद्भुत रूप से फैला हुआ पाते है, वहा सस्कृत धातुओ की "अनेकार्थता" के नियम को जानबूझकर इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है जिससे कि एक ही शब्द मे जितने भी सम्भव अर्थ हो सकते है वे सब-के-सब आकर सचित हो जाय, और इससे, प्रथम दृष्टि मे ऐसा लगता है कि, हमारी समस्या और भी असाधारण रूप से बढ गयी है।

उदाहरण के तौर पर 'अश्व' शब्द जिसका कि साधारणत घोडा अर्थ होता है, आलकारिक रूप से प्राण के लिये प्रयुक्त हुआ है—प्राण जो कि वात-शक्ति है, जीवन-श्वास है, मन तथा शरीर को जोडनेवाली एक अर्धमानसिक, अर्धभौतिक क्रिया-मयी शक्ति है। 'अश्व' शब्द के धात्वर्थ से प्रेरणा, शक्ति, प्राप्ति और सुख-भोग के भाव इसके अन्य अभिप्रायो के साथ निकलते है और इन सभी अर्थों को हम जीवन-रूपी अश्व (घोडे) में एकत्रित हुआ पाते है, जो कि सब अर्थ प्राण-शक्ति की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियो को सूचित करते हैं। भाषा का इस प्रकार का प्रयोग सभव नही हो सकता था, यदि आर्यन पूर्वजो की भाषा वैसे ही रूढि अर्थों को देती होती जैसे कि हमारी आधुनिक भाषा देती है अथवा यदि वह विकास की उसी अवस्था में होती जिसमे कि हमारी वर्तमान भाषा है। पर यदि हम यह कल्पना कर सके

कि प्राचीन आर्यों की भाषा में, जैसी कि यह वैदिक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त की गयी है, कोई विशेषता थी जिसके द्वारा कि शब्द अपेक्षाकृत अधिक सजीव अनुभूत होते थे, वे विचारों के लिये केवलमात्र रूढि सांकेतिक शब्द नहीं थे, अर्थ के सन्तान करने में उनकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थे जैसे कि वे हमारी भाषा के बाद के प्रयोग में हैं, तो हम यह पायगे कि प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रयुक्त किये गये ये शब्दप्रयोग सर्वथा कृत्रिम अथवा खींचातानी से युक्त नहीं थे, बल्कि वे तो इस बात के सर्वप्रथम स्वाभाविक साधन थे कि वे उन्नत मनुष्यों को उन आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त करने के लिये जो कि प्राकृत मनुष्यों की समझ के बाहर हैं, एकदम नवीन, सक्षिप्त और यथोचित भाषासूत्रों को पकड़ा दें और उन सूत्रों में जो विचार अन्तर्निहित हैं, उन्हें वे अधार्मिक बुद्धिवालों से छिपाये रखें। मेरा विश्वास है कि यही सच्चा स्पष्टीकरण है और मैं समझता हू कि यह सिद्ध हो सकता है, यदि हम आर्यों की भाषा के विकास का अध्ययन करें, कि अवश्य भाषा उस अवस्था में से गुजरी है जो कि शब्दों के इस प्रकार के रहस्यमय तथा अध्यात्मपरक प्रयोग के लिये अद्भुत रूप से अनुकूल होती थी, जो शब्द कि वैसे अपने प्रचलित व्यवहार में एक सरल, निश्चित तथा भौतिक अर्थ को देते थे।

यह मैं पहिले ही बतला चुका हू कि तामिल शब्दों के मेरे सर्वप्रथम अध्ययन ने मुझे वह चीज प्राप्त करा दी थी जो कि प्राचीन संस्कृतभाषा के उद्गमों तथा उसकी बनावट का पता देनेवाला सूत्र प्रतीत होती थी और यह सूत्र मुझे यहा तक ले गया कि मैं अपनी रुचि के मूल विषय 'आर्यन तथा द्राविड भाषाओं में संबंध' को बिल्कुल ही भूल गया और एक उससे भी अधिक रोचक विषय 'मानवीय भाषा के ही विकास के उद्गमों और नियमों के अन्वेषण' में तल्लीन हो गया। मुझे लगता है कि यह महान् परीक्षा ही किसी भी सच्चे भाषाविज्ञान का सर्वप्रथम और मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, न कि वे सामान्य बातें जिनमें कि भाषाविज्ञ विद्वानों ने अबतक अपने-आपको बाध रखा है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्म के समय जो प्रथम आशाए इससे लगायी थीं उनके पूर्ण न होने के कारण, इसके सारहीन परिणामों के कारण, इसके एक "क्षुद्र कल्पनात्मक विज्ञान" के रूप में आ निकलने के कारण, अब भाषा का भी कोई

विज्ञान है इस विचार को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा है और इसकी सभवनीयता ही से बिलकुल इन्कार किया जाने लगा है, यद्यपि इसके लिये युक्तिया बिलकुल अपर्याप्त है। यह मुझे असभव प्रतीत होता है कि इस प्रकार इसके अतिम रूप मे इन्कार कर दिये जाने से सहमत हुआ जा सके। यदि कोई एक वस्तु ऐसी है जिसे कि आधुनिक विज्ञान ने सफलता के साथ स्थापित कर दिया है, तो वह है सपूर्ण पार्थिव वस्तुओ के इतिहास मे विकास की प्रक्रिया तथा नियम का शासन। भाषा का गभीरतर स्वभाव कुछ भी हो, मानवीय भाषा के रूप में अपनी बाह्य अभिव्यक्तियो में यह एक सावयव रचना है, एक वृद्धि है, एक लौकिक विकास है। वस्तुत. ही इसके अदर एक स्थिर मनोवैज्ञानिक तत्त्व है और इसलिये यह विशुद्ध भौतिक रचना की अपेक्षा अधिक स्वतत्र, लचकीली और ज्ञानपूर्वक अपने-आपको परिस्थिति के अनुकूल कर लेनेवाली है; इसके रहस्य को समझना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है, इसके घटको को केवल अपेक्षया अधिक सूक्ष्म तथा कम तीक्ष्ण विश्लेषण-प्रणालियो द्वारा ही काबू किया जा सकता है। परतु नियम तथा प्रक्रिया मानसिक वस्तुओ मे भौतिक वस्तुओ की अपेक्षा किसी हालत में कम नही होते, यद्यपि ऐसा है कि वहा वे अपेक्षाकृत अधिक चचल और अधिक परिवर्तनशील प्रतीत होते है। भाषा के उद्गम और विकास के भी अवश्य ही कोई नियम और प्रक्रिया होने चाहियें। आवश्यक सूत्र और पर्याप्त प्रमाण यदि मिल जाय, तो वे नियम और प्रक्रिया पता लगाये जा सकते है। मुझे प्रतीत होता है कि सस्कृतभाषा में वह सूत्र मिल सकता है, प्रमाण वहा तैयार रखे है कि उन्हे खोज निकाला जाय।

भाषाविज्ञान की भूल जिसने कि इस दिशा में अपेक्षाकृत अधिक सतोषजनक परिणाम पर पहुचने से इसे रोके रखा, यह थी कि इसने व्यवहृत भाषा के भौतिक अगो के विषय मे भाषा के बाह्य शब्दरूपो के अध्ययन मे ही और भाषा के मनोवैज्ञानिक अगो के विषय मे भी उसी प्रकार रचित शब्दो के, तथा सजातीय भाषाओ मे व्याकरणसबधी विभक्तियो के, बाह्य सबधो मे ही अपने-आपको व्यापृत रखा। परतु विज्ञान की वास्तविक पद्धति तो है, मूल तक जा पहुचना, गर्भ तक, घटनाओ के तत्त्वो तक तथा उनकी अपेक्षाकृत छिपी हुई विकासप्रक्रियाओ तक पहुच जाना।

बाह्य प्रत्यक्ष दृष्टि से हम स्थूल दृष्टि से दीखनेवाली तथा ऊपर-ऊपर की वस्तु को ही देख पायेंगे। घटनाओं के गभीर तत्त्वों को, उनके वास्तविक तथ्यों को ढूंढ निकालने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन छिपे हुए रहस्यों के अंदर प्रवेश किया जाय जो कि घटनाओं के बाह्य रूप से ढके रहते हैं, पहले हुए-हुए उनके उस विकास के अदर घुसकर देखा जाय जिसके कि उनके ये वर्तमान परिसमाप्त रूप केवल गूढ तथा विकीर्ण निर्देशों को ही देते हैं, अथवा सभावनाओं के अंदर प्रवेश किया जाय जिनमें से आयी वे कुछ वास्तविकताए जिनको कि हम देखते हैं केवल एक सकुचित चुनाव होती है। यही प्रणाली यदि मानव-भाषा के प्राचीनरूपों में प्रयुक्त की जाय, तो केवल वही हमें एक सच्चे भाषा के विज्ञान को दे सकती है।

यह पूर्णतया सभव नही है कि इस लेखमाला के, जो कि स्वय ही छोटी-सी है और जिसका असली विषय दूसरा है, एक छोटे-से अध्याय मे उस कार्य के परिणामों को उपस्थित कर सकू जिसे कि मैंने उपर्युक्त दिशा में करने का यत्न किया है*। मैं केवल सक्षेप मे ही एक या दो विशिष्ट अगो का दिग्दर्शन करा सकता हू, जो कि सीधे तौर पर वैदिक व्याख्या के विषय पर लागू होते हैं। और यहा मैं उनका उल्लेख केवल इसलिये करूगा ताकि मेरे पाठकों के मन में यदि कोई ऐसी धारणा हो जाय, तो उसका परिहार हो सके कि, मैंने जो किन्ही वैदिक शब्दो के प्राप्त अर्थों को स्वीकार नहीं किया है वह मैंने केवल उस बुद्धिपूर्ण अटकल लगाने की स्वाधीनता का लाभ उठाया है जो कि आधुनिक भाषाविज्ञान के जहा बडे भारी आकर्षणों में से एक है, वहा साथ-ही-साथ उस भाषाविज्ञान की सबसे अधिक गंभीर कमजोरियों में से भी एक है।

मेरे अन्वेषणों ने प्रथम मुझे यह विश्वास करा दिया कि शब्द, पौधों की तरह, पशुओं की तरह, किसी भी अर्थ में कृत्रिम उत्पत्ति नही है, किंतु उपचय है, वृद्धि है, ध्वनि की सजीव वृद्धि हैं और कोई बीजभूत ध्वनिया उनका आधार है। इन बीजभूत ध्वनियों से कुछ प्रारंभिक मूलशब्द अपनी सततियों सहित विकसित होते

*मेरा विचार है कि मैं इनपर एक पृथक् ही पुस्तक में जो कि "आर्यन भाषा के उद्गमों" के सबध में होगी, चर्चा करूगा।

है जिनकी परपरागत पीढिया चलती है और जो जातियो मे, वर्गों में, परिवारो में, चुने हुए गणो में, अपने-आपको व्यवस्थित कर लेते हैं, जिनमेंसे कि प्रत्येक का एक साधारण शब्द-भण्डार तथा साधारण मनोवैज्ञानिक इतिहास होता है। क्योंकि भाषा के विकास पर अधिष्ठान करनेवाला तत्त्व है साहचर्य—किन्ही सामान्य अभिप्रायो का, यह अधिक ठीक होगा, कि किन्ही सामान्य उपयोगिताओ का तथा ऐन्द्रियक मूल्यो का स्पष्ट विविक्त ध्वनियो के साथ साहचर्य, जो कि आदिकाल के मनुष्य के नाडीप्रधान (प्राण-प्रधान) मन के द्वारा किया जाता था। यह साहचर्य की पद्धति भी किसी भी अर्थ में कृत्रिम नही बल्कि स्वाभाविक होती थी और वह सरल तथा निश्चित मनोवैज्ञानिक नियमो से नियन्त्रित थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओ मे भाषा-ध्वनिया उसे व्यक्त करने के काम में नही आती थी जिसे कि हम विचार नाम से कहते है इसकी अपेक्षा वे किन्ही सामान्य इद्रियानुभवो तथा भावावेशो के लिये शाब्दिक समकक्ष थी। भाषा की रचना करनेवाले ज्ञानतन्तु थे, न कि बुद्धि। वैदिक प्रतीको का प्रयोग करे तो 'अग्नि' और 'वायु', न कि 'इद्र', मानवीय भाषा के आदिम रचयिता थे। मन निकला है प्राण की तथा इन्द्रियानुभव की क्रियाओ में से। मनुष्य में रहनेवाली बुद्धि ने अपना निर्माण किया है, इन्द्रियकृत साहचर्यों तथा ऐन्द्रियक ज्ञान की प्रतिक्रियाओ के आधार पर। इसी प्रकार की प्रक्रियाद्वारा भाषा का बौद्धिक प्रयोग इद्रियानुभव-सम्बन्धी तथा भावावेशसम्बन्धी प्रयोग मे से एक स्वाभाविक नियम के द्वारा विकसित हुआ है। शब्द जो कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे इद्रियानुभवो व अर्थों की अस्पष्ट सभावना से भरे प्राणप्रेरित आत्मनिस्सरण रूप थे, विकसित हो कर ठीक-ठीक बौद्धिक अर्थों के नियत प्रतीको के रूप मे परिणत हो गये।

फलत, शब्द प्रारम्भ में किसी निश्चित विचार के लिये नियत नही किया हुआ था। इसका एक सामान्य स्वरूप था, सामान्य 'गुण' था, जो कि बहुत प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता था और इसीलियें बहुत से सम्भव अर्थों को दे सकता था। और अपने इस 'गुण' को तथा इसके परिणामो को यह अनेक सजातीय ध्वनियो के साथ साझे में रखता था, इसमें अनेक सजातीय ध्वनिया भागीदार होती थी। इसलिये सर्वप्रथम शब्दवर्गों ने, अनेक शब्दपरिवारो ने एक

प्रकार की सामाजिक (सामुदायिक) पद्धति से अपना जीवन प्रारम्भ किया जिसमें कि उनके लिये संभव तथा सिद्ध अर्थों का एक सर्वसाधारण भंडार था और उन अर्थों के प्रति सबका एक-सा सर्वसाधारण अधिकार था। उनका व्यक्तित्व किसी एक ही विचार को अभिव्यक्त करने के एकाधिकार में नहीं, किन्तु इससे कहीं अधिक उसी एक विचार के अभिव्यक्त करने के अपने छायाभेद में प्रकट होता था।

भाषा का प्राचीन इतिहास एक विकास है, जो कि शब्दों के इस सामाजिक (सामुदायिक) पद्धति के जीवन से निकलकर एक या अधिक बौद्धिक अर्थों को रखने की एक वैयक्तिक संपत्ति की पद्धति तक आने में हुआ है। अर्थ-विभाग का नियम पहले-पहल बहुत लचकीला था, फिर बढ़कर दृढ़ हुआ, जबतक कि शब्दपरिवार और अन्त में पृथक् पृथक् शब्द अपने ही द्वारा अपना निजी जीवन आरम्भ करने योग्य हो गये। भाषा की बिल्कुल स्वाभाविक वृद्धि की अन्तिम अवस्था तब आती है जब कि, शब्द का जीवन जिस विचार का वह द्योतक है, उस विचार के जीवन के अधीन पूर्ण रूप से हो जाता है। क्योंकि भाषा की प्रथम अवस्था में शब्द वैसी ही सजीव अथवा उससे भी अधिक सजीव शक्ति होता है, जैसा कि इसका विचार, ध्वनि अर्थ को निश्चित करती है। इसकी अन्तिम अवस्था में ये स्थितियां उलट जाती है, सारा का सारा महत्त्व विचार को मिल जाता है, ध्वनि गौण हो जाती है।

भाषा के प्रारम्भिक इतिहास का दूसरा विशिष्ट अंग यह है कि पहिले-पहिल यह विचारों के सविशेष रूप से बहुत ही छोटे भंडार को प्रकट करती है और ये अधिक से अधिक जितने सामान्य हो सकते हैं उतने सामान्य प्रकार के विचार होते हैं और सामान्यतया अधिक-से-अधिक मूर्त होते हैं, जैसे कि प्रकाश, गति, स्पर्श, पदार्थ, विस्तार, शक्ति, वेग इत्यादि। इसके बाद विचार की विविधता में और विचार की निश्चितता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि होती है सामान्य से विशेष की ओर, अनिश्चित से निश्चित की ओर, भौतिक से मानसिक की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर, और सदृश वस्तुओं के विषय में इन्द्रियानुभवों की अत्यधिक विविधता के व्यक्तीकरण से सदृश वस्तुओं, अनुभवों, क्रियाओं के बीच निश्चित

भेद के व्यक्तीकरण की ओर। यह प्रगति सम्पन्न होती है विचारो में साहचर्य की प्रक्रियाओ के द्वारा, जो प्रक्रियाएं सदा एकसी होती है, सदा लौट-लौटकर आती है और जिनमे (यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ये भाषा को बोलनेवाले मनुष्य की परिस्थितियो तथा उसके वास्तविक अनुभवों के कारण ही बनती है, तो भी) विकास के स्थिर स्वाभाविक नियम दिखलायी देते हैं। और आखिरकार नियम इसके अतिरिक्त और क्या है कि, यह एक प्रक्रिया है जो कि वस्तुओ की प्रकृति के द्वारा उनकी परिस्थितियो की आवश्यकताओ के उत्तर मे निर्मित हुई है और उनकी क्रियाएं करने का एक स्थिर अभ्यास बन गयी है।

भाषा के इस भूतकालीन इतिहास से कुछ परिणाम निकलते है जो कि वैदिक व्याख्या की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के हैं। प्रथम तो यह कि इन नियमो के ज्ञान के द्वारा जिनके अनुसार कि ध्वनि तथा अर्थ के सबध सस्कृतभाषा में बने है तथा इसके शब्द-परिवारो के एक सतर्क और सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा बहुत हद तक यह सभव है कि पृथक् शब्दो के अतीत इतिहास को फिर से प्राप्त किया जा सके। यह सभव है कि शब्द असल में जिन अर्थों को रखते है उनका कारण बताया जा सके, यह दिखाया जा सके कि किस प्रकार वे अर्थ भाषाविकास की विविध अवस्थाओ म से गुजर कर बने है शब्द के भिन्न भिन्न अर्थों में पारस्परिक सबन्ध स्थापित किया जा सके और इसकी व्याख्या की जा सके कि किस प्रकार विस्तृत भेद के होते हुए तथा कभी कभी उनके अर्थ-मूल्यो में स्पष्ट विरोधिता तक होते हुए भी उसी शब्द के वे अर्थ है। यह भी सम्भव है कि एक निश्चित तथा वैज्ञानिक आधार पर शब्दो के लुप्त अर्थ फिर से पाये जा सकें और उन्हे उन साहचर्य के दृष्ट नियमो के प्रमाण द्वारा जिन्होने कि प्राचीन आर्यन भाषाओ के विकास में काम किया है तथा स्वय शब्द की ही छिपी हुई साक्षी के द्वारा और इसके आसन्नतम सजातीय शब्द की समर्थन करनेवाली साक्षी के द्वारा प्रमाणित किया जा सके। इस प्रकार वैदिक भाषा के शब्दो पर विचार करने के लिये एक बिल्कुल अस्थिर तथा आनुमानिक आधार पाने के स्थान पर हम विश्वास के साथ एक सुदृढ और भरोसे लायक आधार पर खडे होकर काम कर सकते है।

स्वभावत, इसका यह अभिप्राय नही है कि क्योकि एक वैदिक शब्द एक समय में

शायद या अवश्य ही किसी विशेष अर्थ को रखता था, इसलिये वह अर्थ सुरक्षित रूप से वेद के असली मूलग्रन्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु हम यह अवश्य करते हैं कि शब्द के एक युक्तियुक्त अर्थ को और वेद में उसका वही ठीक अर्थ है इसकी स्पष्ट संभावना को स्थापित कर दें। शेष जो रह जाता है वह विषय है उन सन्दर्भों के तुलनात्मक अध्ययन का जिनमें कि वह शब्द आता है, और इसका कि प्रकरण में वह अर्थ निरंतर ठीक बैठता है या नहीं। मैंने लगातार यह पाया है कि एक अर्थ जो कि इस प्रकार प्राप्त किया जाता है जहां कहीं भी लगाकर देखा जाता है सदा ही प्रकरण को प्रकाशित कर देता है और दूसरी ओर मैंने यह देखा कि सदा प्रकरण के द्वारा जिस अर्थ की मांग होती है, वह ठीक वही अर्थ होता है जिसपर हमें शब्द का इतिहास पहुंचाता है। नैतिक निश्चयात्मकता के लिये तो यह पर्याप्त आधार है, किन्तु निश्चयात्मकता के लिये चाहे न भी हो।

दूसरे, भाषा का एक सविशेष अंग अपने उद्गमकाल में यह था कि बहुत सारे भिन्न भिन्न अर्थों को एक ही शब्द दे सकता था और साथ ही बहुत सारे शब्द ऐसे थे जो कि एक ही विचार को देने के लिये प्रयुक्त होते थे। पीछे से यह उष्णदेशीय बहुतायत घटने लगी। बुद्धि अपनी निश्चयात्मकता की बढ़ती हुई मांग के साथ, मितव्ययता की बढ़ती हुई दृष्टि के साथ बीच में आयी। शब्दों की धारण-क्षमता उत्तरोत्तर कम होती गयी, और यह कम और कम सह्य होता गया कि एक ही विचार के लिये आवश्यकता से अधिक शब्द लगे हुए हों, एक ही शब्द के लिये आवश्यकता से अधिक भिन्न-भिन्न विचार हों। इस विषय में एक बहुत बड़ी, यद्यपि अत्यधिक कठोर नहीं, परिमितता, इस मांग के द्वारा नियमित होकर कि विभिन्नता का समर्याद वैभव होना ही चाहिये, भाषा का अन्तिम नियम हो गयी। परन्तु संस्कृतभाषा इस विकास की अन्तिम अवस्थाओं तक पूर्ण रूप से कभी नहीं पहुंची, बहुत जल्दी ही यह प्राकृत भाषा के अन्दर विलीन हो गयी। इसके अधिक-से-अधिक उत्तरकालीन और अधिक-से-अधिक साहित्यिक रूप तक में एक ही शब्द के लिये अत्यधिक विभिन्न अर्थ पाये जाते हैं, यह आवश्यकता से अधिक पर्यायों की सम्पत्ति से लदी हुई है। इसलिये आलंकारिक प्रयोगों के लिये संस्कृत-भाषा असाधारण क्षमता रखती है, जिसका कि किसी दूसरी भाषा में होना कठिन,

जबर्दस्ती से किया गया, तथा निराशाजनक रूप से कृत्रिम होगा और यह बात है और भी विशेषतया श्लेष-द्वचर्थक अलकार-के लिये।

फिर वेद की सस्कृत तो भाषा के विकास में और भी अधिक प्राचीन स्तर को सूचित करती है। अपने बाह्य रूपो तक में किसी भी प्रथम वर्ग की भाषा की अपेक्षा यह अपेक्षाकृत कम नियत है; यह रूपों और विभक्तियों की विविधता से भरी पडी है, यह द्रव की तरह अस्थिर और आकार मे अनिश्चित है, फिर भी अपने कारको तथा कालो के प्रयोग मे यह अत्यधिक सूक्ष्म है। यह अपने मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक पार्श्व मे अभी नियमिताकार नही हुई है, यह बौद्धिक निश्चयात्मकता के दृढ़ रूपो में जमकर अभी पूर्ण रूप से कठोर नही बनी है। वैदिक ऋषियो के लिये शब्द अब भी एक सजीव वस्तु है, उत्पादक निर्माणात्मक शक्ति की एक वस्तु है। अब भी यह विचार के लिये एक रूढिसकेत नही है, बल्कि स्वय विचारो का जनक और निर्माता है। यह अपने अदर अपनी मूल धातुओ की स्मृति को रखे हुए है, अबतक यह अपने इतिहास से अभिज्ञ है।

ऋषियो का भाषा का प्रयोग शब्द के इस प्राचीन मनोविज्ञान के द्वारा शासित था। जब अग्रेजी भाषा मे हम 'वुल्फ' (Wolf) या 'काउ' (Cow) शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमें इनसे केवलमात्र वे पशु (भेडिया या गाय) अभिप्रेत होते हैं जिनके कि वाचक ये शब्द हैं, हमें किसी ऐसे कारण का ज्ञान नहीं होता कि क्यो हमें अमुक ध्वनि अमुक विचार के लिये प्रयुक्त करनी चाहिये, सिवाय इसके कि हम कहे कि भाषा का स्मरणातीत अतिप्राचीन व्यवहार ऐसा ही चला आता है, और हम इसे किसी दूसरे अर्थ या अभिप्राय के लिये भी व्यवहृत नही कर सकते, सिवाय किसी कृत्रिम भाषाशैली के कौशल के तौर पर। परन्तु वैदिक ऋषि के लिये 'वृक' का अभिप्राय था 'विदारक' और इसलिये इस अर्थ के दूसरे विनियोगो में यह भेडिये का वाची भी हो जाता था, 'धेनु' का अर्थ था 'प्रीणयित्री' 'पालयित्री' और इसीलिये इसका अर्थ गाय भी था। परन्तु मौलिक और सामान्य अर्थ मुख्य है, निष्पन्न और विशेष अर्थ गौण है। इसलिये सूक्त के रचयिता के लिये यह सभव था कि वह इन सामान्य शब्दो को एक बडी लचक के साथ प्रयुक्त करे, कभी वह भेडिये या गाय की प्रतिमा को अपने सामने रखे, कभी इसका प्रयोग अपेक्षाकृत

अधिक सामान्य अर्थ की रंगत देने के लिये करे, कभी वह इसे उस आध्यात्मिक विचार के लिये जिसपर कि उसका मन काम कर रहा है केवल एक कृत्रिमसंकेत के तौर पर रखे, कभी प्रतिमा को दृष्टि से सर्वथा ओझल कर दे। प्राचीन भाषा के इस मनोविज्ञान के प्रकाश में ही हमने वैदिक प्रतीकवाद के अद्भुत अलंकारों को समझना है, जैसा कि ऋषियों ने उन्हें प्रयुक्त किया है, उनतक को जो कि अत्यधिक सामान्य और मूर्त प्रतीत होते हैं। यही रूप है, जिसमें कि इस प्रकार के शब्द जैसे कि "घृतम्" घी, "सोम" पवित्र सुरा, तथा अन्य बहुतसे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त, एक ही शब्द के भिन्न अर्थों के बीच में विचार के द्वारा बनाये गये विभाग उसकी अपेक्षा बहुत कम भेदात्मक होते थे जैसे कि आधुनिक बोल्चाल की भाषा में। अंग्रेजी भाषा में "फ्लीट" (Fleet) जिसका अर्थ कि जहाजों का बेड़ा है और "फ्लीट" (Fleet) जिसका अर्थ तेज है, दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, जब हम पहले अर्थ में "फ्लीट" का प्रयोग करते हैं तब हम जहाज की गति की तेजी को विचार में नहीं लाते, नाही जब हम इस शब्द को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करते हैं तो उस समय हम समुद्र में जहाज के तेजी के साथ चलने को ध्यान में लाते हैं। परन्तु ठीक यही बात है जो कि भाषा के वैदिक प्रयोग में प्राय होती है। 'भग' जिसका अर्थ 'आनन्द' है और "भग" जिसका अर्थ 'भाग' है, वैदिक मन के लिये दो भिन्न-भिन्न शब्द नहीं हैं, परन्तु एक ही शब्द है जो इस प्रकार विकसित होते-होते दो भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लग पड़ा है। इसलिये ऋषियों के लिये यह आसान था कि वे इसे दोनों में से किसी एक अर्थ में प्रयुक्त करें और साथ में उसके पृष्ठ म दूसरा अर्थ भी रहे और वह इसके प्रत्यक्ष वाच्यार्थ को अपनी रंगत देता रहे अथवा यहां तक हो सकता था कि इसे वे किसी एकत्रीकृत अर्थ के अलंकार द्वारा एक ही समय एकसमान दोनों अर्थों में प्रयुक्त करे। "चमस्" का अर्थ था 'भाजन' परन्तु साथ ही इसका अर्थ 'आनन्द, सुख' भी होता था, इसलिये ऋषि इसका प्रयोग इस रूप म कर सकते थे कि, असंस्कृत मन के लिये इससे केवल उस भोजन का ग्रहण हो जो कि यज्ञ में देवताओं को दिया जाता था, पर दीक्षित के लिये इसका अर्थ हो आनन्द, भौतिक चेतना के अंदर प्रविष्ट होना हुआ

दिव्य सुख या आनन्द, और इसके साथ ही यह सोम रस के रूपक की ओर संकेत करता हो, जो कि एकमात्र देवो का भोजन तथा आनद का वैदिक प्रतीक होता है।

हम देखते है कि भाषा का इस प्रकार का प्रयोग वैदिक मत्रो की वाणी में सर्वत्र प्रधानरूप से पाया जाता है। यह एक बडा अच्छा उपाय था जिसके द्वारा कि प्राचीन रहस्यवादियो ने अपने कार्य की कठिनाई को दूर कर पाया था। सामान्य पूजक के लिये 'अग्नि' का अभिप्राय केवलमात्र वैदिक आग का देवता हो सकता था, या इसका अभिप्राय भौतिक प्रकृति में काम करनेवाला ताप या प्रकाश का तत्त्व हो सकता था अथवा अत्यत अज्ञानी मनुष्य के लिये इसका अर्थ केवल एक अतिमानुष व्यक्तित्व हो सकता था जो कि 'धनदौलत देनेवाले', मनुष्य की कामना को पूर्ण करनेवाले इस प्रकार के अनेक व्यक्तित्वो में एक है। पर उनके लिये, इससे क्या सूचित होना, जो कि एक गभीरतर विचार के, देव (परमेश्वर) के आध्यात्मिक व्यापारो के योग्य थे ? इस कार्य की पूर्ति यह शब्द स्वय कर देता है। क्योकि 'अग्नि' का अर्थ होता था 'बलवान्", इसका अर्थ था 'चमकीला" या यह भी कह सकते है कि शक्ति, तेजस्विता। इसलिये यह जहा कहीं भी आये, आसानी से दीक्षित को प्रकाशमय शक्ति के विचार का स्मरण करा सकता था, जो कि लोको का निर्माण करती है और जो मनुष्य को ऊचा उठाकर सर्वोच्च को प्राप्त करा देती है महान् कर्म का अनुष्ठाता है, मानव-यज्ञ का पुरोहित है।

और श्रोता के मन म यह कैसे बैठता कि ये सब देवता एक ही विश्वव्यापक देव के व्यक्तित्व हैं ? देवताओ के नाम अपन अर्थ मे ही, इसका स्मरण कराते हैं कि वे केवल विशेषण है अर्थसूचक नाम है वर्णन है न कि किसी स्वतत्र व्यक्ति के वाचक नाम। मित्र देवता प्रम और सामजस्य का अधिपति है, भग सुखोपभोग का अधिपति है सूर्य प्रकाश का अधिपति है वरुण है उस देव की सर्वव्यापक विशालता और पवित्रता जो कि जगत् को धारण तथा पूर्ण करती है। 'सत् तो एक ही है' ऋषि दीर्घतमस् कहता है, 'पर सत लोग उसे भिन्न भिन्न रूपो में प्रकट करते है, वे 'इन्द्र' कहते हैं, 'वरुण' कहते है, 'मित्र' कहते है, 'अग्नि' कहते है,

वे इसे 'अग्नि' नाम से पुकारते हैं, 'यम' नाम से, 'मातरिश्वा' नाम से'।* वैदिक ज्ञान के प्राचीनतर काल में दीक्षित इस स्पष्ट स्थापना की आवश्यकता नहीं रखता था। देवताओं के नाम स्वयं ही उसे अपने अर्थ बता देते थे और उसे उस महान् आधारभूत सत्य का स्मरण कराये रहते थे जो कि सदा उसके साथ रहता था।

परन्तु बाद के युगों में यह उपाय ही, जो कि ऋषियों द्वारा प्रयुक्त किया गया था, वैदिक ज्ञान की सुरक्षा के प्रतिकूल पड़ गया। क्योंकि भाषा ने अपना स्वरूप बदल लिया, अपनी प्रारंभिक लचक को छोड़ दिया, अपने पुराने परिचित अर्थों को उतारकर रख दिया, शब्द संकुचित हो गया और सिकुड़कर वह अपने अपेक्षाकृत बाह्य तथा स्थूल अर्थ में सीमित हो गया। आनंद का अमृत-रस-पान भुला दिया जाकर भौतिक हवि-प्रदान मात्र रह गया, 'घृत' का रूपक केवल गाथाशास्त्र के देवताओं के तृप्ति के लिये किये जानेवाले स्थूल निषेक का ही स्मरण कराने लग गया, आग के और बादल के तथा आंधी के देवता केवलमात्र ऐसे देवता रह गये, जिनमें कि भौतिक शक्ति और बाह्य प्रताप के सिवाय और कोई शक्ति नहीं बची। अक्षरार्थ मात्र प्रचलित रहे जब कि प्राणरूप असली अर्थों को भुला दिया गया। प्रतीक, वैदिक वाद का शरीर बचा रहा, पर ज्ञान की आत्मा इसके अंदर से निकल गयी।

---

*इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ० १।१६४।४६)

सातवां अध्याय

अग्नि और सत्य

ऋग्वेद अपने सब भागों में एकवाक्यता रखता है। इसके दस मण्डलों में से हम कोई-सा लें, उसमें हम एक ही तत्त्व, एक ही विचार, एक-से अलकार और एक ही से वाक्यांश पाते हैं। ऋषिगण एक ही सत्य के द्रष्टा हैं और उसे अभिव्यक्त करते हुए वे एक समान भाषा का प्रयोग करते हैं। उनका स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न हैं, कोई-कोई अपेक्षया अधिक समृद्ध, सूक्ष्म और गंभीर अर्थों में वैदिक प्रतीकवाद का प्रयोग करने की प्रवृत्ति रखते हैं, दूसरे अपने आत्मिक अनुभव को अधिक सादी और सरल भाषा में प्रकट करते हैं, जिसमें विचारों का उर्वरपन, कवितामय अलकार की अधिकता या भावों की गंभीरता और पूर्णता अपेक्षया कम होते हैं। अधिकतर एक ऋषि के सूक्त विभिन्न प्रकार के हैं, वे अत्यधिक सरलता से लेकर बहुत ही महान् अर्थगौरव तक शृखलाबद्ध हैं। अथवा एक ही सूक्त में चढाव-उतार देखने म आते हैं, वह यज्ञ के सामान्य प्रतीक की बिलकुल साधारण पद्धतियों से शुरू होता है और एक सघन तथा जटिल विचार तक पहुच जाता है। कुछ सूक्त बिलकुल स्पष्ट हैं और उनकी भाषा लगभग आधुनिक-सी है, दूसरे कुछ ऐसे हैं जो पहले-पहल अपनी दीखनेवाली विचित्रसी अस्पष्टता से हमें गडबड में डाल देते हैं। परतु वर्णनशैली की इन विभिन्नताओं से आध्यात्मिक अनुभवों की एकता का कुछ नहीं बिगडता, न ही उनमें कोई ऐसा पेचीदापन है जो कि नियत परिभाषाओं और सामान्य सूत्रों के ही कहीं बदल जाने के कारण आता हो। जैसे मेधातिथि काण्व के गीतिमय स्पष्ट वर्णनों में वैसे ही दीर्घतमस् औतथ्य की गंभीर तथा रहस्यमय शैली में, और जैसे वसिष्ठ की एकरस समस्वरताओं में वैसे ही विश्वामित्र के प्रभावोत्पादक शक्तिशाली सूक्तों में हम ज्ञान की वही दृढ स्थापना और दीक्षिता की पवित्र विधियों का वही सतर्कता-युक्त अनुवर्तन पाते हैं।

वैदिक रचनाओं की इस विशेषता से यह परिणाम निकलता है कि, व्याख्या की वह प्रणाली भी जिसका कि मैंने उल्लेख किया है एक ही ऋषि के छोटे-से सूक्त-समुदाय के द्वारा वैसी ही अच्छी तरह उदाहरण देकर पुष्ट की जा सकती है जैसे कि दसों मण्डलों से चुनकर इकट्ठे किये हुए कुछ सूक्तों के द्वारा। यदि मेरा प्रयोजन यह हो कि व्याख्या की अपनी इस शैली को जिसे मैं दे रहा हूं इतनी अच्छी तरह स्थापित कर दूं कि इसपर किसी प्रकार की आपत्ति की कोई संभावना न रहे, तो इसमें कहीं बहुत अधिक ब्यौरेवार और बड़े प्रयत्न की आवश्यकता होगी। सारे-के-सारे दसों मण्डलों की एक आलोचनात्मक परीक्षा अनिवार्य होगी। उदाहरण के लिये, वैदिक पारिभाषिक शब्द 'ऋतम्', सत्य, के साथ मैं जिस भाव को जोड़ता हूं अथवा प्रकाश की गौओं के प्रतीक की मैं जो व्याख्या करता हूं उसे ठीक सिद्ध करने के लिये मेरे लिये यह आवश्यक होगा कि मैं उन सभी स्थलों को, चाहे वे किसी भी महत्त्व के हों, उद्धृत करूं जिन में सत्य का विचार अथवा गौ का अलंकार आता है और उनकी आशय व प्रकरण की दृष्टि से परीक्षा करके अपनी स्थापना की पुष्टि करूं। अथवा यदि मैं यह सिद्ध करना चाहूं कि वेद का इन्द्र असल में अपने आध्यात्मिक रूप में प्रकाशयुक्त मन का अधिपति है, जो प्रकाश-युक्त मन 'द्यौ' या आकाश द्वारा निरूपित किया गया है, जिसमें तीन प्रकाशमान लोक, 'रोचना' हैं, तो मुझे उसी प्रकार से उन सूक्तों की जो इन्द्र को संबोधित किये गये हैं और उन सन्दर्भों की जिनमें वैदिक लोक-संस्थान का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, परीक्षा करनी होगी। और वेद के विचार ऐसे परस्पर-ग्रथित और अन्योन्याश्रित हैं कि केवल इतना करना भी पर्याप्त नहीं हो सकता, जबतक कि अन्य देवताओं की तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिभाषाओं की जिनका कि सत्य के विचार के साथ कुछ सम्बन्ध है और उस मानसिक प्रकाश के साथ सम्बन्ध है जिसमें से गुजरकर मनुष्य उस सत्य तक पहुंच पाता है, कुछ आलोचनात्मक परीक्षा न कर ली जाय। मैं अच्छी तरह समझता हूं कि इस प्रकार का अपनी स्थापना को प्रमाणित करने का कार्य किये जाने की आवश्यकता है और *वैदिक सत्य पर, वेद के देवताओं पर, तथा वैदिक प्रतीकों पर अपने अनुशीलन* लिखकर इसे पूरा करने की मैं आशा भी रखता हूं। परन्तु उस उद्देश्य के

लिये किया गया प्रयत्न इस कार्य की सीमा से बिल्कुल बाहर का होगा जिसे कि इस समय मैंने अपने हाथ मे लिया है और जो केवल यहीं तक सीमित है कि, मै अपनी प्रणाली का सोदाहरण स्पष्टीकरण करू और मेरी कल्पना से जो परिणाम निकलते हैं उनका सक्षिप्त वर्णन करू।

अपनी प्रणाली का स्पष्टीकरण करने के लिये मैं चाहता हू कि प्रथम मण्डल के पहले ग्यारह सूक्त मैं लू और दिखाऊ कि, किस प्रकार से आध्यात्मिक व्याख्या के कुछ केन्द्रभूत विचार किन्ही महत्त्वपूर्ण सदर्भों में से या अकेले सूक्तो में से निकलते है और किस प्रकार गम्भीरतर विचार-शैली के प्रकाश मे उन सन्दर्भों के आसपास के प्रकरण और सूक्तो का सामान्य विचार एक बिल्कुल नया ही रूप धारण कर लेते है।

ऋग्वेद की सहिता, जैसी कि हमारे हाथ मे है, दस भागो मे या मण्डलो मे क्रमबद्ध है। इस क्रमविभाजन में दो प्रकार का नियम दिखायी देता है। इन मण्डलो मे से ६ मण्डल ऐसे है, जिनमें प्रत्येक के सूक्तो का ऋषि एक ही है, या एक ही परिवार का है। इस प्रकार दूसरे मण्डल मे मुख्य कर गृत्समद ऋषि के सूक्त है, ऐसे ही तीसरे और सातवे मण्डल के सूक्तो के ऋषि क्रम से ख्यातनामा विश्वामित्र और वशिष्ठ है। चौथा मण्डल वामदेव ऋषि का तथा छठा भारद्वाज का है।, पाचवा अत्रि-परिवार के सूक्तो से व्याप्त है। इन मण्डलो मे से प्रत्येक में अग्नि को सबोधित किये गये सूक्त सबसे पहिले इकट्ठे करके रख दिये गये है, उसके बाद वे सूक्त आते है, जिनका देवता इद्र है, अन्य देवता बृहस्पति, सूर्य, ऋभव, उषा आदि के आवाहनो से मण्डल समाप्त होता है। नवा मण्डल सारा ही अकेले सोमदेवता को दिया गया है। पहले, आठवे और दसवे मण्डल मे भिन्न-भिन्न ऋषियो के सूक्तो का सग्रह है, परन्तु प्रत्येक ऋषि के सूक्त सामान्यत उनके देवताओ के क्रम से इकट्ठे रखे गये है, सबसे पहले अग्नि आता है, उसके पीछे इद्र और अन्त मे अन्य देवता। इस प्रकार प्रथम मण्डल के प्रारम्भ मे विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषि के दस सूक्त है और ग्यारहवा सूक्त जेतृ का है जो मधुच्छन्दस् का पुत्र है। फिर भी यह अन्तिम सूक्त शैली, प्रकार और भाव में उन दस के जैसा ही है, जो इससे पहिले आये है और इसलिये इन

ग्यारहों सूक्तों को इकट्ठा मिलाकर उन्हे एक ऐसा सूक्तसमुदाय समझा जा सकता है जो भाव और भाषा में एकसा है।

इन वैदिक सूक्तों को क्रमबद्ध करने में विचारो के विकास का भी कोई नियम अवश्य काम कर रहा है। प्रारम्भ मे मण्डल का रूप ऐसा रखा गया प्रतीत होता है कि, अपने अनेक अगो में वेद का जो सामान्य विचार है, वह निरन्तर अपने आपको खोलता चले, उन प्रतीकों की आड में जो कि स्थापित हो चुके है और उन ऋषियो की वाणी द्वारा जिनमें प्राय सभी को विचारक और पवित्र गायक का उच्च पद प्राप्त है और जिनमें से कुछ तो वैदिक परम्परा के सब से अधिक यशस्वी नामो में से है। न ही यह अकस्मात् हो सकता है कि दसवे या अन्तिम मण्डल में जिसमें ऋषियो की अधिक विविधता भी पायी जाती है, हमें वैदिक विचार अपने अन्तिम विकसित रूपो में दिखाई देता है और ऋग्वेद के उन सूक्तो में से जो कि भाषा की दृष्टि से अधिक-से-अधिक आधुनिक है, कुछ इसी मण्डल में है। पुरुष-यज्ञ का सूक्त और सृष्टिसम्बन्धी महान् सूक्त हम इसी मण्डल में पाते है। इसीमें आधुनिक विद्वान् भी यह समझते है कि उन्होने वैदान्तिक दर्शन का, ब्रह्मवाद का, मूल उद्भव खोज निकाला है।

कुछ भी हो, विश्वामित्र के पुत्र तथा पौत्र के ये सूक्त जिनसे ऋग्वेद प्रारम्भ होता है आश्चर्यजनक उत्कृष्टता के साथ वैदिक समस्वरता के प्रथम मुख्य स्वरो को निकालते है। अग्नि को सम्बोधित किया गया पहला सूक्त सत्य के केन्द्र-भूत विचार को प्रकट करता है और यह विचार दूसरे व तीसरे सूक्तों में और भी दृढ हो जाता है, जहा कि अन्य देवताओ के साथ में इद्र का आवाहन किया गया है। शेष आठ सूक्तों में जिनमें अकेला इन्द्र देवता है, एक (छठे) को छोड-कर जहा कि वह मरुतो के साथ मिल गया है, हम सोम और गौ के प्रतीका को पाते है, प्रतिबन्धक वृत्र को और इन्द्र के उस अपने महान् कृत्य को पाते है जिसमें वह मनुष्य को प्रकाश की ओर ले जाता है और उसकी उन्नति में जो विघ्न आते हैं उन्हें हटाकर परे फेंक देता है। इस कारण ये सूक्त वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या के लिये निर्णयकारक महत्त्व के है।

अग्नि के सूक्त में, पाचवी से लेकर नौवी के पहले तक, ये चार ऋचायें हैं, जिन-

में आध्यात्मिक आशय बडे बल के साथ और बड़ी स्पष्टता के साथ प्रतीक के आवरण को पार करके बाहर निकल रहा है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥

इस संदर्भ में हम पारिभाषिक शब्दों की एक माला पाते हैं जिसका कि सीधा ही एक अध्यात्मपरक आशय है, अथवा वह स्पष्ट तौर से इस योग्य है कि उसमें से अध्यात्मपरक आशय निकल सके और इस शब्दावलि ने अपनी इस रंगत से सारे-के-सारे प्रकरण को रंगा हुआ है। पर फिर भी सायण इसकी विशुद्ध कर्मकाण्ड-परक व्याख्या पर ही आग्रह करता है और यह देखना मजेदार है कि वह इसतक कैसे पहुंचता है। पहले वाक्य में हमें 'कवि' शब्द मिलता है जिसका अर्थ द्रष्टा है और यदि हम 'क्रतु' का अर्थ यज्ञ-कर्म ही मान लें तो भी परिणामत इसका अभिप्राय होगा—"अग्नि, वह ऋत्विज् जिसका कि कर्म या यज्ञ द्रष्टा का है।" और यह ऐसा अनुवाद है जो तुरन्त यज्ञ को एक प्रतीक का रूप दे देता है और अपने-आपमें इसके लिये पर्याप्त है कि वेद को और भी गम्भीर रूप से समझने में बीज का काम दे सके। सायण अनुभव करता है कि उसे इस कठिनाई को जिस किसी प्रकार से भी परे हटाना चाहिये और इसलिये वह 'कवि' में जो द्रष्टा का भाव है, उसे छोड देता है और इसका एक दूसरा ही नया सा अप्रचलित अर्थ कर देता है*। आगे फिर वह व्याख्या करता है कि 'अग्नि' 'सत्य' है, सच्चा है, क्योंकि वह यज्ञ के फल को अवश्य देता है। 'श्रवस्' का अनुवाद सायण करता है "कीर्ति",

*"कविशब्दोऽत्र क्रांतवचनो न तु मेधाविनाम"—सायण

अग्नि की अत्यन्त ही चित्र विचित्र शांति है। निश्चय ही यहां इस शब्द को धन-संपत्ति के अर्थ में लेना अधिक उपयुक्त होगा, जिससे कि 'सत्य' की उपर्युक्त व्याख्या की असंगति दूर हो जाती। तब हम पांचवीं ऋचा का यह परिणाम निकालेंगे—"अग्नि जो होता है, यज्ञों में समंजीत है, जो (अपने फलों में) सच्चा है —क्योंकि उसकी ही यह अत्यन्त विविध संपत्ति है, वह देव अन्य देवों के साथ आये।"

भाष्यकार सायण ने छठी ऋचा का एक बहुत अनुपयुक्त और बेजोड़सा अन्वय कर डाला है और इससे विचार को बदलकर बिल्कुल तुच्छ रूप दे दिया है, जो ऋचा के प्रवाह को सर्वथा तोड़ देता है। "(विविध संपत्तियों के रूप में) यह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वह तेरी ही होगी। यह सच है, हे अंगिर'।" अभिप्राय यह है कि इस सचाई के बारे में कोई सन्देह नहीं है कि अग्नि यदि धन-दौलत देकर हवि देनेवाले का भला करता है तो बदले में वह भी उस अग्नि के प्रति नये-नये यज्ञ करेगा और इस प्रकार यज्ञकर्त्ता की भलाई अग्नि की ही भलाई हो जाती है। यहां फिर इसका इस रूप में अनुवाद करना अधिक अच्छा होता—"वह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अंगिर", क्योंकि इस प्रकार हमें एकदम अधिक स्पष्ट आशय और अन्वय पता लग जाता है और यज्ञिय अग्निदेवता के लिये जो 'सत्य', सच्चा, यह विशेषण लगाया है उसका स्पष्टीकरण हो जाता है। यही अग्नि का सत्य है कि वह यज्ञकर्ता के लिये निश्चित रूप से बदले में भला ही करता है।

सातवीं ऋचा कर्मकाण्डपरक व्याख्या में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती, सिवाय इस अद्भुत वाक्यांश के कि "हम नमस्कार को धारण करते हुए आते हैं।" सायण यह स्पष्टीकरण करता है कि धारण करने का यहां अभिप्राय सिर्फ 'करना' है, और वह इस ऋचा का अनुवाद इस प्रकार करता है—"तेरे पास हम प्रतिदिन,

---

"हे अग्ने, त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय, तत्प्रीत्यर्थं, यद् भद्रं वित्त-गृह-प्रजा-पशुरूपं कल्याणम् करिष्यसि तद् भद्रं तवत् तवैव सुखहेतुरिति शेष । हे अङ्गिरोऽग्ने ! एतच्च सत्यं, न त्वत्र विसंवादोऽस्ति, यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेन अग्नेरेव सुखं भवति।"—सायण।

रात में और दिन में, बुद्धि के साथ नमस्कार को करते हुए आते हैं[1]।" आठवी ऋचा में 'ऋतस्य' को वह सत्य के अर्थ में लेता है और इसकी व्याख्या यह करता है कि इसका अभिप्राय है यज्ञकर्म के सच्चे फल। "तेरे पास, जो तू दीप्यमान है, यज्ञो का रक्षक है, सर्वदा उनके सत्य का (अर्थात् उनके अवश्यम्भावी फल का)' द्योतक है, अपने घर मे वृद्धि को प्राप्त हो रहा है[2]।" यहा फिर, यह अधिक सरल और अधिक अच्छा होता कि 'ऋतम्' को यज्ञ के अर्थ मे लिया जाता और इसका अनुवाद यह किया जाता–"तेरे पास, जो तू यज्ञ में प्रदीप्त हो रहा है, यज्ञ (ऋत) का रक्षक है, सदा प्रकाशमान है, अपने घर में वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।" अग्नि का "अपना घर", भाष्यकार कहता है, यज्ञशाला है, और वस्तुत ही इसे सस्कृत में प्राय 'अग्नि-गृह' कहते है।

इस प्रकार हम देखते है कि उस सदर्भ तक का जो कि पहले-पहल देखने पर आध्यात्मिक अर्थ की एक बडी भारी सम्पत्ति को देता हुआ लगता है, हम थोडासा ही जोड-तोड करके एक विशुद्ध कर्मकाण्डपरक, किन्तु बिल्कुल अर्थ-शून्य, आशय गढ सकते है। तो भी, कितनी ही निपुणता के साथ यह काम क्यो न किया जाय, इसमे दोष और कमिया रह ही जाती है और उनसे इसकी कृत्रिमता का पता लग जाता है। हम देखते है कि हमे 'कवि' के सीधे अर्थ को दूर फेंक देना पडा है जो अर्थ कि इसके साथ सारे वेद में जुडा हुआ है और इसके मत्थे एक अवास्तविक अर्थ को मढना पडा है। या तो हमें 'सत्य' और 'ऋत' इन दो शब्दो का एक दूसरे से सम्बन्धविच्छेद करना पडा है जब कि वेद में ये दोनो शब्द अत्यन्त सम्बद्ध पाये जाते है या ऋत को जबर्दस्ती कोई नया अर्थ देना पडा है और शुरू से अन्त तक हमने

---

[1] "हे अग्ने, वयमनुष्ठातारो दिवे दिवे प्रतिदिन, दोषावस्त. रात्रावहनि च, धिया बुद्धचा, नमो भरन्त नमस्कार सम्पादयन्त, उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छाम"–सायण।

[2] "कीदृश त्वा ? राजन्त दीप्यमान, अध्वराणाम् राक्षसकृतहिंसारहिताना यज्ञाना, गापा रक्षक, ऋतस्य सत्यस्य अवश्यम्भाविन कर्मफलस्य, दीदिवि पौन -पुन्येन भृश वा द्योतक, , स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालाया हविर्भिर्वर्धमानम्"–सायण।

उन सब स्वाभाविक निर्देशों की उपेक्षा की है जिनके लिये ऋषि की भाषा हमपर दबाव डालती है।

तो अब हमें इस सिद्धांत को छोड़कर इसके स्थान पर दूसरे सिद्धांत का अनुसरण करना चाहिये। और ईश्वर-प्रेरित मूल वेद के शब्दों को उनका जो आध्यात्मिक मूल्य है, वह उन्हें पूर्ण रूप से देना चाहिये। 'क्रतु' का अर्थ संस्कृत में कर्म या क्रिया है, विशेषकर यह कर्म यज्ञ के अर्थों में, परन्तु इसका अर्थ वह शक्ति या बल (ग्रीक क्रटोस 'Kratos') भी होता है जो कि क्रिया को उत्पन्न करने में समर्थ हो। आध्यात्मिक रूप में यह शक्ति जो क्रिया में समर्थ होती है, संकल्प है। इस शब्द का अर्थ मन या बुद्धि भी हो सकता है और सायण स्वीकार करता कि इसका एक संभव अर्थ विचार या ज्ञान भी है। 'श्रवस्' का शाब्दिक अर्थ सुनना है और इस मुख्य अर्थ से ही इसका आनुषंगिक अर्थ 'कीर्ति' लिया गया है। पर अध्यात्मरूप से, इसमें जो सुनने का भाव है वह संस्कृत में एक दूसरे ही भाव को देता है, जिसे हम 'श्रवण', 'श्रुति', 'श्रुत'—ईश्वरीय ज्ञान या वह ज्ञान जो अन्तःप्रेरणा से आता है—में पाते हैं। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, स्वतःप्रकाश और अन्तःस्फुरणा ये उस अतिमानस सामर्थ्य की दो शक्तियां हैं जिसका संबंध सत्य के, 'ऋतम्' के प्राचीन वैदिक विचार से है। कोषकारों ने 'श्रवस्' शब्द को इस अर्थ में नहीं दिखाया है, परंतु 'वैदिक ऋचा, एक वैदिक सूक्त, वेद के ईश्वरप्रेरित शब्द' इस अर्थ में यह शब्द स्वीकार किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समय में यह शब्द अन्तःप्रेरित ज्ञान के या किसी ऐसी वस्तु के भाव को देता था जो कि अन्तःस्फुरित हुई हो, चाहे वह शब्द हो या ज्ञान हो। तो इस अर्थ को, कम-से-कम अस्थायी तौर पर ही सही, हमें उपस्थित संदर्भ में लगाने का अधिकार है, क्योंकि दूसरा कीर्ति का अर्थ इस प्रकरण में बिल्कुल असंगत और निरर्थक लगता है। फिर नमस् शब्द का भी आध्यात्मिक आशय लेना चाहिये, क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है "नीचे झुकना" और इसका प्रयोग देवता के प्रति की गयी सत्कारसूचक नम्रता की क्रिया के लिये होता है जो कि भौतिक रूप से शरीर को दण्डवत् करके की जाती है। इसलिये जब ऋषि "विचार द्वारा अग्नि के लिये नमः धारण करने" की बात कहता है तो इसपर हम

मुश्किल से ही सदेह कर सकते है कि वह 'नमस्' को आध्यात्मिक तौर पर आन्तरिक नमस्कार के, देवता के प्रति हृदय से नत हो जाने या आत्म-समर्पण करने के अर्थ मे प्रयोग कर रहा है।

तो हम उपर्युक्त चार ऋचाओ का यह अर्थ पाते हैं—

"अग्नि, जो यज्ञ का होता है, कर्म के प्रति जिसका सकल्प द्रष्टा का सा है, जो सत्य है, नानाविध अन्त प्रेरणा का जो महाधनी है, वह देव देवो के साथ आवे।"

"वह भलाई जो तू हवि देनेवालेके लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अगिर!"

"तेरे प्रति दिन-प्रतिदिन, हे अग्ने! रात्रि मे और प्रकाश में, हम विचार के द्वारा अपने आत्म-समर्पण को धारण करते हुए आते है।"

"तेरे प्रति, जो तू यज्ञो में देदीप्यमान होता है (या जो यज्ञो पर राज्य करता है), सत्य का और इसकी ज्योति का सरक्षक है, अपने घर में वढ रहा है।"

हमारे इस अनुवाद मे यह त्रुटि है कि हमें 'सत्यम्' और 'ऋतम्' दोनोके लिये एक ही शब्द प्रयुक्त करना पडा है, जब कि, जैसे कि हमें 'सत्यम् ऋतम् बृहत्' इस सूत्र में देखने से पता चलता है, वैदिक विचार में इन दोनो शब्दो के ठीक-ठीक अर्थ में अतर था। अस्तु।

तो फिर यह अग्निदेवता कौन है जिसके लिये ऐसी रहस्यमयी तेजस्विता की भाषा प्रयुक्त की गयी है, जिसके साथ इतने महान् और गभीर कार्यों का सबध जोडा गया है? यह सत्य का सरक्षक कौन है जो अपने कार्य मे इस सत्य का प्रकाशरूप है, कर्म म जिसका सकल्प एक एसे द्रष्टा का सकल्प है जो अपनी नाना प्रकार से विविध अन्त प्रेरणाओ पर शासन करनेवाली दिव्य बुद्धि से युक्त है? वह सत्य क्या वस्तु है जिसकी वह रक्षा करता है? और वह भद्र क्या है जिसे वह उस हवि देनेवाले के लिये करता है जो उसके पास सदा दिनरात विचार में हवि-रूप से नमन और आत्म-समर्पण को धारण किये हुए आता है? क्या यह सोना है और घोडे है और गौए है, जिन्हे वह लाता है, अथवा यह कोई अधिक दिव्य ऐश्वर्य है?

यह यज्ञ की अग्नि नही है जो इन सब कार्यों को कर सके, न ही वह कोई भौतिक ज्वाला अथवा भौतिक ताप और प्रकाश का कोई तत्त्व हो सकता है। तो भी

सर्वत्र यज्ञिय अग्नि के प्रतीक का अवलंबन किया गया है। यह स्पष्ट है कि हमारे सामने एक रहस्यमय प्रतीकवाद है, जिसमें अग्नि, यज्ञ, होना, ये सब एक गभीरतर शिक्षण के केवल बाह्य अलंकारमात्र हैं और फिर भी ऐसे अलंकार जिनका अवलंबन करना और निरंतर अपने सामने रखना आवश्यक समझा गया था।

उपनिषदों की प्राचीन वैदान्तिक शिक्षा में सत्य का एक विचार देखने में आता है जो अधिकतर सूत्रों के द्वारा प्रकट किया गया है और वे सूत्र वेद की ऋचाओं मे से लिये गये हैं, जैसे कि एक वाक्य जिसे हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं, यह है "सत्यम् ऋतम् बृहत्"—सच, ठीक और महान्। वेद में इस सत्य के विषय में कहा गया है कि यह एक मार्ग है जो सुख की ओर ले जाता है, अमरता की ओर ले जाता है। उपनिषदों में भी यही कहा है कि सत्य के मार्ग द्वारा ही मन्न या द्रष्टा, ऋषि या कवि पार पहुंचता है। वह असत्य को पार कर लेता है, मर्त्य अवस्था को पार करके अमर सत्ता में पहुच जाता है। इसलिये हम यह कल्पना करने का अधिकार है कि, यह एक ही विचार ह जिसपर वेद म और वेदान्त में दोनों जगह चर्चा चल रही है।

यह आध्यात्मिक विचार उस सत्य के विषय में है, जो दिव्य तत्त्व का सत्य है, न कि वह जो कि मर्त्य अनुभव का और दीखने का सत्य है। वह 'सत्यम्' है, सत्ता का सत्य है, अपनी क्रियारूप में यह 'ऋतम्' है, व्यापार का सत्य है,—दिव्य सत्ता का सत्य जो मन और शरीर दोनों की सही क्रिया को नियमित करता है, यह 'बृहत्' है, वह सार्वभौम सत्य है, जो असीम में से सीधा और अविछिन्न रूप से निकल्ना है। वह चेतना भी जो कि इसके अनुरूप होती है, असीम है, 'बृहत्' है, महान् है, विपरीत उस अनुभवशील मन की चेतना के जो कि ससीमता पर आश्रित है। एक को 'भूमा', विशाल कहा गया है, दूसरी को 'अल्प' छोटा। इस अतिमानस या सत्य-चेतना का एक दूसरा नाम 'मह' है और इसका अर्थ भी 'महान्', 'विशाल' यही है और ऐंद्रियक अनुभव होने तथा दिखाई देने के तथ्यों के लिए जो कि मिथ्या ज्ञान से ('अनृतम्', जो सत्य नहीं है, या जो मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं में 'सत्यम्' का अशुद्ध तरीके पर प्रयोग है, उनसे) भरे होते हैं जैसे हमारे पास उपकरण रूप में इंद्रिया, अनुभवशील मन (मन) और बुद्धि

(जो कि उनकी साक्षी पर कार्य करती है) है, वैसे ही सत्य चेतना के लिये उसीके अनुरूप शक्तिया है–'दृष्टि', 'श्रुति', 'विवेक', सत्य का अपरोक्ष दर्शन, इसके शब्द का अपरोक्ष श्रवण, और जो ठीक हो उसकी अपरोक्ष विवेचन द्वारा पहिचान। जो कोई इस सत्य चेतना से युक्त होता है या इस योग्य होता है कि ये शक्तिया उसमें अपनी क्रिया करे, वह ऋषि या 'कवि' है, सन्त या द्रष्टा है। सत्य के, 'सत्यम्' और 'ऋतम्' के ये ही विचार है जिनको कि हमें वेद के इस प्रारम्भिक सूक्त में लगाना चाहिये।

अग्नि वेद में हमेशा शक्ति और प्रकाश के द्विविध रूप में आता है। यह वह दिव्य शक्ति है जो लोको का निर्माण करती है, एक शक्ति है जो सर्वदा पूर्ण ज्ञान के साथ क्रिया करती है, क्योकि यह 'जातवेदस्' है, सब जन्मो को जाननेवाली है, 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'–यह सब व्यक्त रूपो या घटनाओ को जानती है अथवा दिव्य बुद्धि के सब रूपो और व्यापारो से वह युक्त है। इसके अतिरिक्त, यह बार-बार कहा गया है कि अग्नि को देवो ने मर्त्यों में अमृत रूप से स्थापित किया है, मनुष्य में दिव्य शक्ति के रूप मे, उस पूर्ण करनेवाली, सिद्ध करनेवाली शक्ति के रूप में रखा है जिसके द्वारा वे देवता उस मनुष्य के अन्दर अपना कार्य करते है। यह कार्य है जिसका कि प्रतीक यज्ञ को बनाया गया है।

तो आध्यात्मिक रूप से अग्नि का अर्थ हम दिव्य सकल्प ले सकते है, वह दिव्य सकल्प जो पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि के द्वारा प्रेरित होता है और असल मे जो इस बुद्धि के साथ एक है, जो वह शक्ति है जिससे सत्य चेतना क्रिया करती है या प्रभाव डालती है। 'कविक्रतु' शब्द का स्पष्ट आशय है, वह जिसका क्रियाशील सकल्प या प्रभावक शक्ति द्रष्टा की है, अर्थात् जो उस ज्ञान के साथ कार्य करता है जो सत्य-चेतना से आनेवाला ज्ञान है और जिसमें कोई भ्रान्ति या गलती नही है। आगे जो विशेषण आये है वे इस व्याख्या को और भी पुष्ट करते है। अग्नि 'सत्य' है, अपनी सत्ता मे सच्चा है; अपने निजी सत्य पर और वस्तुओ के सारभूत सत्य पर जो इसका पूर्ण अधिकार है उसके कारण से इसमे यह सामर्थ्य है कि वह इस सत्य का शक्ति की सब क्रियाओ और गतियो मे पूर्णता के साथ उपयोग कर सकता है। इसके पास दोनो है, 'सत्यम्' और 'ऋतम्'।

इसके अतिरिक्त वह 'चित्रश्रवस्तम' है, 'ऋतम्' से उसमें अत्यधिक प्रकाशमय और विविध अन्तःप्रेरणाओं की पूर्णता आती है, जो उसे पूर्ण कार्य करने की क्षमता प्रदान करती है। क्योंकि ये सब विशेषण उस अग्नि के हैं जो 'होता' है, यज्ञ का पुरोहित है, वह है जो हविःप्रदान का कर्त्ता है। इसलिये यज्ञ के प्रतीक से सूचित होनेवाले कार्य (कर्म या अपस्) में सत्य का प्रयोग करने की उसकी शक्ति ही है जो कि अग्नि को मनुष्य द्वारा यज्ञ में आहूत किये जाने का पात्र बनाती है। बाह्य यज्ञों में यज्ञिय अग्नि की जो महत्ता है तदनुरूप ही आभ्यन्तर यज्ञ में इस एकीभूत ज्योति और शक्ति के आन्तरिक बल की महत्ता है, उस आभ्यन्तर यज्ञ में जिसके द्वारा मर्त्य और अमर्त्य में परस्पर संसर्ग और मर्त्य और अमर्त्य में एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान होता है। अन्य स्थलों में ऐसा वर्णन बहुतायत के साथ पाया जाता है कि अग्नि 'दूत' है, उस संसर्ग और आदान-प्रदान का माध्यम है।

तो हम देखते हैं कि किस योग्यतावाले अग्नि को यज्ञ के लिये पुकारा गया है, "वह देव अन्य देवों के साथ आये।" "देवो देवेभिः" इस पुनरुक्ति के द्वारा जो दिव्यता के विचार पर विशेष बल दिया गया है यह बिल्कुल साफ समझ में आने लगता है जब कि हम अग्नि के इस नियत वर्णन को स्मरण करते हैं कि, अग्नि जो मनुष्यों में रहनेवाला देव है, मर्त्यों में अमर्त्य है, दिव्य अतिथि है। इसे हम पूर्ण आध्यात्मिक रंग दे सकते हैं, यदि यह अनुवाद करें, 'वह दिव्य शक्ति दिव्य शक्तियों के साथ आये।' क्योंकि वेदार्थ की बाह्य दृष्टि में देवताएं भौतिक प्रकृति की सार्वत्रिक शक्तियां हैं जिन्हें अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व प्राप्त है, तो किसी भी आन्तरिक दृष्टि में ये देवतायें अवश्य ही प्रकृति की वे सार्वत्रिक शक्तियां, संकल्प, मन आदि होनी चाहियें जिन द्वारा प्रकृति हमारे अन्दर की हलचलों में काम करती है।

परन्तु वेद में इन शक्तियों की साधारण मनःसीमित या मानवीय क्रिया, 'मनुष्वत्' में और इनकी दिव्य क्रिया में सर्वदा भेद किया गया है। यह कल्पना की गयी है कि मनुष्य देवताओं के प्रति अपने आन्तरिक यज्ञ में अपनी मानसिक क्रियाओं का सही उपयोग करे तो उन्हें वह उनके सच्चे अर्थात् दिव्य

रूप में रूपान्तरित कर सकता है, मर्त्य अमर बन सकता है। इस प्रकार ऋभु-गण जो कि पहले मानव सत्तायें थीं या जो मानव शक्तियों के द्योतक थे, कर्म की पूर्णता के द्वारा–'सुकृत्यया' 'स्वपस्यया'–दिव्य और अमर शक्तियां बन गये। यह मानव का दिव्य को सतत आत्म-समर्पण और दिव्य का मानव के अन्दर सतत अवतरण है जो कि यज्ञ के प्रतीक से प्रकट किया गया प्रतीत होता है।

इस अमरता की अवस्था को जो इस प्रकार प्राप्त होती है आनन्द और परम सुख की अवस्था समझा गया है जिसका आधार एक पूर्ण सत्यानुभव और सत्याचरण, 'सत्यम्' और 'ऋतम्' है। मैं समझता हू इससे अगली ऋचा को हम अवश्य इसी अर्थ में लेना चाहिये। "वह भलाई (सुख) जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अग्ने!" दूसरे शब्दों में, इस सत्य का (जो इस अग्नि का स्वभाव है) सार है अभद्र से मुक्ति, पूर्ण भद्र और सुख की अवस्था जो 'ऋतम्' के अन्दर रहती है और जिसका मर्त्य में सृजन होना निश्चित है, जब कि वह मर्त्य अग्नि को दिव्य होता बनाकर उसकी क्रिया द्वारा यज्ञ में हवि देता है। 'भद्रम्' का अर्थ है कोई वस्तु जो भली, शिव, सुखमय हो, और इस शब्द को अपने-आप में कोई गम्भीर अर्थ देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वेद में हम इसे 'ऋतम्' की तरह एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ पाते हैं।

एक सूक्त (५-८२) में इसका इस रूप में वर्णन किया गया है कि, यह बुरे-स्वप्न (दुःस्वप्न्यम्) का, 'अनृतम्' की मिथ्या-चेतना का और 'दुरितम्' का, मिथ्या आचरण का विरोधी है,[1] जिसका अभिप्राय होता है कि यह सब प्रकार के पाप और कष्ट का विरोधी है। 'भद्रम्'[2] इसलिये 'सुवितम्' का, सत्य आचरण का समानार्थक है, जिसका अर्थ है वह सब भलाई और सुख कल्याण जो सत्य की, 'ऋतम्' की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह 'मयस्' है, सुख कल्याण है, और देवताओं को जो कि सत्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, 'मयोभुव' कहा गया है अर्थात् वे जो सुख कल्याण लाते हैं या जो अपनी सत्ता में सुख कल्याण

---

[1]प्रजावत् सावी सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ (ऋ० ५-८२-४)
[2]दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (ऋ० ५-८२-५)

रखाते हैं। इस प्रकार वेद का प्रत्येक भाग, यदि वह अच्छी तरह से समझ में आ गया है, तो प्रत्येक दूसरे भाग पर प्रकाश डालता है। इसमें परस्पर असंगति हमें तभी दीखती है जब इनपर पडे हुए आवरण के कारण हम भटक जाते हैं।

अगली ऋचा में यह प्रतीत होता है कि फलोत्पादक यज्ञ की शर्त बतायी गयी है। वह है दिन प्रतिदिन, रात में-प्रकाश में, मानव के अन्दर उसके विचार का सतत रहना, उस दिव्य सत्संकल्प और बुद्धि के प्रति अधीनता, पूजा और आत्म समर्पण के साथ जिसका कि प्रतिनिधि अग्नि है। रात और दिन, 'नक्तोषासा', भी वेद के अन्य सब देवों की तरह प्रतीकरूप ही हैं और आशय यह प्रतीत होता है कि चेतना की सभी अवस्थाओं में, चाहे वे प्रकाशमय हो चाहे धुधली, समस्त क्रियाओं की दिव्य नियन्त्रण के प्रति सतत वशवर्तिता और अनुरूपता होनी चाहिये।

क्योंकि चाहे दिन हो चाहे रात, अग्नि यज्ञो मे प्रदीप्त होता है, वह मनुष्य के अन्दर सत्य का, 'ऋतम्' का रक्षक है और अधकार की शक्तियो से इसकी रक्षा करता है, वह इस सत्य का सतत प्रकाश है जो मन की धुधली और पर्याक्रान्त दशाओ में भी प्रदीप्त रहता है। ये विचार जो इस प्रकार आठवी ऋचा में सक्षेप से दर्शाये गये हैं, ऋग्वेद में अग्नि के जितने सूक्त हैं उन सबमें स्थिर रूप से पाये जाते हैं।

अन्त में अग्नि के विषय में यह कहा गया है कि वह अपने घर में वृद्धि को प्राप्त होता है। अब हम अधिक देर तक इस व्याख्या से सन्तुष्ट नही रह सकते कि अग्नि का अपना घर वैदिक गृहस्थाश्रमी का 'अग्नि-गृह' है। हमें स्वय वेद में ही इसकी कोई दूसरी व्याख्या ढूढनी चाहिये, और वह हमें प्रथम मडल के ७५वे सूक्त में मिल भी जाती है।

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋत बृहत्। अग्ने यक्षि स्व दमम्। ऋ० १।७५।५

'यज्ञ कर हमारे लिये मित्र और वरुण के प्रति, यज्ञ कर देवो के प्रति, सत्य के, बृहत् के प्रति, हे अग्ने! स्वकीय घर के प्रति यज्ञ कर।'

यहा 'ऋत, बृहत्' और 'स्व दमम्' यज्ञ के लक्ष्य को प्रकट करते हुए प्रतीत होते हैं और ये पूर्णतया वेद के उस अलकार के अनुरूप हैं जिसमें यह कहा गया है कि यज्ञ देवो की ओर यात्रा है और मनुष्य स्वय एक यात्री है जो सत्य, ज्योति या आनन्द की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'सत्य', 'बृहत्' और 'अग्नि

का स्वकीय घर' एक ही है। अग्नि और अन्य देवताओ के बारे में बहुधा यह कहा गया है कि वे सत्य में उत्पन्न होते है, 'ऋतजात', विस्तार या बृहत् के अन्दर रहते है। तो हमारे इस सदर्भ का आशय यह होगा कि अग्नि जो मनुष्य के अन्दर दिव्य सकल्प और दिव्य शक्ति-रूप है, सत्य-चेतना में जो कि इसका अपना वास्तविक क्षेत्र है, बढता है, जहा मिथ्या बन्धन 'उरौ अनिबाधे,' विस्तृत और असीम में टूट-कर गिर जाते हैं।

इस प्रकार वेद के प्रारम्भिक सूक्त की इन चार ऋचाओ में हमें वैदिक ऋषियो के प्रधानभूत विचारो के प्रथम चिह्न देखने को मिलते है,–अतिमानस और दिव्य सत्यचेतना का विचार, सत्य की शक्तियो के रूप में देवताओ का आवाहन, इस-लिये कि वे मर्त्य मन के मिथ्यारूपो में से मनुष्य को निकालकर ऊपर उठाये, इस सत्य के अन्दर और इसके द्वारा पूर्ण भद्र और कल्याण की अमर अवस्था को पाना और दिव्य पूर्णता के साधन-रूप में आभ्यन्तर यज्ञ करना तथा उसमें अपने पास जो कुछ है एव अपने-आप जो कुछ है उसका हवि-रूप से उत्सर्ग कर देना, जिसके द्वारा कि मनुष्य मर्त्य से अमर हो जाता है। शेष सब वैदिक विचार अपने आध्यात्मिक रूपो में इन्ही केद्रभूत विचारो के चारो तरफ एकत्रित हो जाते हैं।

आठवा अध्याय

वरुण, मित्र और सत्य

यदि सत्य का यह विचार जिसे हमने वेद के पहले-पहले ही सूक्त में पाया है अपने अदर वस्तुत उस आशय को रखता है जिसकी हमने कल्पना की है और उस अतिमानस चैतन्य के विचार तक पहुचता है जो कि अमरता या परम पद को पाने की शर्त है और यदि यही वैदिक ऋषियो का मुख्य विचार है तो हमें अवश्य सारे-के-सारे सूक्तो के अदर यह विचार बार-बार आया हुआ मिलना चाहिये, अध्यात्म-विज्ञान-सबधी अन्य सिद्धियो तथा तदाश्रित सिद्धिया के लिये केंद्रभूत विचार के तौर पर मिलना चाहिये। ठीक अगले ही सूक्त में, जो इन्द्र और वायु को सबोधित किया गया मधुच्छदस् का दूसरा सूक्त है, हम एक और सदर्भ पाते है जो कि स्पष्ट और बिलकुल ही अप्रत्याख्येय आध्यात्मिक निर्देशो से भरा पडा है, जिसमें 'ऋतम्' का विचार अग्निसूक्त की अपेक्षा भी और अधिक बल के साथ रखा गया है। यह सदर्भ इस सूक्त की अतिम तीन ऋचाओ का है जो निम्न है–

मित्र हुवे पूतदक्ष वरुण च रिशादसम्।
धिय घृताचीं साधन्ता ॥
ऋतेन मित्रावरुणा ऋतावृधा ऋतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्ष दधाते अपसम् ॥ (१।२।७-९)

इस सदर्भ की पहिली ऋचा में एक शब्द 'दक्ष' आया है जिसका अर्थ सायण ने प्राय बल किया है, पर वस्तुत जो अध्यात्मपरक व्याख्या के योग्य है, एक महत्व-पूर्ण शब्द 'घृत' आया है जो 'घृताची' इस विशेषण में है और एक अपूर्व वाक्याश है–'धिय घृताचीम्'। शब्दश इस ऋचा का यह अनुवाद किया जा सकता है–"मैं मित्र का आह्वान करता हू, जो पवित्र बलवाला (अथवा, पवित्र विवेकशक्ति-

वाला) हैं और वरुण का जो हमारे शत्रुओं का नाशक है, (जो दोनों) प्रकाशमय बुद्धि को सिद्ध करनेवाले (या पूर्ण करनेवाले) हैं।"

दूसरी ऋचा में हम देखते हैं कि 'ऋतम्' को तीन बार दोहराया गया है और 'बृहत्' तथा 'क्रतु' शब्द आये हैं, जिन दोनोको ही वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या में हम वहुत ही अधिक महत्त्व दे चुके हैं। 'क्रतु' का यहा अर्थ या तो यज्ञ का कर्म है या सिद्धिकारक साधक-शक्ति। पहले अर्थ के पक्ष में हम वेद में इसके जैसा ही एक और संदर्भ पाते हैं, जिसमें वरुण और मित्र को कहा गया है कि वे 'ऋतु' के द्वारा यज्ञ को अधिगत करते हैं या उसका भोग करते हैं, 'ऋतुना यज्ञमाशाथे' (ऋ० १-१५-६)। परतु यह समानान्तर सदर्भ निर्णायक नही है; क्योकि एक प्रकरण में यदि यह स्वय यज्ञ है जिसका उल्लेख किया गया है, तो दूसरे प्रकरण मे उस शक्ति या बल का उल्लेख हो सकता है जिससे कि यज्ञ सिद्ध होता है। और यज्ञ के साथ 'ऋतुना' शब्द वहा भी है ही। इस दूसरी ऋचा का अनुवाद शब्दशः यह हो सकता है—"सत्य के द्वारा मित्र और वरुण, जो सत्य को वढानेवाले हैं, सत्य का स्पर्श करनेवाले हैं, एक बृहत् कर्म का अथवा एक विशाल (साधक) शक्ति का भोग करते है (या उन्हे अधिगत करते है)।"

अत में तीसरी ऋचा में हमे फिर 'दक्ष' शब्द मिलता है, 'कवि' शब्द मिलता है जिसका अर्थ 'द्रष्टा' है और जिसे पहले ही मधुच्छदस् 'क्रतु' के कर्म या सकल्प के साथ जोड चुका है, सत्य का विचार मिलता है और 'उरुक्षया' यह प्रयोग मिलता है। 'उरुक्षया' मे 'उरु' अर्थात् विस्तृत या विशाल, महान्‌वाची उस 'बृहत्' का पर्यायवाची हो सकता है जो अग्नि के "स्वकीय घर" सत्यचेतना के लोक या स्तर का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। शब्दश मै इस ऋचा का अनुवाद करता हू—"हमारे लिये मित्र और वरुण, जो द्रष्टा है, बहु-जात हैं, विशाल घरवाले है, उस बल (या विवेकशक्ति) को धारण करते हैं जो कर्म करनेवाली है।"

यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि दूसरे सूक्त के इस सदर्भ में हमें विचारो का ठीक वही क्रम मिलता है और बहुत से वैसे ही भाव प्रकाशित किये गये हैं जिन्हे पहले सूक्त में हमने अपना आधार बनाया था। पर उनका प्रयोग भिन्न प्रकार

का है और पवित्रीकृत विवेक का विचार, अत्यधिक प्रकाशमय बुद्धि, 'धियं घृताचीम्' का विचार और यज्ञकर्म में सत्य की क्रिया 'अपस्' का विचार कुछ अन्य नवीन यथार्थताओं को प्रस्तुत करते हैं, जिनसे ऋषियों के जो केंद्रभूत विचार हैं उनपर और अधिक प्रकाश पड़ता है।

दक्ष शब्द ही इस संदर्भ में अकेला ऐसा है जिसके आशय के संबंध में वस्तुतः ही संदेह की गुंजाइश हो सकती है, और इसका अनुवाद सायण ने प्रायशः 'बल' किया है। यह एक ऐसी धातु से बनता है जिसका अपनी सजातीय अन्य धातुओं में से अनेकों (जैसे दश्, दिश्, दह्) की तरह मूल में अपने विशेष अर्थों में से एक अर्थ 'आक्रामक दबाव' था और इस कारण पीछे से किसी भी प्रकार की क्षति पहुंचाना इससे प्रकट होने लगा, पर विशेषकर विभाग करने, काटने, कुचलने या कभी-कभी जलाने की क्षति पहुंचाना। बल के वाचक बहुत से शब्द ऐसे हैं जो मूल में 'क्षति पहुंचाने का सामर्थ्य' इस अर्थ को रखते थे, योद्धा और घातक की आक्रामक शक्ति के द्योतक थे, जो एक ऐसी शक्ति थी जिसकी आदिकाल के मनुष्य के लिये बहुत अधिक कीमत थी, क्योंकि उससे वह बल के जोर से उस भूमि पर अपना स्थान बना सकता था जिसे कि उसने उत्तराधिकार में पाया होता था। इस शृंखला को हम साधारण संस्कृत के शक्तिवाची शब्द 'बलम्' में भी देखते हैं जो कि उसी परिवार का है, जैसे ग्रीक शब्द 'बलो' (Ballo) जिसका अर्थ है 'प्रहार करना' और बेलोस (Belos) जिसका अर्थ है शस्त्र। 'दक्ष' शब्द का जो 'बल' अर्थ लिया जाता है उसका भी मूल यही है।

पर विभाग करने का यह विचार भाषा-विकास के मनोविज्ञान में हमें एक बिलकुल दूसरे ही विचार-क्रम की ओर भी ले गया, क्योंकि जब मनुष्य की यह इच्छा हुई कि उसके पास मानसिक विचारों के लिये भी शब्द हों तो उसके पास सबसे सुलभ प्रणाली यह थी कि वह भौतिक क्रिया के रूपों को ही मानसिक क्रिया में भी प्रयुक्त करने लगे। इस प्रकार भौतिक विभाग या पृथक्करण को मानसिक क्रिया में प्रयुक्त किया गया, जो कि वहां परिवर्तित होकर 'भेद करना' इस अर्थ को देने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले तो यह चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा भेद करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ और पीछे से मानसिक पृथक्करण, विवेचन,

निर्धारण के अर्थ को देने लगा। इसी प्रकार 'विद्' धातु जिसका संस्कृत में अर्थ पाना या जानना है, ग्रीक और लेटिन मे 'देखने' अर्थ को देती है। दर्शनार्थक 'दृश्' धातु का मूल मे अर्थ था चीरना, फाड डालना, पृथक् करना, दर्शनार्थक 'पश्' धातु म भी मूल अर्थ यही था। हमारे सामने लगभग एक-सी ही तीन धातुए है जो इस विषय म बहुत बोधप्रद है,—'पिस्' चोट मारना, क्षति पहुचाना, बलवान् होना, 'पिष्' चोट मारना, क्षति पहुचाना, बलवान् होना, कुचलना, चूरा करना, और 'पिश्' रूप देना, आकृति गढना, निर्माण करना, घटक अवयवो में पृथक् होना। इन सारे अर्थो से पृथक् करने, विभाजित करने, काटकर टुकडे करने का जो मौलिक अर्थ है, उसका पता चल जाता है। इसके साथ हम देखें इन धातुओ से बने यौगिक शब्द 'पिशाच' को जो असुर के अर्थ मे आता है और 'पिशुन' को जिसका अर्थ एक तरफ तो कठोर, क्रूर, दुष्ट, धोखेबाज, चुगलखोर है और ये सारे अर्थ क्षति पहुचाने के विचार में से ही लिये गये है, तथा साथ ही दूसरी तरफ इसका अर्थ, 'सूचना देनेवाला, व्यक्त करनेवाला, दर्शानेवाला, स्पष्ट करनेवाला' भी है, जो कि दूसरे 'भेद' के अर्थ से निकले है। ऐसे ही 'क्री' धातु जिसका अर्थ क्षति पहुचाना, विभक्त करना, बखेरना है, ग्रीक क्रिनो (Krino) में प्रतीत होती है जिसका अर्थ है छानना, चुनना, निर्धारण करना, निश्चय करना। दक्ष का भी यही इतिहास है। इसका सम्बन्ध 'दश्' धातु से है जो कि लेटिन मे है 'डोसियो' (Doceo) अर्थात् सिखाना और ग्रीक में 'डोकिओ' (Dokeo) अर्थात् विचारना, परखना, गिनना और 'डोकाजो' (Dokazo) निरीक्षण करना, सम्मति बनाना।

इसी प्रकार हमारे पास इसकी सजातीय धातु 'दिश्' है, जिसका अर्थ होना है अगुलिनिर्देश करना या सिखाना, ग्रीक में 'डेक्नुमि' (Deiknumi)। स्वय दक्ष शब्द के ही लगभग बिल्कुल समरूप ग्रीक 'डौक्स' (Doxa) है जिसका अर्थ होता है सम्मति, निर्णय और 'डेक्सिअस' (Dexios) है जिसका अर्थ है चतुर, कुशल, दक्षिण-हस्त। संस्कृत म दक्ष धातु का अर्थ चोट मारना, मार डालना है, साथ ही समर्थ होना, योग्य होना भी है। विशेषणरूप म 'दक्ष' का अर्थ होता है चतुर, प्रवीण, समर्थ, योग्य, सावधान, सचेत। 'दक्षिण' का अर्थ

'डेक्सिअस' की तरह चतुर, कौशल्ययुक्त, दक्षिण-हस्त है, और सत्तावाची 'दक्ष' का अर्थ बल तथा दुष्टता भी होना ही है जो कि चोट पहुंचाने के अर्थ से निकलता है, पर इसके अतिरिक्त इस परिवार के अन्य शब्दों की तरह मानसिक क्षमता या योग्यता भी होना है। हम इसके साथ 'दशा' शब्द की भी तुलना कर सकते हैं जो कि मन, बुद्धि के अर्थ में आता है। इन सब प्रमाणों को इकट्ठा लेने पर पर्याप्त स्पष्ट तौर से यह निर्देश मिलता हुआ प्रतीत होता है कि एक समय में अवश्य 'दक्ष' का अर्थ विवेचन, निर्धारण, विवेचक विचारशक्ति रहा होगा और इसका मानसिक क्षमता का अर्थ मानसिक विभाजन के इस अर्थ से लिया गया है, न कि यह बात है कि शारीरिक बल का विचार मन की शक्ति में बदल गया हो और इस तरीके से यह अर्थ निकला हो।

इसलिये वेद में दक्ष के लिये तीन अर्थ सम्भव हो सकते हैं, बल सामान्यत, मानसिक शक्ति या विशेषत निर्धारण की शक्ति—विवेचन। 'दक्ष' निरन्तर 'क्रतु' के साथ मिला हुआ आता है, ऋषि इन दोनों की एक साथ अभीप्सा करते हैं, 'दक्षाय क्रत्वे' (जैसे १-१११-२, ४-३७-२, ५-४३-५ में) जिसका सीधा अर्थ हो सकता है, 'क्षमता और साधक शक्ति' अथवा 'विवेक और सकल्प'। लगातार इस शब्द को हम उन सदर्भों में पाते हैं जहां कि सारा प्रकरण मानसिक व्यापारों का वर्णन कर रहा होता है। अन्तिम बात यह है कि हमारे सामने देवी 'दक्षिणा' है जो कि 'दक्ष' का ही स्त्रीलिंग रूप हो सकता है, जो दक्ष अपने-आपमें एक देवता था और बाद में पुराण में आदिम पिता, प्रजापतियों में से एक माना जाने लगा। हम देखते है कि 'दक्षिणा' का सम्बन्ध ज्ञान के अभिव्यक्तीकरण के साथ है और कहीं-कहीं हम यह भी पाते हैं कि उषा के साथ इसकी एकात्मता कर दी गयी है, उस दिव्य उषा के साथ जो प्रकाश को लानेवाली है। मैं यह सुझाव दूगा कि 'दक्षिणा' अपेक्षया अधिक प्रसिद्ध 'इळा', 'सरस्वती' और 'सरमा' के समान ही उन चार देवियों में से एक है जो 'ऋतम्' या सत्यचेतना की चार शक्तियों की द्योतक हैं; 'इळा' सत्य-दर्शन या दिव्य स्वत-प्रकाश (Revelation) की द्योतक है, 'सरस्वती' सत्य-श्रवण, दिव्य-अन्तःप्रेरणा (Inspiration) या दिव्य शब्द की, 'सरमा' दिव्य अन्तर्ज्ञान (Intuition) की

और 'दक्षिणा' विभेदक अन्तर्ज्ञानमय विवेक (Separative intuitional discrimination) की। तो 'दक्ष' का अर्थ होगा यह विवेक, चाहे वह मनोमय स्तर मे होनेवाला मानसिक निर्धारण हो अथवा 'ऋतम्' के स्तर का अन्तर्ज्ञानमय विवेचन हो।

ये तीन ऋचायें जिनके सम्बन्ध में हम विचार कर रहे है, उस एक सूक्त का अन्तिम सदर्भ है जिसकी सबसे पहली तीन ऋचायें अकेले वायु को सम्बोधित करके कही गयी है और उससे अगली तीन इन्द्र और वायु को। मन्त्रो की अध्यात्म-परक व्याख्या के अनुसार इन्द्र, जैसा कि हम आगे देखेगे, मन.शक्ति का प्रतिनिधि है। ऐन्द्रियिक ज्ञान की साधनभूत शक्तियो के लिये प्रयुक्त होनेवाला 'इंद्रिय' शब्द इस 'इन्द्र' के नाम से ही लिया गया है। उसका मुख्य लोक 'स्व.' है, इस 'स्व' शब्द का अर्थ सूर्य या प्रकाशमान है, यह सूर्यवाची 'सूर' और 'सूर्य' का सजातीय है और तीसरी वैदिक व्याहृति तथा तीसरे वैदिक लोक के लिये प्रयुक्त होता है जो कि विशुद्ध अन्धकाररहित व अनाच्छादित मन का लोक है। सूर्य द्योतक है 'ऋतम्' के उस प्रकाश का जो कि मन पर उदय होता है, 'स्व.' मनोमय चेतना का वह लोक है जो साक्षात् रूप से इस प्रकाश को ग्रहण करता है। दूसरी ओर 'वायु' का सम्बन्ध हमेशा प्राण-शक्ति या जीवन-शक्ति के साथ है, जो उन सब वातिक क्रियाओ के एक समुदायभूत वातसस्यान को अपना अंश प्रदान करती है जो कि क्रियायें मनुष्य के अन्दर इन्द्र के द्वारा अधिष्ठित मानसिक शक्तियो का अवलम्ब होती है। इन दोनो इन्द्र और वायु के सयोग से ही मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति बनी हुई है। इस सूक्त मे इन दोनो देवताओ को निमन्त्रित किया गया है कि वे आयें और दोनो मिलकर सोम-रस को पीने मे हिस्सा ले। यह सोम-रस उस आनन्द की मस्ती का, सत्ता के दिव्य आनन्द का प्रतिनिधि है जो कि 'ऋतम्' या सत्य के बीच मे से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है। अपने इस कथन की पुष्टि मे हमें वेद में असख्यो प्रमाण मिलते है; विशेषकर नवम मण्डल में जिसमें कि सोमदेवता को कहे गये सौ से ऊपर सूक्तो का सग्रह है। यदि हम इन व्याख्याओ को स्वीकार कर ले, तो हम आसानी के साथ इस सूक्त को इसके अध्यात्म-परक अर्थ में अनू-

दिन वर सरते हैं।

इन्द्र और वायु, सोम-रस के प्रवाहों के प्रति चेतना में जागृत रहते हैं (चेतथ), अभिप्राय यह कि मनःशक्ति और प्राण-शक्ति को मनुष्य की मनोवृत्ति में एक साथ कार्य करते हुए, ऊपर से आनेवाले इस आनन्द के, इस अमृत के, इस परम सुख और अमरता के अन्तःप्रवाह के प्रति जागृत होना है। वे उसे मनोमय तथा वानिक शक्तियों की पूर्ण प्रचुरता में अपने अन्दर ग्रहण करती है, चेतथ. सुताना वाजिनीवसू' (पाचवा मन्त्र)। इस प्रकार ग्रहण किया हुआ आनन्द एक नयी क्रिया करता है, जो मर्त्य के अन्दर अमर चेतना का सृजन करती है और इन्द्र तथा वायु को निमन्त्रित किया गया है कि वे आयें और विचार के योगदान द्वारा इन नयी क्रियाओं को शीघ्रता के साथ पूर्ण करें, आयातम् उप निष्कृतम् मक्षु धिया' (छठा मन्त्र)। क्योंकि 'धी' है विचार-शक्ति, बुद्धि या समझ। यह 'धी' इन्द्र तथा वायु की संयुक्त क्रिया द्वारा प्रदर्शित होनेवाली साधारण मनोवृत्ति के और 'ऋतम्' या सत्य चेतना के मध्यवर्तिनी है, इन दोनों के बीच में स्थित है।

ठीक यह प्रसग है जब कि वरुण और मित्र बीच में आते हैं और हमारा सदर्भ शुरू होता है। अध्यात्म-सम्बन्धी उपर्युक्त सूत्र को बिना पाये इस सूक्त के पहिले हिस्से और अन्तिम हिस्से में परस्परसम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं होता, न ही वरुण मित्र तथा इन्द्र-वायु इन युगलों में कोई स्पष्ट सम्बन्ध दीखता है। उस सूत्र के पा लेने पर दोनों सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं, वस्तुत वे एक दूसरे पर आश्रित हैं। क्योंकि सूक्त के पहले भाग का विषय है—पहले तो प्राण-शक्तियों की तैयारी, जिनका द्योतक वायु है, जिस अकेले का पहिली तीन ऋचाओं में आह्वान किया गया है फिर मनोवृत्ति की तैयारी जो कि इन्द्र-वायु के जोड़े में प्रकट की गयी है जिससे कि मनुष्य के अन्दर सत्यचेतना की क्रियाएं हो सकें, सूक्त के अन्तिम भाग का विषय है—मानसिक वृत्ति पर सत्य की क्रिया का होना, इस प्रकार जिससे कि बुद्धि पूर्ण हो और क्रिया का रूप व्यापक हो। वरुण और मित्र उन चार देवताओं में से दो हैं जो कि मनुष्य के मन और स्वभाव में होनेवाली सत्य की इस क्रिया के प्रतिनिधि हैं।

यह वेद की शैली है कि उसमें जब कोई इस प्रकार का विचार-सक्रमण होता

है–विचार की एक धारा उसमें से विकसित हुई दूसरी धारा में बदल जाती है–तो उनके सम्बन्ध की कड़ी प्राय इस प्रकार दर्शाई जाती है कि, नयी धारा में एक ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द को दुहरा दिया जाता है जो कि पूर्ववर्ती धारा की समाप्ति में पहले भी आ चुका होता है। इस प्रकार यह नियम, जिसे कि कोई 'प्रतिध्वनि द्वारा सूचना देने का नियम' यह नाम दे सकता है, सूक्तों में व्यापक रूप से पाया जाता है और यह सभी ऋषियों की एकसी पद्धति है। दो धाराओं को जोड़नेवाला शब्द यहा 'धी' है, जिसका अर्थ है विचार या बुद्धि। 'धी' मति से भिन्न है, जो अपेक्षया अधिक साधारण शब्द है। मति शब्द का अर्थ होता है, सामान्यतया मानसिक वृत्ति या मानसिक क्रिया, और यह कभी विचार का, कभी अनुभव का तथा कभी सारी ही मानसिक दशा का निर्देश करता है। 'धी' है विचारक मन या बुद्धि, बुद्धि (समझ) के रूप में यह जो इसके पास आता है उसे धारण करती है, प्रत्येक का स्वरूप निर्धारण करती है और उसे उचित स्थान में रखती है,* अथवा यो कहना चाहिये धी प्राय बुद्धि की, विशिष्ट विचार या विचारों की क्रिया को निर्दिष्ट करती है। यह विचार ही है जिसके द्वारा इन्द्र और वायु का आवाहन किया गया है कि वे आकर वातिक (प्राणमय) मनोवृत्ति को पूर्णता प्राप्त करायें 'निष्कृत धिया'। पर यह उपकरण, 'विचार' स्वय ऐसा है जिसे पूर्ण करने की, समृद्ध करने की, शुद्ध करने की आवश्यकता है, इससे पहिले कि मन सत्यचेतना के साथ निर्बाध ससर्ग करने के योग्य हो सके। इसलिये वरुण और मित्र का, जो कि सत्य की शक्तिया है, इस रूप में आवाहन किया गया है कि वे 'एक अत्यधिक प्रकाशमय विचार को पूर्ण करनेवाले' 'धिय घृताचीं साधन्ता' है।

वेद मे यही पहले-पहल घृत शब्द आया है, एक प्रकार से परिणत हुए विशेषण के रूप में आया है और यह अर्थपूर्ण बात है कि वेद म बुद्धि के लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'धी' का विशेषण होकर आया है। दूसरे सदर्भों में भी हम इसे सतत रूप मे 'मनस्' 'मनीषा' शब्दो के साथ सबद्ध पाते हैं अथवा उन प्रकरणो मे देखते है

---

*धातु 'धी' का अर्थ होता है धारण करना या रखना।

जहा कि विचार की किसी क्रिया का निर्देश है। 'घृ' धातु से एक तेज चमक या प्रचण्ड ताप का विचार प्रकट होता है, वैसा जैसा कि अग्नि का या ग्रीष्मकालीन सूर्य का होता है। इसका अर्थ सिंचन या अभ्यजन भी है, ग्रीक में 'क्रिओ' (Chrio)। एवं इसका प्रयोग किसी तरल (क्षरित होनेवाले) पदार्थ के लिये हो सकता है, पर मुख्यतया चमकीले, घने द्रव के लिये। तो (इन दो संभावित अर्थों के कारण) घृत शब्द की यह द्व्यर्थकता है जिसका ऋषियों ने यह लाभ उठाया कि बाह्य रूप से तो इस शब्द से यज्ञ में काम आनेवाला घी सूचित हो और आभ्यन्तर रूप में मस्तिष्क-शक्ति, मेधा की समृद्ध और उज्ज्वल अवस्था या क्रिया जो कि प्रकाशमय विचार का आधार और सार है। इसलिये 'धियं घृताचीम्' से अभिप्राय है बुद्धि जो कि समृद्ध और प्रकाशमय मानसिक क्रिया से भरपूर हो।

वरुण या मित्र की जो कि बुद्धि की इस अवस्था को सिद्ध या परिपूर्ण करते हैं, दो पृथक्-पृथक् विशेषणों से विशेषता बतायी गयी है। मित्र है 'पूतदक्ष', एक पवित्रीकृत विवेक से युक्त, वरुण 'रिशादस्' है, सब हिंसकों या शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। वेद में कोई भी विशेषण सिर्फ शोभा के लिये नहीं लगाया जाता। प्रत्येक शब्द कुछ अभिप्राय रखता है, अर्थ में कुछ नयी बात जोडता है और जिस वाक्य में यह आता है, उस वाक्य से प्रकट होनेवाले विचार के साथ इसका घनिष्ठ संबंध होता है। दो बाधाएं हैं जो कि बुद्धि को सत्य-चेतना का पूर्ण और प्रकाशमय दर्पण बनने से रोकती हैं। पहली तो है विवेक या विवेचना-शक्ति की अपवित्रता जिसका परिणाम सत्य में गडबडी पड जाना होता है। दूसरे वे अनेक कारण या प्रभाव हैं जो सत्य के पूर्ण प्रयोग को सीमा में बांधने के द्वारा अथवा इसे व्यक्त करनेवाले विचारों के संबंधों और सामंजस्यों को तोड डालने के द्वारा सत्य की वृद्धि में हस्तक्षेप करते हैं और जो परिणामतः इस प्रकार इसके विषयों में दरिद्रता तथा मिथ्यापन ले आते हैं। जैसे देवता वेद में सत्य चेतना से अवतरित हुई-हुई उन सार्वभौमिक शक्तियों के प्रतिनिधि हैं जो लोकों के सामंजस्य का और मनुष्य में उसकी वृद्धिशील पूर्णता का निर्माण करती है, ठीक वैसे ही इन उद्देश्यों के विरोध में काम करनेवाले प्रभावों का जो प्रतिनिधित्व करती हैं वे विरोधी शक्तियां 'दस्यु' और 'वृत्र' हैं, जो तोडना, सीमित करना

रोक रखना और निषेध करना चाहती हैं। वरुण की वेद में सर्वत्र यह विशेषता दिखलायी गयी है कि वह विशालता तथा पवित्रता की शक्ति है, इसलिये जब वह मनुष्य के अदर सत्य की जागृत शक्ति के रूप में आकर उपस्थित हो जाता है तब उसके सस्पर्श से वह सब जो कि दोष, पाप, बुराई के प्रवेश द्वारा स्वभाव का सीमित करनेवाला और क्षति पहुचानेवाला होता है, विनष्ट हो जाता है। वह 'रिशादस' है, शत्रुओ का, उन सबका जो वृद्धि को रोकना चाहते हैं, विनाश करनेवाला है। मित्र जो कि वरुण की तरह प्रकाश और सत्य की एक शक्ति है, मुख्यतया प्रेम, आह्लाद, सम-स्वरता का द्योतक है, जो कि वैदिक निश्रेयस 'मयस्' का आधार है। वरुण की पवित्रता के साथ कार्य करता हुआ और उस पवित्रता को विवेक में लाता हुआ, वह विवेक को इस योग्य कर देता है कि यह सब बेसुरेपन और गडबडी से मुक्त हो जाय तथा दृढ और प्रकाशमय बुद्धि के सही व्यापार को स्थापित कर सके।

यह प्रगति सत्यचेतना को, 'ऋतम्' को मनुष्य की मनोवृत्ति म कार्य करने योग्य बना देती है। सत्यरूपी साधन से 'ऋतेन', मनुष्य के अन्दर सत्य की क्रिया को बढाते हुए 'ऋतावृधा', सत्यका स्पर्श करते हुए या सत्य तक पहुचते हुए अभिप्राय यह कि, मनोमय चेतना को सत्यचेतना के साथ सफल सस्पर्श के योग्य और उस सत्यचेतना को अधिगत करने योग्य बनाते हुए 'ऋतस्पृशा', मित्र और वरुण विशाल कार्यसाधक सकल्पशक्ति को उपयोग में लाने का मजा लेने योग्य होते हैं 'क्रतु बृहन्तम् आशाथे'। क्योकि यह सकल्प ही है जो कि आभ्यन्तर यज्ञ का मुख्य कार्य-साधक अग है परन्तु सकल्प एसा जो कि सत्य के साथ समस्वर है और इसीलिये जो पवित्रीकृत विवेक द्वारा ठीक मार्ग म प्रवर्तित है। यह सकल्प जितना ही अधिकाधिक सत्यचेतना के विस्तार म प्रवेश करता है, उतना ही वह स्वय भी विस्तृत और महान् होता जाता है, अपने दृष्टिकोण की सीमाओ से तथा अपनी कार्यसिद्धि में रुकावट डालनेवाली बाधाओ से मुक्त होता जाता है। यह काय करता है 'उरौ अनिबाधे", उस विस्तार म जहा कोई भी बाधा या सीमा की दीवार नही है।

इस प्रकार दो अनिवार्य चीजें जिनपर वैदिक ऋषियो ने सदा बल दिया है

प्राप्त हो जाती हैं, प्रकाश और शक्ति, ज्ञान में कार्य करता हुआ सत्य का प्रकाश, 'धियं घृताचीम्', और कार्यसाधक तथा प्रकाशमय संकल्प में कार्य करती हुई सत्य की शक्ति, 'क्रतुं बृहन्तम्'। परिणामतः, सूक्त की अन्तिम ऋचा में मित्र और वरुण को अपने सत्य के पूर्ण अर्थ में कार्य करते हुए दर्शाया गया है। 'कवी तुविजाता उरुक्षया'। हम देख चुके हैं कि 'कवि' का अर्थ है सत्यचेतना से युक्त, और दर्शन, अन्तःप्रेरणा, अन्तर्ज्ञान, विवेक की अपनी शक्तियों का उपयोग करनेवाला। 'तुविजाता' है "बहुरूप में उत्पन्न", क्योंकि 'तुवि' जिसका मूल अर्थ है बल या शक्ति, फ्रेंच शब्द फोर्स (Force) के समान 'बहुत' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर देवताओं के उत्पन्न होने का अभिप्राय वेद में हमेशा उनके अभिव्यक्त होने से होता है, इस प्रकार 'तुविजाता' का अभिप्राय निकलता है "बहुत प्रकार से अभिव्यक्त हुए-हुए", बहुत से रूपों में और बहुतसी क्रियाओं में। 'उरुक्षया' का अर्थ है विस्तार में निवास करनेवाले, यह एक ऐसा विचार है जो वेद में बहुधा आता है, 'उरु' बृहत् अर्थात् महान् का पर्यायवाची है और यह सत्य-चेतना की निःसीम स्वाधीनता को सूचित करता है।

इस प्रकार 'ऋतम्' की बढ़ती जाती हुई क्रियाओं का परिणाम हम यह पाते हैं कि मानवसत्ता में विस्तार और पवित्रता की, आह्लाद और समस्वरता की शक्तियों का व्यक्तीकरण होता जाता है, एक ऐसा व्यक्तीकरण जो रूपों में समृद्ध, 'ऋतम्' की विशालता में प्रतिष्ठित और अतिमानस चेतना की शक्तियों का उपयोग करनेवाला होता है।

सत्य की शक्तियों का यह व्यक्तीकरण, जिस समय कि वह कार्य कर रहा होता है, विवेक को धारित करता है या इसे दृढ़ करता है, 'दक्षं दधाते अपसम्'। विवेक जो कि अब पवित्र और सुयुक्त हो गया है, सत्य की शक्ति के रूप में सत्य की भावना में कार्य करता है और विचार तथा संकल्प को उन सब त्रुटियों तथा गड़बड़ियों से मुक्त करता है जो उनकी क्रिया और परिणामों में आनेवाली होती हैं और इस प्रकार इन्द्र और वायु की क्रियाओं की पूर्णता को सिद्ध करता है।

इस संदर्भ के पारिभाषिक शब्दों की हमने जो व्याख्या की है उसे पुष्ट करने के लिये हम चौथे मण्डल के दसवें सूक्त की एक ऋचा उद्धृत कर सकते हैं।

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधो ।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ ४-१०-२

"वस्तुत तभी, हे अग्ने, तू सुखमय सकल्प का, सिद्ध करनेवाले विवेक का, विशाल सत्य का रथी होता है।" यहा हम वही विचार पाते है जो कि प्रथम मण्डल के पहिले सूक्त में है अर्थात् कार्यसाधक सकल्प का जो कि सत्यचेतना का स्वभाव है, 'कविक्रतु', और जो इसलिये महान् सुख की एक अवस्था में भलाई को, 'भद्रम्' को निष्पन्न करता है। 'दक्षस्य साधो' इस वाक्याश में हम दूसरे सूक्त के अन्तिम वाक्याश, 'दक्ष अपसम्' का एक मिलता-जुलता रूप तथा स्पष्टीकरण पाते है, विवेक जो कि मनुष्य में आन्तरिक कार्य को पूर्ण और सिद्ध करता है। बृहत् सत्य को हम इन दो क्रियाओ की, कर्मक्रिया और ज्ञानक्रिया की, सकल्प और विवेक की, 'क्रतु' और 'दक्ष' की पूर्णावस्था के रूप में पाते है।

इस प्रकार से एकसी सज्ञाओ को और एकसे विचारो को तथा विचारो के एकसे परस्पर सबध को फिर फिर प्रस्तुत करते हुए वैदिक सूक्त सदा एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं। यह सम्भव नही हो सकता था, यदि उनका आधार कोई ऐसा सुसम्बद्ध न होता जिसमें इस प्रकार की स्थायी सज्ञाओ जैसे कवि, क्रतु, दक्ष भद्रम्, ऋतम् आदि के कोई निश्चित ही अर्थ होते हो। स्वय ऋचाओं की अन्त - साक्षी ही इस बात को स्थापित कर देती है कि उनके ये अर्थ अध्यात्मपरक है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो परिभाषायें, सज्ञायें अपने निश्चित महत्त्व को नियत अर्थ को और अपने आवश्यक पारस्परिक सम्बन्ध को खो देती है, और एक दूसरे के साथ सबद्ध होकर उनका बार-बार आना केवल आकस्मिक तथा युक्ति या प्रयोजन से शून्य हो जाता है।

तो हम यह देखते है कि दूसरे सूक्त में हम फिर उन्ही प्रधान नियामक विचारो को पाते है जिन्हे कि पहले सूक्त में। सब कुछ अतिमानस या सत्यचेतना के उस केन्द्रभूत वैदिक विचार पर आश्रित है जिसकी ओर कि क्रमश पूर्ण होती जाती हुई मानवीय मनोवृत्ति पहुचने का यत्न करती है, इस रूप म कि वह परिपूर्णता की ओर और अपने लक्ष्य की ओर जा रही है। प्रथम सूक्त में इसके विषय में केवल इस रूप में कहा गया है कि यह यज्ञ का लक्ष्य है और अग्नि का

विशेष कार्य है। दूसरा सूक्त तैयारी के प्राथमिक कार्य का निर्देश करता है, वह तैयारी जो कि मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति की इन्द्र और वायु द्वारा, मित्र और वरुण द्वारा आनन्द की शक्ति से और सत्य की प्रगतिशील वृद्धि से होनी है।

हम यह पायेंगे कि सारा-का-सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत रूप से चक्कर काट रहा है, मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा निश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अन्दर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।

नवा अध्याय

अश्विन्, इन्द्र, विश्वेदेवाः

मधुच्छन्दस् का तीसरा सूक्त फिर सोमयज्ञ का सूक्त है। इसके पूर्ववर्ती दूसरे सूक्त की तरह यह भी तीन-तीन मन्त्रो की शृखलाओ से जुडकर बना है। इसमे ऐसी चार शृखलाए है। पहिली शृखला अर्थात् पहिले तीन मन्त्र अश्विनो को सबोधित किये गये है, दूसरे इन्द्र को, तीसरे विश्वेदेवा को और चौथे देवी सरस्वती को। इस सूक्त मे भी हमे अन्त की कडी मे, जिसमे कि सरस्वती का आवाहन है, एक ऐसा सदर्भ मिलता है जो स्पष्ट अध्यात्मपरक भाव रखता है, और वस्तुत वह उनकी अपेक्षा कही अधिक साफ है जो सदर्भ अबतक हमें वेद के रहस्यमय विचार को समझने में सहायक हुए है।

परन्तु यह सारा का सारा सूक्त अध्यात्मपरक सकेतो से भरा हुआ है और इसमें हम वह परस्पर घनिष्ठ सबन्ध, बल्कि वह तादात्म्य पाते है जिसे कि वैदिक ऋषि मानव-आत्मा के तीन मुख्य हितो के बीच म स्थापित करना और पूर्ण करना चाहते थे, जो तीन ये है--विचार तथा इसके अन्तिम विजयशाली प्रकाश, कर्म तथा इसके चरम श्रेष्ठतम सर्वप्रापक बल, भोग तथा इसके सर्वोच्च आत्मिक आनन्द। सोम रस प्रतीक है हमारे सामान्य ऐन्द्रियक सुखभोग को दिव्य आनन्द में रूपान्तर कर देने का। यह रूपान्तर हमारी विचारमय क्रिया को दिव्य बनाने के द्वारा सिद्ध होता है, और जैसे-जैसे यह क्रमश बढता है वैसे-वैसे यह अपनी उस दिव्यीकरण की क्रिया को भी पूर्ण बनाने में सहायक होता है जिसके द्वारा कि यह सिद्ध किया जाता है। गौ अश्व, सोमरस ये इस त्रिविध यज्ञ के प्रतीकचिह्न है। 'घृत की अर्थात् घी की हवि जो कि गाय से मिलता है, घोडे की हवि--'अश्वमेध', सोम के रस की हवि ये इसके तीन रूप या अग है। अपेक्षाकृत कम प्रधानभूत एक और हवि है अपूप की, जो कि सभवत शरीर का, भौतिक वस्तु का प्रतीक है।

प्रारंभ में दो अश्विनों का आवाहन किया गया है जो कि अश्ववाले हैं, 'घुड़सवार' हैं। प्राचीन भूमध्यसागरवर्ती गाथाशास्त्र में कैस्टर (Castor) तथा पोलीड्यूसस (Polydeuces) हैं। तुलनात्मक गाथाशास्त्रज्ञों की कल्पना यह है कि ये अश्विन् दो युगल तारों को सूचित करते हैं, जो तारे किसी कारण आकाशीय तारासमूह के अन्य तारों की अपेक्षा अधिक भाग्यवान् थे कि आर्यलोग इनकी विशेष पूजा करते थे। तो भी आइये हम देखें कि जिस सूक्त का हम अध्ययन कर रहे हैं उसमें इनके विषय में क्या-क्या वर्णन किया गया है। सबसे पहले उनका वर्णन आता है, "अश्विन्, तीव्रगामी, सुख के देवता, बहुत आनन्द भोग करनेवाले–द्रवत्पाणी शुभस्पती पुरुभुजा।" 'रत्न' और 'चन्द्र' शब्दों के समान, 'शुभ' शब्द का अर्थ किया जा सकता है या तो प्रकाश या भोग, परन्तु इस सदर्भ में यह आया है "पुरुभुजा,–बहुत सुखभोग करनेवाले" इस विशेषण के साथ और "चनस्यतम्–आनन्द लो" इस क्रिया के साथ, और इसलिये इसे भला या सुख के अर्थ में लेना चाहिये।

आगे इन युगलदेवताओं का वर्णन आता है, "अश्विन्, जो बहुकर्मा दिव्य आत्माएं हैं–'पुरुदंससा नरा', विचार को धारण करनेवाले हैं–'धिष्ण्या', जो मन्त्र की वाणियों को स्वीकार करते हैं और उनमें प्रमुदित होते हैं–'वनत गिर', एक बलवान् विचार के साथ 'शवीरया धिया'।" 'नृ' वेद में देवताओं और मनुष्यों दोनों के लिये प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ खाली मनुष्य ही नहीं होता मैं समझता हूं, प्रारंभ में इसका अर्थ था 'बलवान्' या 'क्रियाशील' और फिर 'पुरुष' और इसका प्रयोग पुल्लिंग देवों के लिये, कर्मण्य दिव्य आत्माओं या शक्तियों के लिये, 'पुरुषों' के लिये हुआ है जो उन स्त्रीलिंगी देवताओं, 'ग्ना' से उल्टे हैं, जो उन पुल्लिंग देवों की शक्तियां हैं। फिर भी ऋषियों के मनों में बहुत अंशों में इसका प्रारंभिक मौलिक अर्थ सुरक्षित रहा जैसे कि हमें बलवाची 'नृम्ण' शब्द से और 'नृतमा नृणाम्' अर्थात् दिव्य शक्तियों में सबसे अधिक बलवान्, इस वाक्यांश से पता लगता है। 'शव' और इससे बना विशेषणरूप 'शवीर' बल के भाव को देते हैं, परन्तु ज्वाला और प्रकाश का अगला विचार भी सदा इसके साथ रहता है, इसलिये 'शवीर' 'धी' के लिये बहुत ही उपयुक्त

विशेषण है, विचार जो कि प्रकाशमय या विद्योतमान शक्ति से भरपूर हैं। 'धिष्ण्या' का संबन्ध 'धिषणा' अर्थात् बुद्धि या समझ के साथ है और इसका सायण ने अनुवाद किया है, बुद्धि से युक्त, 'बुद्धिमन्तौ'।

आगे फिर अश्विनौ का वर्णन होता है, 'जो कर्म में सही उतरनेवाले हैं, गति की शक्तियां हैं, अपने मार्ग पर भीषणता के साथ गति करनेवाले हैं',—दस्रा, नासत्या, रुद्रवर्तनी। 'दस्र', 'दस्म' इन वैदिक विशेषणों का अनुवाद निरपेक्ष भाव से सायण ने अपनी मन की मौज या सुभीते के अनुसार 'नाशक' या 'दर्शनीय या 'दानी' कर दिया है। मैं इसे 'दम्' धातु के साथ जोड़ता हू, पर 'दम्' का अर्थ मैं यहां काटना या विभक्त करना नहीं लेता जिससे कि नाश करने और दान करने के दो अर्थ निकलते हैं, नाही इसका अर्थ 'विवेक, दर्शन' लेता हूं जिससे कि सायण ने सुन्दर का, 'दर्शनीय' का अर्थ लिया है, परन्तु मैं इसे कर्म करने, क्रिया करने, आकृति देने, पूर्ण करने के अर्थ में लेता हू, जैसा अर्थ कि दूसरी ऋचा में 'पुरुदंससा' में है। 'नासत्या' के विषय में कइयों ने यह कल्पना की है कि यह गोत्र-नाम है, प्राचीन वैयाकरणों ने बड़े बुद्धिकौशल के साथ इसके लिये 'सच्चे, जो असत्य नहीं हैं' यह अर्थ गढ लिया था, परन्तु मैं इसकी निष्पत्ति चलनार्थक 'नस्' धातु से करता हूं। हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि अश्विन् घुड़सवार हैं, कि उनका वर्णन बहुधा गतिसूचक विशेषणों से हुआ है, जैसे 'तीव्रगामी' (द्रवत्पाणी), 'अपने मार्ग पर रुद्रता के साथ चलनेवाले' (रुद्रवर्तनी), कि ग्रीसलेटिन (Graeco-Latin) गाथाशास्त्र में कैस्टर (Castor) और पोलक्स (Pollux) समुद्रयात्रा में नाविकों की रक्षा करते हैं और तूफान में तथा जहाज टूट जाने पर उन्हें बचाते हैं, और यह कि ऋग्वेद में भी ये उन शक्तियों के सूचक हैं जो ऋषियों को नौका की तरह पार ले जाती हैं अथवा उन्हें समुद्र में डूबने से बचाती हैं। इसलिये 'नासत्या' का यह बिल्कुल उपयुक्त अर्थ जान पड़ता है कि जो समुद्रयात्रा के, प्रयाण के देवता हैं या प्रगति की शक्तियां हैं। 'रुद्रवर्तनी' का भाष्य अर्वाचीन विद्वानों ने किया है "लाल रास्तेवाले" और यह मान लिया है कि यह विशेषण तारों के लिये बिल्कुल उपयुक्त है और वे उदाहरण के लिये इसके समान दूसरे शब्द 'हिरण्यवर्तनी' को प्रस्तुत करते हैं,

जिसका अर्थ होता है 'सुनहरे या चमकीले रास्तेवाले'। 'रुद्र' का अर्थ एक समय में "चमकीला, गहरे रंग का, लाल" यह अवश्य रहा होगा, जैसे रुद् और रुध् धातु हैं, जैसे रुधिर, 'रक्त' या 'लाल' है, अथवा जैसे लेटिन भाषा के रूबर (Ruber), रुटिलस (Rutilus) रूफस (Rufus), हैं, जिन सबका अर्थ 'लाल' है। 'रोदसी' का, जो आकाश तथा पृथिवी के अर्थ में एक द्वन्द्ववाची शब्द है, संभवत. अर्थ था, "चमकीले" जैसे कि आकाशीय तथा पार्थिव लोकों के वाचक दूसरे वैदिक शब्दों 'रजस्' और 'रोचना' का है। दूसरी ओर क्षति और हिंसा का अर्थ भी इस शब्द-परिवार में समान रूप से अन्तर्निहित है और लगभग उन सब विविध धातुओं में जिनसे ये बनते हैं, पाया जाता है। इसलिये 'रुद्र' का 'भीषण' या 'प्रचण्ड' यह अर्थ भी उतना ही उपयुक्त है, जितना "लाल"। अश्विन् दोनों हैं 'हिरण्यवर्तनी' तथा 'रुद्रवर्तनी', क्योंकि वे प्रकाश की और प्राण-बल की, दोनों की, शक्तियां हैं, पहले रूप में उनकी चमकीली सुनहरी गति होती है, पिछले रूप में वे अपनी गतियों में प्रचण्ड होते हैं। एक मन्त्र (५-७५-३) में हम स्पष्ट शब्द पाते हैं 'रुद्रा हिरण्यवर्तनी' रौद्र तथा प्रकाश के मार्ग में चलनेवाले, अब इस मन्त्रवचन में अभिप्राय की संगति का यदि जरा भी ख्याल किया जाय तो यह अर्थ हमारी समझ में नहीं आ सकता कि तारे तो लाल हैं पर उनकी गति या उनका मार्ग सुनहरा है।

फिर यहां, इन तीन ऋचाओं में आध्यात्मिक व्यापारों की एक असाधारण शृंखला है, क्या वह एक आकाशीय तारामण्डल के दो तारों की ओर लगेगी? यह स्पष्ट है कि यदि अश्विनों का प्रारंभिक भौतिक स्वरूप कभी यह था भी, तो वे अपने विशुद्ध तारासंबंधी स्वरूप को चिरकाल से, जैसे कि ग्रीक गाथाशास्त्र में, खो चुके हैं और उन्होंने एथेनी (Athene), उषा की देवी, की तरह एक आध्यात्मिक स्वरूप और व्यापारों को पा लिया है। वे घोड़े की, 'अश्व' की सवारी करनेवाले हैं, जो अश्व शक्ति का और विशेषकर जीवनशक्ति और वातशक्ति का—प्राण का—प्रतीक है। उनका सामान्य स्वरूप यह है कि वे आनन्द-भोग के देवता हैं, मधु को खोजनेवाले हैं, वे वैद्य हैं, वे फिर से बूढ़े को जवानी, रोगी को आरोग्य, अंगहीन को संपूर्णांगता प्राप्त करा देते हैं। उनका

एक दूसरा स्वरूप तीव्र, प्रचण्ड, अधृष्य गति का है, उनका वेगवान् अजेय रथ स्तुति का सतत पात्र है और यहा उनका वर्णन इस रूप मे किया गया है कि वे तीव्रगामी है और अपने मार्ग मे प्रचण्डता से चलनेवाले है। वे अपनी तीव्रता में पक्षियो के समान, मन के समान, वायु के समान है (देखो ५-७७-३ और ७८-१)[1]। वे अपने रथ में मनुष्य के लिये परिपक्व या परिपूर्ण सन्तुष्टियो को भरकर लाते है, वे आनन्द के, 'मयस्' के, निर्माता है। ये निर्देश पूर्णरूप से स्पष्ट है।

इनसे मालूम होता है कि अश्विन् दो युगल दिव्य शक्तिया है, जिनका मुख्य व्यापार है मनुष्य के अन्दर क्रिया तथा आनन्दभोग के रूप में वातमय या प्राणमय सत्ता को पूर्ण करना। परन्तु साथ ही ये सत्य की, ज्ञानयुक्त कर्म की और यथार्थ भोग की भी शक्तिया है। ये वे शक्तिया है जो उषा के साथ प्रकट होती है, क्रिया की वे अमोघ शक्तिया है जो चेतना के समुद्र में से पैदा हुई है (सिंधुमातरा), और जो क्योकि दिव्य (देवा) है, इसलिये सुरक्षित रूप से उच्चतर सत्ता के ऐश्वर्यों को मनोमय कर सकती है (मनोतरा रयीणाम्), उस विचार-शक्ति के द्वारा जो उस सच्चे तत्त्व को और सच्चे ऐश्वर्य को पा लेती है या जान लेती है (धिया वसुविदा)—

या दस्रा सिन्धुमातरा, मनोतरा रयीणाम्।
धिया देवा वसुविदा॥ (१-४६-२)

इस महान् कार्य के लिये वे उस प्रेरक शक्ति (इषम्) को देते है (रास्) जो अपने स्वरूप और सारवस्तु के रूप में अपने मे सत्य की ज्योति को रखती हुई (ज्योतिष्मती) मनुष्य को अन्धकार से परे ले जाती है (तमस्तिर पीपरत्)

या न. पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः।
तामस्मे रासाथामिषम्॥ (१-४६-६)

वे मनुष्य को अपनी नौका में बैठाकर उस परले किनारे पर पहुचा देते है जो विचारो तथा मानव मन की अवस्थाओ से परे है, अर्थात् जो अतिमानस चेतना

---

[1]मनोजवा अश्विना वातरंहा ५-७७-३, हसाविव पततम् ५-७८-१

है—नावा मनीनां पाराय (१-४६-७)। 'सूर्या' जो सत्य के देवता सूर्य की दुहिता है, उनकी वधू बनकर उनके रथ पर आरूढ होती है।

उपस्थित सूक्त में अश्विनो का आवाहन किया गया है इस रूप में कि वे आनन्द के तीव्रगामी देवता है, वे अपने साथ अनेक सुखभोगो को रखते है, वे यज्ञ की (यज्वरी) प्रेरक शक्तियों में (इष) आनन्द लेवे (चनस्यतम्)। ये प्रेरक शक्तिया स्पष्ट ही सोमरस के पीने से अर्थात् दिव्य आनन्द के अन्तःप्रवाह से उत्पन्न होती है। क्योंकि अर्थपूर्ण वाणिया (गिर) जिन्होंने कि चेतना में नवीन रचनाओं को करना है, पहले से ही उठ रही है, यज्ञ का आसन बिछाया जा चुका है, सोम के शक्तिशाली रस निचोडे जा चुके हैं[1]। अश्विनो ने क्रिया की अमोघ शक्तियो के, 'पुरुदमसा नरा' के रूप में आना है वाणियो में आनन्द लेने के लिये और उन्हें बुद्धि के अन्दर स्वीकार करने के लिये जहा कि वे प्रकाशमय शक्ति से परिपूर्ण विचार के द्वारा क्रिया के लिये धारित रखी जायगी।[2] उन्हे सोम-रस की हवि के समीप आना है, इसलिये जिससे कि वे यज्ञ की क्रिया को निष्पन्न कर सके, 'दस्रा', उन्हें क्रिया को पूर्ण करनेवालो के रूप में आना है और उन्होंने इसे पूर्ण करना है क्रिया के आनद को अपनी वह भीषण गति प्रदान करने द्वारा, 'रुद्र-वर्तनी' जो कि उन्हे बेरोकटोक उनके मार्ग पर ले जाती है और सब विरोधों को दूर कर देती है। वे आते है इस रूप में कि वे आर्यों की यात्रा की शक्तिया है, महान् मानवीय प्रगति के अधिपति है, नासत्या। सब जगह हम देखते है कि वह चीज शक्ति ही है जिसे कि इन घोडे के सवारो ने देना है, उन्हें आनद लेना है यज्ञिय शक्तिया म, वाणी को ग्रहण करना है एक शक्तिशाली विचार में ले आने को, यज्ञ को वह गति देनी है जो मार्ग पर चलने की उनकी अपनी भीषण गति है। और यह क्रिया की कार्य-साधकता है तथा उस बडी भारी यात्रा पर चलने में शीघ्रता व वेग है जिसके लिये इस शक्ति की माग की आवश्यकता हुई है। मैं पाठक के ध्यान को उस विचार की स्थिरता की ओर और रचना की सगति की ओर

---

[1] युवाकव सुता वृक्तबर्हिष।

[2] धावीरया धिया धिष्ण्या वनत गिर।

तथा रूपरेखा की उस सुबोध स्पष्टता और निश्चयात्मकता की ओर सतत रूप से आकर्षित करूगा जो कि ऋषियों के विचार में अध्यात्मपरक व्याख्या करने द्वारा आ जाती है, और इस अध्यात्मपरक व्याख्या से कितनी भिन्न है वे उलझी हुई अव्यवस्थित और असगत तथा असबद्ध व्याख्याए जो कि वेदो की इस अत्युच्च परपरा की उपेक्षा कर देती है कि वेद दिव्य की ओर गभीरतम ज्ञान की पुस्तक है।

तो हम पहली तीन ऋचाओ का यह अर्थ पाते है–

"ओ घोडे के सवारो, तेज चालवालो, बहुत अधिक आनद लेनेवालो, सुख के अधिपतियो, तुम आनद लो, यज्ञ की शक्तियो में।"

"ओ घोडे के सवारो, अनेकरूप कर्मों को निष्पन्न करनेवाले नर आत्माओ, वाणियो का आनद लो, ओ तुम प्रकाशमय शक्ति से युक्त विचार के द्वारा बुद्धि मे धारण करनेवालो।"

"मैंने यज्ञ का आसन बिछा दिया है, मैंने शक्तिशाली सोमरसो को निचोड लिया है, क्रिया को पूर्ण करनेवालो, प्रगति की शक्तियो! उन रसो के पास तुम आओ, अपनी उस भीषण गति के साथ जिससे तुम मार्ग पर चलते हो।"

जैसे कि दूसरे सूक्त में वैसे ही इस तीसरे मे भी ऋषि प्रारभ मे उन देवताओ का आवाहन करता है जो कि वातिक या प्राण की शक्तियो मे कार्य करते है। पर वहा उसने पुकारा था 'वायु' को जो कि प्राण की शक्तियो को देता है, अपने जीवन के घोडो को लाता है, यहा वह "अश्विनौ" को पुकारता है जो कि प्राण की शक्तिया का प्रयोग करते है उन घोडो पर सवार होते है। जैसे कि दूसरे सूक्त मे वह प्राण-क्रिया या वातिक क्रिया से मानसिक क्रिया पर आया था, वैसे ही यहा वह अपनी दूसरी शृखला में 'इन्द्र' की शक्ति का आवाहन करता है। निचोडे हुए आनंद-रस उसे चाहते है, 'सुता इमे त्वायव।' वे प्रकाशयुक्त मन को चाहते है कि वह आवे और आकर अपनी क्रियाओ के लिये उन्हे अपने अधिकार म ले ले। वे शुद्ध किये हुए है 'अण्वीभिस्तना', सायण की व्याख्या के अनुसार, "अगुलियो द्वारा और शरीर द्वारा" पर जैसा मुझे इसका अर्थ प्रतीत होता है उसके अनुसार "पवित्र मन की सूक्ष्म विचार शक्तियो के द्वारा और भौतिक चेतना मे

हुए-हुए विस्तार के द्वारा।" क्योंकि ये "दस अगुलिया", यदि ये अगुलिया ही हों तो सूर्या की दस अगुलिया है, जो सूर्या सूर्य की दुहिता है, अश्विना की वधू है। नवम मण्डल के प्रथम सूक्त में यही ऋषि मधुच्छदस् इसी विचार को विस्तार से कहता है, जिसे कि यहा वह इतने अधिक सक्षेप से कह गया है। वह 'सोम' की देवता को सबोधित करता हुआ कहता है "सूर्य की दुहिता तेरे सोम को शुद्ध करती है, जब कि यह सतत विस्तार के द्वारा इसके छानने की चलनी में बहकर चारो ओर फैल जाता है", वारेण शश्वता तना।[1] तुरत इसके साथ ही वह यह भी कह जाता है "सूक्ष्म शक्तिया अपने प्रयत्न में (या महान् कार्य में, सघर्ष में, अभीप्सा में, 'समर्ये') इसे ग्रहण करती है, जो दस वधुए है, बहिनें है, उस आकाश में जिसे कि पार करना है।"[2] यह एक ऐसा वाक्य है जो कि एकदम अश्विनों की उस नौका का स्मरण करा देता है जो कि हमें विचारो से परे उस पार पहुचा देती है, क्योंकि आकाश (द्यौ) वेद में विशुद्ध मानसिक चेतना का प्रतीक है, जैसे कि पृथिवी भौतिक चेतना का। ये बहिनें जो कि विशुद्ध मन के अदर रहती है, जो सूक्ष्म, 'अण्वी' है, दस वधुए, 'दश योषण' है, दूसरी जगह कही गयी है, दस प्रक्षेप्त्री, 'दश क्षिप', क्योंकि वे सोम को ग्रहण करती और इसे अपने मार्ग में गति दे देती है। वे समवत वे ही है जिनको कि वेद में कही-कही दस किरणें, 'दश गाव' कहा गया है। वे इस रूप में वर्णित की गयी प्रतीत होती है कि वे सूर्य की पौत्रिया या सतान है, 'नप्तीभि विवस्वत (९।१४।५)'। उपर्युक्त शुद्ध किये जाने के कार्य में विचारमय चेतना के सात रूप, 'सप्त धीतय' इनकी सहायता करते है। आगे हमें यह कहा गया है कि "अपने आशुगामी रथो के साथ शूरवीर हुआ-हुआ सोम सूक्ष्म विचार की शक्ति के द्वारा, 'धिया अण्व्या', आगे बढता है और इन्द्र की पूर्ण क्रियाशीलता (या उसके पूर्ण क्षेत्र) तक पहुचता है और दिव्यता के उस विशाल विस्तार (या निर्माण) तक पहुचने में, जहा कि जो अमर है वे रहते है, वह विचार के अनेक रूपो को ग्रहण करता है" (९।१५।१,२)।

---

[1]पुनाति ते परिस्रुत सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥ ९-१-६

[2]तमीमण्वी समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश। स्वसारः पार्ये दिवि॥ ९-१-७

एष पुरू धियायते बृहते देवतातये।
यत्रामृतास आसते॥

मैंने इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार इसलिये किया है जिससे कि यह दिखा सकूं कि किस प्रकार वैदिक ऋषियों का सोमवर्णन पूर्णतया प्रतीकात्मक है और कितना अधिक यह अध्यात्मपरक विचारों से घिरा हुआ है, जैसा कि उसे अच्छी प्रकार पता लग जायगा, जो कि नवम मण्डल में से गुजरने का यत्न करेगा, जिसमें कि प्रतीकात्मक अलंकारों की शोभा अत्यधिक प्रकट हुई है और जो कि अध्यात्मपरक संकेतों से भरपूर है।

वह कुछ भी क्यों न हो, यहां मुख्य विषय सोम और इसका शोधन नहीं है, बल्कि इन्द्र का आध्यात्मिक व्यापार है। इन्द्र को इस रूप में संबोधित किया गया है कि वह अत्यधिक चित्रविचित्र दीप्तियोंवाला है, इन्द्र चित्रभानो। सोमरस उसे चाहते हैं। वह आता है विचार से प्रेरित किया हुआ, प्रकाशयुक्त विचारक से अंदर से आगे गति दिया हुआ, धियेषितो विप्रजूत, उस ऋषि के आत्मिक विचारों के पास जो कि आनन्द की मदिरा को निचोड चुका है, और उन विचारों को वाणी में, अन्तःप्रेरित मन्त्रों में व्यक्त करना चाहता है, सुतावतः उप ब्रह्माणि वाघतः। वह आता है उन विचारों के पास, प्रकाशयुक्त मनःशक्ति की गति और वेग के साथ, अपने उज्ज्वल घोडों से युक्त हुआ-हुआ, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। और ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि वह आकर सोम की हवि में आनन्द को दृढ करे या थामे, सुते दधिष्व नश्चनः। अश्विनौ आनन्द की क्रिया में वात-सस्थान के सौम्य को ले आये हैं और उसे शक्ति दे दी है। इन्द्र की आवश्यकता है कि वह आकर उस सौम्य को प्रकाशयुक्त मन के अंदर दृढता से थाम ले, ताकि वह चेतना में से निकलकर गिर न पडे।

"आ, हे इन्द्र! अपनी अत्यधिक दीप्तियों के साथ, ये सोमरस तुझे चाह रहे हैं, वे शुद्ध किये हुए हैं सूक्ष्म शक्तियों के द्वारा और शरीर में हुए विस्तार के द्वारा।"

"आ, हे इन्द्र! मेरे आत्मिक विचारों के पास आ, मन द्वारा प्रेरित हुआ-हुआ प्रकाशयुक्त विचार के द्वारा आगे गति दिया हुआ, जिस मैंने सोमरस को अभि-

पुत कर लिया है और जो मैं अपने उन आत्मिक विचारों को वाणी में व्यक्त करना चाह रहा हू।"

"आ, हे इन्द्र ! अपनी वेगवान् गति के साथ मेरे आत्मिक विचारों के पास आ, हे चमकीले घोड़ों के अधिपति ! तू आ, आनन्द को दृढ़ता के साथ सोम-रस में थाम ले।"

आगे चलकर ऋषि "विश्वेदेवा" सभी देवताओं अथवा किन्हीं विशेष 'सब-देवताओं' पर आता है। इस विषय में विवाद है कि इन 'विश्वेदेवा' की कोई श्रेणी-विशेष है अथवा यह केवल सामान्य रूप से सभी देवताओं का वाचक है। मैं इसे इस रूप में लेता हू कि इस पद का अर्थ है, सामूहिक रूप मे विश्व की सब दिव्य शक्तियां, क्योंकि जिन मन्त्रों में इनका आवाहन किया गया है उन मन्त्रों के वास्तविक अर्थप्रकाशन में यह भाव मुझे अधिक-से-अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। इस सूक्त में उन्हें एक सामान्य क्रिया के लिये पुकारा गया है जो कि अश्विनों तथा इन्द्र के व्यापारों में सहायक होती है और उन्हें पूर्ण करती है। उन्हें सामूहिक रूप में यज्ञ में आना है और उस सोम को अपने बीच में बांट लेना है जिसे कि यज्ञकर्ता उन्हें समर्पित करता है, **विश्वे देवास आगत, दाश्वांसो दाशुषः सुतम्**, स्पष्ट ही इसलिये ताकि प्रत्येक अपने उचित व्यापार को दिव्य रूप से तथा आह्लादक रूप से कर सके। अगली ऋचा में और अधिक आग्रह के साथ इसी प्रार्थना को दोहराया गया है, वे सोम की हवि के पास जल्दी से पहुंचें, तूर्णयः, अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे आवें चेतना के उन सभी स्तरों, 'जलों', के बीच में से अपना मार्ग बनाते हुए, उन्हें पार उतरकर आते हुए जो स्तर कि मनुष्य की भौतिक प्रकृति को उनके अपने देवत्व से पृथक् किये हुए हैं और पृथ्वी तथा आकाश के बीच में समग स्थापित करने में बाधाओं से भरे हुए हैं, **अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः**। वे आवें, उन गौओं की तरह जो कि माध्य वेला में अपने आश्रय-स्थानों पर पहुंचने की जल्दी में होती हैं, **उस्रा इव स्वसराणि**। इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक पहुंचकर वे प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ का स्वीकार करें और यज्ञ से संलग्न रहें तथा यज्ञ को वहन करें, जिससे कि लक्ष्य की तरफ अपनी यात्रा में, देवों के प्रति या देवों के घर—सत्य, बृहत्—के प्रति अपने आरोहण में इस यज्ञ

वों वहन करते हुए वे इसे अन्त तक पहुंचा दें, मेघ जुषन्त वह्नय. ।

'विश्वेदेवा' के विशेषण भी, जो कि उनके उन स्वरूप तथा व्यापारो को बताते है जिनके लिये कि वे सोम-हवि के पास निमन्त्रित किये गये है, उसी प्रकार सबके लिये समान है, वे सब देवताओ के लिये एकसे है और सारे वेद में वे उनमें से किसीके लिये भी अथवा सभीके लिये समान रूप से प्रयुक्त किये गये है। वे है मनुष्य के प्रतिपालक या परिवर्द्धक और कर्म म, यज्ञ में उसके श्रम तथा प्रयत्न को थामनेवाले, ओमासश्चर्षणीधृत । सायण ने इन शब्दो का अर्थ किया है, रक्षक तथा मनुष्यो के धारक। यहा इस बात की आवश्यकता नही है कि इन शब्दो को जो अर्थ मैं देना पसद करता हू उसके विषय म पूरे-पूरे प्रमाण उपस्थित करने मे प्रवृत्त होऊ, क्योकि भाषा-विज्ञान की जिस प्रणाली का मैं अनुसरण करता हू उसे मैं पहले ही दिखा चुका हू। सायण को स्वयमेव यह अशक्य प्रतीत हुआ है कि वह उन शब्दो का सदा रक्षा अर्थ ही करे, जो कि अव् धातु से बने अवस्, ऊती, ऊमा आदि शब्द है, जिनका कि वेदमन्त्रो में बहुत ही बाहुल्य पाया जाता है, और वह बाध्य होकर एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न सदर्भों में अत्यधिक भिन्न तथा सबन्धरहित अर्थ करता है। इसी प्रकार, जहा कि 'चर्षणि' और 'कृष्टि' इन दो सजातीय शब्दो के लिये जब कि ये अकेले आते है यह आसान है कि इन्हे 'मनुष्य' का अर्थ दे दिया जाय, वहा यह 'मनुष्य' अर्थ इनके समस्त रूपो म, जैसे कि 'विचर्षणि', 'विश्वचर्षणि', 'विश्वकृष्टि' के रूप में बिना किसी कारण के विलुप्त हो जाता है। सायण स्वय इसके लिये बाध्य हुआ है कि वह विश्वचर्षणि का अर्थ 'सर्वद्रष्टा' करे, न कि सब मनुष्य या सर्व-मानवीय'। मैं यह नही मानता कि नियत वैदिक सज्ञाओ के अर्थों म इस प्रकार की बिल्कुल निराधार विभिन्नताए सभव हो सकती है। 'अव्' के अर्थ हो सकते है होना, रखना, रख छोडना, धारण करना, रक्षा करना, बन जाना, रचना करना, पोषण करना, वृद्धि करना, फलना-फूलना, समृद्ध होना, खुश करना, खुश होना, पर यह वृद्धि करने का या पालन-पोषण करने का अर्थ है जो कि मुझे वेद मे प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। 'चर्ष' और 'कृष्' ये धातुए मूल म 'चर्' तथा 'कृ' से निकली थी, जिन दोनोका ही अर्थ 'करना' है, और श्रमसाध्य क्रिया या गति का अर्थ 'कृष्'

में अब भी विद्यमान है, सींचना, हल जोतना। इसलिये 'चर्षणि' और 'कृष्टि' का अर्थ है प्रयत्न, श्रमसाध्य क्रिया या कर्म अथवा इस प्रकार की क्रिया को करनेवाले। ये उन अनेक शब्दों (कर्म, अपस्, कार, कीरि, दुवस् आदि) में से दो हैं जो कि वैदिक कर्म को, यज्ञ को, अभीप्सा करती हुई मानवता के प्रयास को आर्यों की 'अरति' को दर्शाने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं।

मनुष्य की जो सारभूत वस्तु है उस सबमें और उसकी सब प्राप्तियों में उस का पोषण करना और वृद्धि करना, बृहत् सत्य-चेतना की पूर्णता और समृद्धता की ओर उसे सतत वृद्धिगत करना, उसके महान् संघर्ष और प्रयास में उसे सहारा देना– यह है वैदिक देवताओं का सामान्य व्यापार। फिर वे हैं 'अप्तुर', वे जो कि जलों को पार कर जाते हैं, या जैसा सायण इसका अर्थ करता है, वे जो कि जलों को देते हैं। इसका अर्थ वह "वृष्टि-दाता" समझता है, और यह पूर्णतया सच है कि सभी वैदिक देवता वर्षा के, आकाश से आनेवाली बहुतायत के (क्योंकि 'वृष्टि' के दोनों अर्थ होते हैं) देनेवाले हैं, जिसका कि कहीं-कहीं इस रूप में वर्णन हुआ है कि गौर जल, 'स्ववती अप' अथवा वे जल जो कि ज्योतिर्मय आकाश के, 'स्व' के प्रकाश को अपने अन्दर रखते हैं। परन्तु वेद में समुद्र और उनके जल, जैसा कि ये वचन स्वयं ही निर्देश करते हैं, प्रतीक हैं चेतनामय सत्ता के उसके समुदायरूप में (समुद्र) और उसकी गतियों सहित (उसके जल)। देवता इन जलों की पूर्णता को बरसाते हैं, विशेषकर उपरले जलों की, उन जलों की जो कि आकाश के जल हैं, सत्य की धारायें हैं, 'ऋतस्य धारा' और वे सब बाधाओं को पार करके मानवीय चेतना के अन्दर जा पहुंचते हैं। इस अर्थ में वे सब 'अप्तुर' हैं। परन्तु साथ ही मनुष्य का भी इस रूप में वर्णन हुआ है कि वह जलों को पार करके सत्य-चेतना के अपने घर में पहुंचता है और वहां देवता उसे पार पहुंचाते हैं, यह विचारणीय है कि कहीं 'अप्तुर' का वास्तविक अर्थ यहां यह ही तो नहीं है, विशेषकर जब कि अप्तुर तूर्णयः इन दो शब्दों को हम एक दूसरेके आसपास एक ऐसे सम्बन्ध में रखा हुआ पाते हैं जो संबन्ध कि बड़ी अच्छी तरह अर्थपूर्ण हो सकता है।

फिर ये देवता किन्हीं आक्रामकों के (स्रिधः) आक्रमण हो सकने से सर्वथा

रहित है चोट पहुचानेवाली या विरोधी शक्तियो की हानि (द्रोह) से रहित है और इसलिये उनके सचेतन ज्ञान की सर्जक रचनाए, उनकी 'माया' स्वच्छन्द रूप मे, व्यापक रूप से गति करती है, अपने ठीक उद्देश्य को प्राप्त कर लेती है-अस्रिध एहिमायासो अद्रुह । यदि हम वेद के उन अनेक सदर्भो को ध्यान में लाये जिनम यह निर्देश किया गया है कि यज्ञ, कर्म, यात्रा, प्रकाश की वृद्धि तथा जलो की अधिकता का सामान्य उद्देश्य सत्यचेतना की-इसके परिणामभूत सुख, 'मयस्' के साथ सत्यचेतना की-'ऋतम्' की प्राप्ति है, तथा इस बात पर विचार करे कि 'विश्वेदेवा' के ये विशेषण सामान्य रूप से असीम, पूर्ण सत्यचेतना की शक्तियो की ओर लगते है, तो हम यह समझ सकते है कि सत्य की यह उपलब्धि ही है जो कि इन तीन ऋचाओ में निर्दिष्ट हुई है। ये 'विश्वेदेवा' मनुष्य की वृद्धि करते है, वे उसे महान् कार्य में सहारा देते है, वे उसके लिये 'स्व' के जलो की प्रचुरता को, सत्य की धाराओं को लाते है, वे सत्य-चेतना की अधृष्य रूप से पूर्ण तथा व्यापक क्रिया या इसके ज्ञान की विशाल रचनाओ, 'माया' के साथ ससर्ग स्थापित करते है।

'उस्रा इव स्वसराणि' इस वाक्याश का अनुवाद मैने, जो अधिक-से-अधिक बाह्य अर्थ सभव है, वह किया है, पर वेद में काव्यमय उपमाए भी केवलमात्र शोभा के लिय बहुत ही कम या कही भी नही प्रयुक्त की गई है, उनका प्रयोग भी आध्यात्मिक अर्थ को गहरा करने के लिय एक प्रतीकात्मक अथवा द्व्यर्थक अलकार के साथ किया गया है। वेद मे 'उस्रा' शब्द, 'गो' शब्द के समान ही, हर जगह दोहरे अर्थ म प्रयुक्त होता है अर्थात् इसके मूर्त आलकारिक रूप या प्रतीक, बैल या गाय के अर्थ को देता है और साथ ही इसके आध्यात्मिक अभिप्राय चमकीली या ज्योतिर्मय वस्तुओ का, मनुष्य के अन्दर जो सत्य की प्रकाशमय शक्तिया है उनका भी निर्देश करता है। ऐसी प्रकाशमय शक्तियो के तौर पर ही, इसी रूप में ही, 'विश्वेदेवा' ने आना होता है, और वे सोम रसो के पास आते है, 'स्वसराणि', मानो कि वे शान्ति के या सुख के आसनो या रूपो पर आ रहे हो, क्योकि 'स्वस्' धातु, 'सस्' तथा अन्य कई धातुओ के समान, दोनो अर्थ रखती है, विश्राम करना और आनन्द लेना। वे सत्य की शक्तिया है जो कि

मनुष्य के अन्दर होनेवाले आनन्द के उल्लासों में प्रवेश करती है, ज्योंही कि इस कार्य की अश्विनों की प्राण-क्रिया तथा मानसिक क्रिया के द्वारा और इन्द्र की विशुद्ध मानसिक क्रिया के द्वारा तैयारी हो चुकी होती है।

"ओ पालन-पोषण करनेवालो, जो कर्ता को उसके कर्म में सहारा दिये रहते हो, धारे रखते हो, ओ सब-देवो, आओ और बाट लो उस सोमरस को, जिसे कि मैं वितरित कर रहा हूं।"

"ओ सब-देवताओ, जो हमें जलों को ऊपर से लाकर देते हो, पार उतरकर आते हुए तुम मेरी सोम की हवियों के पास आओ, प्रकाशमय शक्तियों के तौर पर अपने सुख के स्थानों पर आओ।"

"ओ सब-देवताओ, तुम जो कि आघात नहीं हो सकते हो, जिनको हानि नहीं पहुचायी जा सकती है, अपने ज्ञान के रूपों में स्वच्छन्दता के साथ गति करते हुए तुम आकर मेरे यज्ञ के साथ सलग्न रहो, उसके वहन करनेवाले होकर।"

और अन्तिम तौर पर, सूक्त की अन्तिम शृंखला में हम सत्य-चेतना का इस रूप में स्पष्ट और असदिग्ध निर्देश पाते हैं कि वह यज्ञ का ध्येय है, सोम-हवि का उद्दिष्ट लक्ष्य है, प्राणशक्ति में और मन में अश्विनों का, इन्द्र का और विश्वेदेवा का जो कार्य है उसकी चरम कोटि है। क्योंकि ये तीन ऋचाएं 'सरस्वती' को, दिव्य वाणी को अर्पित की गई है, जो अन्तःप्रेरणा की उस धारा का सूचित करती है जो कि सत्यचेतना से अवरोहण करती है, उतरती है और इस प्रकार निर्मल स्पष्टता के साथ उन ऋचाओं का आशय यह निकलता है।

"पावक सरस्वती, समृद्धि के अपने रूपों की संपूर्ण समृद्धता के साथ, विचार के द्वारा साररूपी ऐश्वर्यवाली होकर हमारे यज्ञ को चाहे।"

"वह, सुखमय सत्यों की प्रेरयित्री, चेतना में सुमतियों को जागृत करनेवाली सरस्वती, यज्ञ को धारण करती है।"

"सरस्वती ज्ञानद्वारा, बोधनद्वारा चेतना के अन्दर बडी भारी बाढ़ का (ऋतम् की व्यापक गति को) जागृत करती है और समस्त विचारों को प्रकाशित कर देती है।"

इस सूक्त का यह स्पष्ट और उज्ज्वल अन्त उस सबपर अपना प्रकाश डालता

है जो इस सूक्त में पहले आ चुका है। यह वैदिक यज्ञ तथा मन और आत्मा की एक अवस्था के बीच घनिष्ठ सबन्ध को दर्शाता है, घी की और सोम-रस की हवि और प्रकाशयुक्त विचार, आध्यात्मिक अन्तर्निहित ऐश्वर्य की समृद्धि, मन की सम्यक् अवस्थाए और सत्य तथा प्रकाश की ओर इसकी जागृति और प्रवृत्ति, इनमें परस्पर अन्योन्याश्रयता को दर्शाता है। यह सरस्वती की प्रतिमा को इस रूप में प्रकट करता है कि यह अन्त.प्रेरणा की, 'श्रुति' की देवी है। और यह वैदिक नदियो तथा मन की आध्यात्मिक अवस्थाओ के बीच सबन्ध स्थापित करता है। यह सदर्भ उन प्रकाशभरे सकेतो मे से एक है जिनको कि ऋषियों ने अपनी प्रतीकात्मक शैली की जानबूझकर रची गयी अस्पष्टार्थताओ के बीच मे कही-कही बिखरे रूप मे रख छोडा है, ताकि वे हमे उनके रहस्य तक पहुंचाने मे हमारे पथप्रदर्शक हो सके।

दसवां अध्याय

सरस्वती और उसके सहचारी

वेद का प्रतीकवाद देवी सरस्वती के अलंकार में अत्यधिक स्पष्टता के साथ अपने-आपको प्रकट कर देता है, छुपा नहीं रह सकता। बहुत से अन्य देवताओं में उनके आन्तरिक अर्थ का तथा उनके बाह्य अलंकार का संतुलन बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रखा गया है। वेदवाणी के सामान्य श्रोता तक के लिये यह तो है कि अलंकार का वह आवरण कहीं-कहीं पारदर्शक हो जाता है या कहीं-कहीं से उसके कोने उठ जाते हैं, पर यह कभी नहीं होता कि वह बिल्कुल ही हट जाय। कोई यह संदेह कर सकता है कि 'अग्नि' क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि यज्ञिय आग को या पदार्थों में रहनेवाले प्रकाश या ताप के भौतिक तत्त्व को सजीव शरीर-धारी मान लिया गया है, अथवा 'इन्द्र' क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि वह आकाश और वर्षा का या भौतिक प्रकाश (विद्युत्) का देव है, अथवा 'वायु' इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि वह आंधी और पवन में रहनेवाला या अधिक-से-अधिक भौतिक जीवन-श्वास का देवता है। पर अपेक्षाकृत छोटे देवताओं के विषय में प्रकृतिवादी व्याख्या का अपना विश्वास कराने के लिये बहुत कम आधार है। क्योंकि यह प्रकट है कि 'वरुण' केवल वेद का यूरेनस (Uranus) या नैपचून (Neptune) ही नहीं है, परंतु वह एक ऐसा देवता है जिसके कि बड़े महान् और महत्त्वपूर्ण नैतिक व्यापार हैं। 'मित्र' और 'भग' का भी इसी प्रकार का आध्यात्मिक स्वरूप है। 'ऋभु' जो कि मन के द्वारा वस्तुओं की रचना करते हैं और कर्मों के द्वारा अमरता का निर्माण करते हैं, कठिनता से ही कूटे-पीटे जाकर प्रकृतिवादी गाथाशास्त्र के* प्रोक्रस्टियन सांचे में ढाले जा सकते हैं। फिर

*ग्रीक गाथाशास्त्र में प्रोक्रस्टी नामक एक असुर था जो कि सब लोगों को अपनी चारपाई के बिल्कुल अनुकूल कर लेता था। जो लंबे होते थे उनके पैर

भी वैदिक ऋचाओ के कवियो के सिर पर विचारो की अस्तव्यस्तता और गडबडी का दोष मढकर इस कठिनता को हटाया नही, तो कुचला तो जा ही सकता है। पर 'सरस्वती' तो इस प्रकार के किसी भी उपाय के वश में नही होगी। वह तो सीधे तौर से और स्पष्ट ही वाणी की देवी है, एक दिव्य अन्तःप्रेरणा की देवी है।

यदि सब कुछ इतना ही होता, तो यह हमे इस स्पष्ट तथ्य से विशेष अधिक दूर नही ले जाता कि वैदिक ऋषि केवल प्रकृतिवादी जगली नही थे, बल्कि वे अपने आध्यात्मिक विचार रखते थे और गाथात्मक प्रतीको की रचना करने में समर्थ थे, जो प्रतीक कि, न केवल भौतिक प्रकृति के उन स्पष्ट व्यापारो का सूचित करते थे जिनका सरोकार उनके कृषिसबधी, पशुपालनसबधी तथा उनके खुली हवा में रहने के जीवन से था पर साथ ही वे मन तथा आत्मा के आन्तरिक व्यापारो के सूचक भी थे। यदि हम प्राचीन धार्मिक विचार के इतिहास को यह समझे कि यह एक क्रमिक विकास है जो कि प्रकृति और जगत् तथा देवताओ के सबध मे भौतिक से आध्यात्मिक की ओर, विशुद्ध प्रकृतिवाद से एक उत्तरोत्तर बढते हुए नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर हुआ है (और यही, यद्यपि यह किसी भी प्रकार निश्चित नहीं है, आजकल के लिये माना हुआ दृष्टिकोण है*) तो हम

काट देता था, जो छोटे होते थे उनको खीचकर उतना लबा कर देता था। उस से प्रोक्रस्टियन शब्द बना है। जबरदस्ती काट-छाटकर खीचतान कर अनुकूल बनानेवाला।

*मै नही समझता कि हमारे पास कोई वास्तविक सामग्री है जिससे कि हम धार्मिक विचारो के प्रारभिक उद्गम तथा उनके आदिम इतिहास का निश्चय कर सके। असल में तथ्य जिसकी ओर सकेत करते है, वह यह है कि एक प्राचीन शिक्षा थी जो कि एक साथ ही आध्यात्मिक और प्रकृतिवादी दोनो थी अर्थात् उसके दो पार्श्व थे जिनमे से कि पहला कम या अधिक धुधला हुआ-हुआ था, परन्तु पूर्ण रूप से विलुप्त वह जगली जातियो तक में कभी नही हुआ या वैसी जातियो तक में जैसी कि उत्तरीय अमरीका की थी। पर यह शिक्षा यद्यपि प्रागैतिहासिक थी, पर किसी भी प्रकार से प्राथमिक नही थी।

अवश्यमेव यह कल्पना करनी चाहिये कि वैदिक कवि क्रम-क्रम से पहले से ही देवताओं के सम्बन्ध में भौतिक और प्रकृतिवादी विचार से नैतिक तथा आत्मिक विचार की ओर प्रगति कर रहे थे। परन्तु 'सरस्वती' केवल अन्तःप्रेरणा की देवी ही नहीं है, इसीके साथ-साथ वह प्राचीन आर्य जगत् की सात नदियों में से भी एक है। यहा तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि यह असाधारण एकरूपता– अन्तःप्रेरणा और नदी की एकरूपता कहा से आ गई? और किस प्रकार इन दो विचारों का सम्बन्ध वैदिक मत्रों में आ पहुचा? और इतना ही नहीं और भी है, क्योंकि 'सरस्वती' केवल अपने आपमें ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि अपने सबन्धो के साथ है। आगे चलने से पहले हम उन सम्बन्धो पर भी शीघ्रता के साथ एक स्थूल दृष्टि डाल जायें, यह देखने के लिये कि उनसे हमें क्या पता लगता है।

कविता की अन्तःप्रेरणा के साथ नदी का साहचर्य ग्रीक गाथाशास्त्र में भी आता है, पर वहा म्यूजज (Muses) नदियों के रूप में नही समझी गयी है, उनका सम्बन्ध केवल एक विशेष पार्थिव धारा के साथ है, वह भी बहुत सुबोध रूप में नहीं। वह धारा है 'हिप्पोक्रेन' (Hippocrene) नदी, घोडे की धारा, और इसके नाम की व्याख्या करने के लिये एक कहानी है कि यह दिव्य घोडे पैगेसस (Pegasus) के सुम से निकली थी, क्योंकि उसने अपने सुम से चट्टान पर प्रहार किया और अन्तःप्रेरणा के जल उसमें वहा से बह निकले जहा कि चट्टान पर इस प्रकार प्रहार किया गया था। क्या यह कथानक केवल एक (ग्रीक में) परियों की कहानी थी? अथवा इसका कुछ विशेष अर्थ था? और यह स्पष्ट है कि, यदि इसका कुछ अर्थ था, तो क्योंकि यह स्पष्ट ही एक आध्यात्मिक घटना का, अन्तःप्रेरणा के जलो की उत्पत्ति का सकेत करती है इसलिये वह अर्थ अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थ होना चाहिये था, अवश्य ही यह किन्हीं आध्यात्मिक तथ्यो को मूर्त रूपो के अन्दर रखने का एक प्रयास होना चाहिये था। हम इसपर ध्यान दे सकते हैं कि पैगेसस (Pegasus) शब्द को, यदि पारस्परिक भाषा-स्वरशास्त्र के अनुसार लिखें, तो, यह पाजस बन जाता है और स्पष्ट ही इसका सबन्ध सस्कृत के 'पाजस्' शब्द से लगता है जिसका कि

मूल अर्थ था शक्ति, गति या कभी-कभी पैर रखना। स्वय ग्रीक भाषा में भी इसका सबध पेगे (Pege) अर्थात् धारा के साथ है। इसलिये इस कथानक के शब्दो में अन्त प्रेरणा की शक्तिशाली गति के स्रोत के साथ इसका सतत सबध है। यदि हम वैदिक प्रतीकों की ओर आए, तो हम देखते हैं कि वहा 'अश्व' या घोडा जीवन की महान् क्रियाशील शक्ति की, प्राणमय या वातिक शक्ति की मूर्त प्रतिमा है और निरन्तर उन दूसरी प्रतिमाओ के साथ जुडा हुआ है जो कि चेतना की द्योतक हैं। 'अद्रि', पहाडी या चट्टान, साकार सत्ता का और विशेषकर भौतिक प्रकृति का प्रतीक है और यह इसी पहाडी या चट्टान में से होता है कि सूर्य की गौए छूटकर आती है और जल प्रवाहित होते हैं। 'मधु' की, शहद की, 'सोम' की धाराओ के लिये भी कहा गया है कि वे इस पहाडी या चट्टान में से दुही जाती है। चट्टान पर घोडे के सुम का प्रहार जिससे कि अन्त प्रेरणा के जल छूट निकलते हैं, इस प्रकार बहुत ही स्पष्ट आध्यात्मिक रूपक हो जाता है। न ही इसमे कोई युक्ति है कि यह कल्पना की जाय कि प्राचीन ग्रीक और भारतीय इस योग्य नही थे कि, वे इस प्रकार के आध्यात्मिक निरूपण कर सकें या इसे कवितात्मक और रहस्यमय अलकार म रख सके जो कि प्राचीन रहस्यवाद का असली कलेवर ही था।

अवश्य ही हम और दूर तक जा सकते हैं और इसकी पडताल कर सकते है कि वीर बैलेरोफन (Belleiophon) जो कि बैलेरस (Bellerus) का वध करनेवाला है और जो कि दिव्य घोडे पर सवार होता है, का कुछ मौलिक सबन्ध उस 'बलहन् इन्द्र' के साथ तो नही था जो कि वद में 'वल' का घातक है, उस 'वल' शत्रु का जो कि प्रकाश को अपने कब्जे म कर रखता है? पर यह हमें हमारे विषय की सीमा से परे ले जायगा। न ही 'पैगेसस' के कथानक की यह व्याख्या इसकी अपेक्षा किसी और सुदूर परिणाम पर पहुचा सकती है कि यह पूर्वजो की स्वाभाविक कल्पना-पद्धति को दर्शाये और उस प्रणाली को दर्शाये जिसम कि वे अन्त प्रेरणा की धारा को बहते हुए पानी की एक सचमुच की धारा के रूप म चित्रित कर सके। 'सरस्वती' का अर्थ है, "वह जो धारावाली है, प्रवाह की गति से युक्त है', और इसलिये यह दोनो के लिये एक स्वाभाविक नाम

है, नदी के लिये और अन्तःप्रेरणा की देवी के लिये। परन्तु विचारणा या साहचर्य की किस प्रक्रिया के द्वारा यह सम्भव हुआ कि अन्तःप्रेरणा की नदी के सामान्य विचार का सम्बन्ध एक विशेष पार्थिव धारा के साथ जुड़ गया? और वेद में यह एक ही नदी का प्रश्न नहीं है, जो कि अपने चारों ओर की प्राकृतिक और गाथात्मक परिस्थितियों के द्वारा पवित्र अन्तःप्रेरणा के विचार के साथ किसी अन्य नदी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त रूप में सम्बद्ध प्रतीत होती हो। क्योंकि यहां यह एक का नहीं अपितु सात नदियों का प्रश्न है, जो सातों कि ऋषियों के मनों में सदा परस्पर सबद्ध रूप में रहती है और वे सारी ही इकट्ठी 'इद्र' देवता के प्रहार के द्वारा छूटकर निकली है, जब कि उसने 'पाइथन'[1] (Python) (बड़े भारी साप, अजगर, वेद के 'अहि') पर प्रहार किया, जो कि उनके स्रोत के चारों ओर कुडली मारकर बैठा हुआ था और जिसने उनके बाह्य प्रवाह को रोका हुआ था। यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम यह कल्पना कर ले कि इन सप्तरूप प्रवाहों में से केवल एक नदी आध्यात्मिक अभिप्राय रखती थी और शेष का सम्बन्ध केवल पजाब में प्रति वर्ष आनेवाले वर्षा के आगमन से था। जब हम 'सरस्वती' की अध्यात्मपरक व्याख्या करते हैं, तो इसके साथ ही यह आवश्यक हो जाता है कि हम वैदिक "जलों" के सपूर्ण प्रतीक की ही आध्यात्मिक व्याख्या करे।[2]

'सरस्वती' का सम्बन्ध न केवल अन्य नदियों के साथ है, किन्तु अन्य देवियों के साथ भी है जो देवियां कि स्पष्ट तौर से आध्यात्मिक प्रतीक है और

---

[1]ग्रीक गाथाशास्त्र में यह एक भीषणकाय साप या दैत्य था, जिस कि, अपोलो (Apollo) ने, जो कि सूर्य का देवता है, मारा था। यही समानता वेद में इस रूप में पायी जाती है कि वहां 'इन्द्र' ने 'अहि' का वध किया है।—अनुवादक

[2]नदियां उत्तरकाल के भारतीय विचार में एक प्रतीकात्मक अर्थ रखती हैं, उदाहरण के लिये, गगा, यमुना और सरस्वती और उनके सगम तान्त्रिक कल्पना में यौगिक प्रतीक हैं और वे सामान्य रूप से यौगिक प्रतीकवाद में प्रयुक्त किये गये है, यद्यपि एक भिन्न तरीके से।

विशेषकर 'भारती' और 'इळा' के साथ। बाद के पौराणिक पूजा-रूपों में 'सरस्वती' वाणी की, विद्या की और कविता की देवी है और 'भारती' उसके नामों में से ही एक है, पर वेद में 'भारती' और 'सरस्वती' भिन्न-भिन्न देवियां हैं। 'भारती' को 'मही' अर्थात् विशाल, महान् या विस्तीर्ण भी कहा गया है। 'इळा', 'मही' या 'भारती' और 'सरस्वती' ये तीनों उन प्रार्थनामन्त्रों में जिनमें कि 'अग्नि' के साथ देवताओं को यज्ञ में पुकारा गया है, एक स्थिर सूत्र के रूप में इकट्ठी आती हैं।

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋ० १-१३-९)

"'इळा', 'सरस्वती' और 'मही' ये तीन देवियां जो कि सुख को उत्पन्न करने-वाली हैं, यज्ञिय आसन पर आकर बैठें, वे जो कि स्खलन को प्राप्त नहीं होतीं, या 'जिनको हानि नहीं पहुंच (सक) ती' अथवा 'जो हानि नहीं पहुंचातीं'।" इस अन्तिम विशेषण 'अस्रिध' का अभिप्राय मेरे विचार में यह है कि वे जिनमें कि कोई भी मिथ्या गति और फलतः उसका कोई बुरा परिणाम—'दुरितम्' नहीं होता, जिनका कि पाप और भ्रान्ति के अन्ध कूपों में किसी प्रकार का स्खलन नहीं होता। दशम मण्डल के ११० वें सूक्त में यह सूत्र और विस्तार के साथ आता है—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेतु इळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥

"'भारती' शीघ्रता के साथ हमारे यज्ञ में आवे और 'इळा' यहां मनुष्योचित प्रकार से हमारी चेतना को (या ज्ञान को अथवा बाधों को) जागृत करती हुई आवे, और 'सरस्वती' आवे,—ये तीनों देवियां इस सुखमय आसन पर बैठें, कर्म को अच्छी प्रकार करती हुईं।'

यह स्पष्ट है तथा और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि ये तीनों देवियां परस्पर अत्यधिक संबद्ध व्यापारों को रखती हैं, जो कि 'सरस्वती' की अन्तःप्रेरणा की शक्ति के सजातीय हैं। 'सरस्वती' वाणी है, अन्तःप्रेरणा है जो कि, जैसा कि मेरा विचार है, 'ऋतम्' से, सत्यचेतना से आती है। 'भारती' और 'इळा' भी

अवश्यमेव उसी वाणी या ज्ञान के विभिन्न रूप होने चाहियें। मधुच्छन्दस् के आठवें सूक्त में हमें एक ऋचा मिलती है, जिसमें कि 'भारती' का 'मही' नाम से उल्लेख हुआ है—

एवा ह्यस्य सूनृता, विरप्शी गोमती मही।

पक्वा शाखा न दाशुषे॥ (ऋ० १-८ ८)

'इस प्रकार 'मही' इन्द्र के लिये किरणों से भरपूर हुई-हुई, अपनी बहुलता में उमड़ती हुई एक सुखमय सत्य के स्वरूपवाली, हवि देनेवाले के लिये इस प्रकार हो जाती है मानो वह पके फलों से लदी हुई कोई शाखा हो।'

किरणें वेद में 'सूर्य' की किरण हैं। क्या हम यह कल्पना करें कि यह देवी भौतिक प्रकाश की कोई देवी है, अथवा 'गो' का अनुवाद हम गाय करें और इस प्रकार यह कल्पना करें कि 'मही' के पास यज्ञ के लिये गायें भरी पड़ी हैं? 'सरस्वती' का आध्यात्मिक स्वरूप हमारे सामने आकर हमें इस दूसरी बेहूदी कल्पना से मुक्त करा देता है, पर साथ ही यह (पहली) प्रकृतिवादी व्याख्या का भी उसी प्रकार प्रतिषेध करता है। 'मही' का इस प्रकार से वर्णित होना जो कि यज्ञ में सरस्वती की सहचारिणी है अन्तःप्रेरणा की देवी की बहिन है, उत्तरकालीन गाथाशास्त्र में जो सरस्वती के साथ बिल्कुल एक कर दी गयी है—दूसरे सैकड़ों प्रमाणों के बीच में—इसका एक और प्रमाण है कि वेद में प्रकाश ज्ञान का, आत्मिक ज्योति का प्रतीक है। 'सूर्य' अधिपति है अत्युच्च दृष्टि का, महान् प्रकाश का, 'बृहज्ज्योति' अथवा जैसा कि कहीं-कहीं इसके लिये कहा गया है 'ऋत ज्योति' सच्चे प्रकाश का। और 'ऋतम्' तथा 'बृहत्' इन शब्दों में संबंध वेद में सतत रूप से पाया जाता है।

यह मुझे असंभव प्रतीत होता है कि इन शब्दप्रयोगों का इसके अतिरिक्त कुछ और अर्थ समझा जाय कि इनमें प्रकाशमय चेतना की अवस्था का निर्देश है, जिसका कि स्वरूप यह है कि वह विस्तृत या विशाल है 'बृहत्', सत्ता के सत्य से भरपूर है 'सत्यम्', और ज्ञान तथा क्रिया के सत्य से युक्त है 'ऋतम्'। देवताओं के पास *यही चेतना होती है।* *उदाहरण के लिये 'अग्नि' को 'ऋतचित्' कहा गया है,* अर्थात् वह जो कि सत्यचेतनावाला है। 'मही' इस सूर्य की किरणों से भरपूर

है, वह अपने अंदर इस प्रकाश को रखती है। इसके अतिरिक्त वह 'सूनृता' है, सुखमय सत्य की वाणी है, ऐसे ही जैसे कि सरस्वती के विषय में भी कहा गया है कि वह सुखमय सत्यों की प्रेरयित्री है, चोदयित्री सूनृतानाम्। अन्त में वह 'विरप्शी' है, विशाल है या प्रचुरता में फूट निकलनेवाली है और यह शब्द हमें इसका स्मरण करा देता है कि सत्य जो कि विशालतारूप भी है 'ऋतम् बृहत्'। और एक दूसरे मंत्र (ऋ १ २२ १०) में उसका वर्णन इस रूप में आता है कि वह 'वरूत्री धिषणा' है विचार-शक्ति को विशाल रूप में ओढ़े हुए या आलिंगन किये हुए है। तो 'मही' सत्य की प्रकाशमय व्यापकता है, हमारे अंदर अपने में सत्य को, 'ऋतम्' को धारण किये हुए जो अतिचेतन (Superconscient) है उसकी विशालता को, 'बृहत्' को प्रकट करनेवाली वह है। इसलिये वह यज्ञकर्ता के लिये पके फलों से लदी हुई एक शाखा के समान है।

'इळा' भी सत्य की वाणी है, उत्तरकाल में होनेवाली अस्तव्यस्तता में इसका नाम वाक् का समानार्थक हो गया है। जैसे सरस्वती है सत्य विचारों या मन की सत्य अवस्थाओं की ओर चेतना को जागृत करनेवाली, 'चेतन्ती सुमतीनाम्' उसी प्रकार 'इळा' भी चेतना को ज्ञान के प्रति जागृत करती हुई 'चेतयन्ती' यज्ञ में आती है। वह शक्ति से भरपूर है, 'सुवीरा', और ज्ञान को लाती है। उस का भी सम्बन्ध 'सूर्य' के साथ है, जैसे कि ५-४-४ में 'अग्नि' का, सकल्पशक्ति का, आवाहन किया गया है कि वह इळा के साथ समना होकर 'सूर्य' की, सत्य प्रकाश के अधिपति की, किरणों के द्वारा यत्न करता हुआ आवे, "इळया सजोषा यतमानो रश्मिभिः सूर्यस्य"। वह किरणों की, 'सूर्य' की गौओं की, माता है। उसके नाम से अभिप्राय निकलता है कि वह जो कि खोजती है और पा लेती है और यह शब्द अपने अन्दर उसी विचार-साहचर्य को रखता है, जो कि 'ऋतम्' और 'ऋषि' शब्द में है। 'इळा' को इसलिये ठीक-ठीक यह समझा जा सकता है कि यह द्रष्टा की दर्शनशक्ति है जो कि सत्य को पा लेती है।

जैसे सरस्वती सत्यश्रवण की, 'श्रुति' की सूचक है जो कि अन्तःप्रेरणा की वाणी को देती है, वैसे ही इळा 'दृष्टि' को, सत्य-दर्शन को सूचित करती है। यदि ऐसा हो, तो क्योंकि 'दृष्टि' और 'श्रुति' ये ऋषि, कवि, सत्य के द्रष्टा की दो शक्ति-

या है, इसलिये हम 'इळा' और 'सरस्वती' के घनिष्ठ सम्बन्ध को समझ सकते हैं। 'भारती' या 'मही' सत्यचेतना की विशालता है, जो कि मनुष्य के सीमित मन में उदित होकर उक्त दो शक्तियों को, जो दो बहिनें हैं, अपने साथ लाती है। यह भी हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार ये सूक्ष्म और सजीव अन्तर पीछे जाकर ओझिल हो गये, जब कि वैदिक ज्ञान का ह्रास हुआ और 'भारती', 'सरस्वती' 'इळा' तीनों एक में परिणत हो गयीं।

हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि इन तीन देवियों के विषय में यह कहा गया है कि ये मनुष्य के लिये सुख, 'मयस्' को उत्पन्न करती हैं। वैदिक ऋषियों की धारणानुसार जो सत्य और सुख या आनन्द के बीच में सतत सम्बन्ध है उसपर मैं पहले ही बल दे चुका हूं। यह मनुष्य के अन्दर सत्यमय या असीम चेतना के उदय होने के द्वारा होता है कि वह पीड़ा और कष्ट के इस दुःस्वप्न में से इस विभक्त (द्वन्द्वमय) रचना में से निकलकर उस आनन्द में, सुखमय अवस्था में पहुंच जाता है जिसका कि वेद में 'भद्रम्', 'मयस्' (प्रेम और सुख), 'स्वस्ति' (सत्ता की उत्तम अवस्था, सम्यक् अस्तित्व) शब्दों से तथा अन्य कई अपेक्षाकृत कम पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त 'वार्यम्', 'रयि', 'राय' जैसे शब्दों से वर्णन किया गया है। वैदिक ऋषि के लिये सत्य एक रास्ता है, तथा प्रारंभिक कोठरी है और दिव्य सत्ता का आनन्द लक्ष्य है, अथवा यों कहें कि सत्य है नींव, आनन्द है सर्वोच्च परिणाम।

तो यह है आध्यात्मिकवाद के अनुसार 'सरस्वती' का स्वरूप, उसका अपना विशिष्ट व्यापार और देवताओं के बीच में जो उसके अधिकतम निकट सहचारी हैं उनके साथ उसका सम्बन्ध। ये कहां तक उसपर कुछ प्रकाश डालते हैं जो कि वैदिक नदी के रूप में उसका अपनी छः बहिन नदियों के साथ सम्बन्ध है? सात की संख्या का वैदिक सम्प्रदाय में एक बहुत ही मुख्य स्थान है, जैसा कि अधिकांश बहुत प्राचीन विचार-सम्प्रदायों में है। हम उसे निरन्तर आता देखते हैं—सात आनन्द 'सप्त रत्नानि', सात ज्वालायें, अग्नि की जिह्वायें या किरणें, 'सप्त अर्चिषः', 'सप्त ज्वालाः', विचार-तत्त्व के सात रूप, 'सप्त धीतयः', सात किरणें या गौएं, जो कि अवध्य गौ, 'अदिति', देवों की माता के रूप हैं, 'सप्त गावः',

सात नदियां, सात मातायें या प्रीणयित्री गौएं, 'सप्त मातर.', 'सप्त धेनव.', जो कि शब्द समान रूप से किरणों और नदियों दोनों के लिये प्रयुक्त किया गया है। ये सब सात के समुदाय, मुझे प्रतीत होता है, सत्ता के आधारभूत तत्त्वों के वैदिक वर्गीकरण पर आश्रित हैं। इन तत्त्वों की संख्या का अन्वेषण पूर्वजों के विचारशील मन के लिये बहुत ही रुचिकर था और भारतीय दर्शनशास्त्र में हम इसके विभिन्न उत्तर पाते हैं जो कि एक संख्या से शुरू होकर बढकर बीस से ऊपर तक पहुंचते हैं। वैदिक विचार में इसके लिये जो आधार चुना गया था वह आध्यात्मिक तत्त्वों की संख्या था, क्योंकि ऋषियों के विचार में सम्पूर्ण अस्तित्व एक सचेतन सत्ता की ही हलचलरूप था। आधुनिक मन को ये विचार और वर्गीकरण चाहे केवल कौतूहलपूर्ण या निस्सार ही क्यों न प्रतीत हों, पर वे केवल शुष्क दार्शनिक भेद नहीं थे, बल्कि एक सजीव आध्यात्मिक अभ्यास-पद्धति के साथ निकट रूप से सम्बन्ध रखते थे, जिसके कि वे बहुत अंशों में विचारमय आधार थे, और चाहे कुछ भी हो हमें अवश्यमेव उन्हें साफ-साफ समझ लेना चाहिये यदि हम किसी यथार्थता के साथ अपना विचार इस प्राचीन और दूरवर्ती संप्रदाय के विषय में बनाना चाहते हों।

तो हम वेद में तत्त्वों की संख्या को विविध रूप में प्रतिपादित हुआ पाते हैं। 'एक' को समझा गया था आधारभूत और आत्मपूर्ण, इस 'एक' के अन्दर दो तत्त्व रहते थे दिव्य तथा मानव, मर्त्य तथा अमर्त्य। यह द्वित्वसंख्या अन्य प्रकार से भी दो तत्त्वों में प्रयुक्त की गयी है। आकाश और पृथ्वी, मन और शरीर, आत्मा और प्रकृति, जो कि सब प्राणियों के पिता और माता समझे गये हैं। तो भी यह अर्थपूर्ण है कि आकाश और पृथ्वी जब कि वे प्राकृतिक शक्ति के दो रूपों, मानसिक तथा भौतिक चेतना के प्रतीक होते हैं, तब वे पिता और माता नहीं बल्कि दो माताएं होते हैं। तीन का तत्त्व दो रूपों में समझा गया था, प्रथम तो त्रिविध दिव्य तत्त्व के रूप में, जो कि बाद के सच्चिदानन्द, दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना और दिव्य आनन्द के अनुरूप है और दूसरे त्रिविध लौकिक तत्त्व—मन, प्राण, शरीर के रूप में, जिसपर कि वेद और पुराणों का त्रिविध लोक-संस्थान निर्मित है। परन्तु पूर्ण संख्या जो कि सामान्यत. मानी गयी है वह है 'सात'। यह सात का अंक बना

में रहते थे, एकमात्र यही रूपक-कल्पना स्वाभाविक हो सकती थी (उनके लिये वह ऐसी ही स्वाभाविक और अनिवार्य थी, जैसी कि आजकल के हम लोगो के लिये 'प्लेन्स' [Planes = भूमिकाओं] की रूपक-कल्पना जिससे कि थ्योसोफिकल विचारो ने हमे परिचित कराया है)—तो सात नदियो में से एक के रूप में 'सरस्वती' का स्थान स्पष्ट हो जाता है। 'सरस्वती' वह धारा है जो कि सत्य तत्त्व से, 'ऋतम्' या 'मह' से आती है और वस्तुत ही वेद में इस तत्त्व का वर्णन —उदाहरणार्थ हमारे तीसरे सूक्त (१ ३) के अन्तिम सदर्भ में— हम इस प्रकार कहा गया पाते है कि वह महान् जल, 'महो अर्ण' है, ('महो अर्ण' यह एक ऐसा प्रयोग है जो कि एकदम हमें बाद की 'महम्' इस सज्ञा के उद्गम को बता देता है), या कही-कही इस रूप मे कि, वह 'महाँ अर्णव' है। तीसरे सूक्त में हम 'सरस्वती' तथा इन महान् जलो मे निकट सम्बन्ध देखते है। तो इस सबन्ध की हमें जरा और निकटता के साथ परीक्षा कर लेनी चाहिये, इससे पहले कि हम वैदिक गौओ के विचार पर तथा 'इद्र' देवता और सरस्वती की सगी सम्बन्धिन देवी 'सरमा' के साथ उन गौओ के सम्बन्ध पर आवे। क्योकि यह आवश्यक है कि पहले हम इन सम्बन्धो की परिभाषा कर ले, जिससे कि हम मधुच्छन्दस् के शेष सूक्तो की परीक्षा कर सके जो सूक्त कि बिना अपवाद के उस महान् वैदिक देवता, द्यौ के अधिपति (इद्र) को सम्बोधित किये गये है जो कि हमारी कल्पना के अनुसार मनुष्य के अन्दर मन की शक्ति का और विशेषकर दिव्य या स्वत प्रकाश मन का प्रतीक है।

ग्यारहवां अध्याय

समुद्रों और नदियों का रूपक

मधुच्छन्दस् के तीसरे सूक्त की वे तीन ऋचाएं जिनमें कि सरस्वती का आवाहन किया गया है इस प्रकार हैं—

पावका नः सरस्वती, वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥
चोदयित्री सूनृतानां, चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती॥
महो अर्णः सरस्वती, प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥

प्रथम दो ऋचाओं का आशय पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम यह जान लेते हैं कि सरस्वती सत्य की वह शक्ति है जिसे कि हम अन्तःप्रेरणा कहते हैं। सत्य से आनेवाली अन्तःप्रेरणा संपूर्ण मिथ्यात्व से छुड़ा देने द्वारा हमें पवित्र कर देती है (पावका), क्योंकि भारतीय विचार के अनुसार सब पाप केवल मिथ्यापन ही है, मिथ्या रूप से प्रेरित भाव, मिथ्या रूप से संचालित संकल्प और क्रिया ही है। जीवन का और हमारे अपने-आपका केंद्रभूत विचार जिसको लेकर हम चलते हैं, एक मिथ्यात्व है और उसके द्वारा अन्य सब भी मिथ्याकृत हो जाता है। सत्य हमारे अंदर आता है एक प्रकाश, एक वाणी के रूप में, और वह आकर हमारे विचार को बदलने के लिये बाधित कर देता है, हमारे अपने विषय में और जो कुछ हमारे चारों ओर है उसके विषय में एक नवीन विवेकदृष्टि को ला देता है। विचार का सत्य दर्शन (Vision) के सत्य को रचता है और दर्शन का सत्य हमारे अंदर सत्ता के सत्य का निर्माण करता है और सत्ता के सत्य (सत्यम्) में से स्वभावतः भावना का, संकल्प का और क्रिया का सत्य प्रवाहित होता है। यह है वास्तव में वेद का केंद्रभूत विचार।

सरस्वती, अन्त प्रेरणा, प्रकाशमय समृद्धताओं से भरपूर है (वाजेभिर्वाजिनी-वती), विचार की संपत्ति से ऐश्वर्यवती (धियावसु:) है। वह यज्ञ को धारण करती है, देव के प्रति दी गयी मर्त्य जीव की क्रियाओं की हवि को धारण करती है, एक तो इस प्रकार कि वह मनुष्य की चेतना को जागृत कर देती है (चेतन्ती सुमतीना), जिससे कि वह चेतना, भावना की समुचित अवस्थाओं को और विचार की समुचित गतियो को पा लेती है, जो अवस्थाएं और गतिया कि उस सत्य के अनुरूप होती है जहासे कि सरस्वती अपने प्रकाशों को उँडेला करती है और दूसरे इस प्रकार कि वह मनुष्य की इस चेतना के अदर उन सत्यों के उदय होने को प्रेरित कर देती है (चोदयित्री सूनृताना), जो सत्य कि वैदिक ऋषियो के अनुसार जीवन और सत्ता को असत्य, निर्बलता और सीमा से छुड़ा देते है और उसके लिये परम सुख के द्वारों को खोल देते हैं।

इस सतत जागृत करने और प्रेरित करने (चेतन और चोदन) के द्वारा जो कि 'केतु' (अर्थात् बोधन) इस एक शब्द में संगृहीत हुए-हुए है,–जिस 'केतु' को कि वस्तुओं के मिथ्या मर्त्यदर्शन से भेद करने के लिये 'दैव्य-केतु' (दिव्य बोधन) करके प्रायः कहा गया है,–सरस्वती मनुष्य की क्रियाशील चेतना के अदर बडी भारी बाढ़ को या महान् गति को, स्वय सत्य-चेतना को ही, ला देती है और इससे वह हमारे सब विचारों को प्रकाशमान कर देती है (तीसरा मत्र)। हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक ऋषियो की यह सत्य-चेतना एक अति-मानस (मन से अतिक्रात) स्तर है, जीवन की पहाड़ी की सतह पर (अद्रे. सानु) है जो कि हमारी सामान्य पहुच से परे है और जिसपर हमें वडी कठिनता से चढ़-कर पहुंचना है। यह हमारी जागृत सत्ता का भाग नही है, यह हमसे छिपा हुआ अति-चेतन की निद्रा मे रहता है। तो हम समझ सकते है कि मधुच्छदस् का क्या आशय है, जब कि वह कहता है कि सरस्वती अन्त प्रेरणा की सतत क्रिया के द्वारा सत्य को हमारे विचारो में चेतना के प्रति जागृत कर देती है।

परतु जहातक केवल व्याकरण के रूप का सबध है, इस पक्ति का इसकी अपेक्षा बिलकुल भिन्न अनुवाद भी किया जा सकता है, हम "महो अर्ण." को सरस्वती के समानाधिकरण मानकर इस ऋचा का यह अर्थ कर सकते है कि, "सरस्वती

जो कि बडी भारी नदी है, बोधन (केतु) के द्वारा हमें ज्ञान के प्रति जागृत करती है और हमारे सब विचारों में प्रकाशित होती है।" यदि हम यहां "बडी भारी नदी" इस मुहावरे को भौतिक अर्थ में ले और इससे पंजाब की भौतिक नदी समझें, जैसा कि सायण समझता प्रतीत होता है, तो यहां हमें विचार और शब्द-प्रयोग की एक बडी असंगति दिखायी पडने लगेगी, जो कि किसी भयंकर स्वप्न या पागलखाने के अतिरिक्त कहीं संभव नहीं हो सकती। पर यह कल्पना की जा सकती है कि इसका अभिप्राय है, अन्तःप्रेरणा का बडा भारी प्रवाह या समुद्र और यह कि, यहां सत्य-चेतना के महान् समुद्र का कोई संकेत नहीं है। तो भी, दूसरे ऐसे स्थलों में देवताओं के संबंध में यह संकेत बार-बार आता है कि वे महान् प्रवाह या समुद्र की विशाल शक्ति के द्वारा कार्य करते हैं, (मह्ना महतो अर्णवस्य १०-६७-१२), जहां कि सरस्वती का कोई उल्लेख नहीं होता और यह असंभव होता है कि यहां उससे अभिप्राय हो। यह सच है कि वैदिक लेखों में सरस्वती के विषय में यह कहा गया है कि वह 'इन्द्र' की गुप्त आत्मशक्ति है (यहां हम यह भी देख सकते हैं कि, यह एक ऐसा प्रयोग है जो कि अर्थशून्य हो जाता है, यदि सरस्वती केवल एक उत्तर की नदी हो और इन्द्र आकाश का देवता हो, पर तब इसका एक बडा गंभीर और हृदयग्राही अर्थ हो जाता है यदि इन्द्र हो प्रकाशयुक्त मन और सरस्वती हो वह अन्तःप्रेरणा जो कि अतिमानस सत्य के गुह्य स्तर से निकलकर आती है)। परंतु इससे यह नहीं हो सकता कि, सरस्वती को अन्य देवों की अपेक्षा इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया जाय जितना कि तब उसे मिल जाता है यदि "मह्ना महतो अर्णवस्य" का यह अनुवाद करें कि "सरस्वती की महानता के द्वारा।" यह तो बार-बार प्रतिपादित किया गया है कि देवता सत्य की शक्ति के द्वारा, 'ऋतेन' कार्य करते हैं, पर सरस्वती तो सत्य के देवताओं में से केवल एक है, यह भी नहीं कि वह उनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण या व्यापक हो। इसलिये 'महो अर्ण' का जो अर्थ मैंने किया है वही अर्थ है जो कि वेद के सामान्य विचार के साथ और दूसरे संदर्भों में जो इस वाक्यांश का प्रयोग हुआ है उसके साथ संगति रखता है।

तो चाहे हम यह समझें कि यह बडा भारी प्रवाह "महो अर्ण" स्वयं सरस्वती

ही है और चाहे हम उसे सत्य का समुद्र समझें, यह एक निश्चयात्मक सत्य है, जो कि इस संदर्भ के द्वारा असंदिग्ध हो जाता है, कि वैदिक ऋषि जल के, नदी के या समुद्र के रूपक को आलंकारिक अर्थ में और एक आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते थे। तो इसको लेकर हम आगे विचार प्रारंभ कर सकते हैं और देख सकते हैं कि यह हमें कहांतक ले जाता है। प्रथम तो हम यह देखते हैं कि हिंदू लेखों में, वेद में, पुराण में और दार्शनिक तर्कों तथा दृष्टांतों तक में सत्ता को स्वयं एक समुद्र के रूप में वर्णित किया गया है। वेद दो समुद्रों का वर्णन करता है, उपरले जल और निचले जल। ये समुद्र हैं, एक तो अवचेतन का जो कि अंधकारमय और अभिव्यक्तिरहित है और दूसरा अतिचेतन का जो कि प्रकाशमय है और नित्य अभिव्यक्त है, पर है मानवमन से परे।

ऋषि वामदेव चतुर्थ मण्डल के अंतिम सूक्त में इन दो समुद्रों का वर्णन करता है। वह कहता है कि एक मधुमय लहर समुद्र से ऊपर को आरोहण करती है, और इस आरोहण करती हुई लहर, जो कि 'सोम' (अंशु) है, के द्वारा मनुष्य पूर्ण रूप से अमरता को पा लेता है; वह लहर या वह सोम निर्मलता का ('घृतस्य', जो कि शुद्ध किये हुए मक्खन का, घी का, सूचक है) गुह्य नाम है, वह देवताओं की जिह्वा है, वह अमरता की नाभि है।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारद् उपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ (४।५८।१)

मैं समझता हूं कि इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि समुद्र, मधु, सोम, घृत ये सब कम-से-कम इस संदर्भ में तो अवश्य आध्यात्मिक प्रतीक हैं। निश्चय ही वामदेव का यह आशय नहीं है कि शराब की एक लहर या प्रवाह हिन्दमहासागर या बंगाल की खाड़ी के खारे पानी से निकलकर अथवा चाहे यह भी सही कि, सिन्धु नदी के या गंगा नदी के ताजे पानी से निकलकर ऊपर चढ़ती हुई आयी, और यह शराब घी का गुह्य नाम है। जो वह कहना चाहता है वह स्पष्ट यह है कि हमारे अन्दर जो अवचेतन की गहराइयां हैं उनमें से आनन्द की या सत्ता के विशुद्ध आह्लाद की एक मधुमय लहर उठती है और यह इसी आनन्द के द्वारा होता है कि हम अमरता तक पहुंच पाते हैं, यह आनन्द वह रहस्यमय सत्ता है, वह गुह्य वास्तविकता है,

जो कि अपनी चमकती हुई निर्मलताओं से युक्त मन की क्रिया के पीछे छिपी हुई है।

. 'सोम', इस आनन्द का देवता, (वेदान्त भी हमें बताता है कि) वह वस्तु है जो कि मन या संवेदनात्मक बोध बन गया है। दूसरे शब्दों में, समस्त मानसिक संवेदन अपने अंदर सत्ता के एक गुप्त आनन्द को रखता है और अपने ही अस्तित्व के उस रहस्य को व्यक्त करना चाहता है। इसलिये आनन्द देवताओं की जिह्वा है, जिससे कि वे सत्ता के आनन्द का आस्वादन करते हैं, यह नाभि है जिसमें कि अमर अवस्था या दिव्य सत्ता की सब क्रियाएं इकट्ठी बंधी हुई हैं। वामदेव अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कहता है, "आओ, हम निर्मलता (घृत) के इस रहस्यमय नाम को व्यक्त करें,—अभिप्राय यह कि हम इस सोमरस को, सत्ता के इस गुह्य आनन्द को, बाहर निकालें, इसे इस विश्व-यज्ञ में अग्नि के प्रति अपने समर्पणों या प्रणतियों के द्वारा (नमोभि) थाम लें, जो अग्नि कि वह दिव्य चैतन्य या सचेतन-शक्ति है जो कि सत्ता का स्वामी (ब्रह्मा) है। वह चार सींगोंवाला बैल है, और जब वह मनुष्य में व्यक्त होते हुए आत्मिक विचारों को सुनता है तब वह आनन्द के इस गुह्य नाम को इसकी गुहा से बाहर निकाल देता है, (अवमीत्)।"

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।

उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानम् चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥ (४।५८।२)

यहां हम इस बात की तरफ भी ध्यान देते चलें कि क्योंकि सोमरस और घृत प्रतीकात्मक हैं इसलिये यज्ञ का भी अवश्यमेव प्रतीकात्मक ही होना चाहिये। इस प्रकार के सूक्तों में जैसा कि यह वामदेव का सूक्त है कर्मकाण्ड का आवरण जिसे कि वैदिक रहस्यवादियों ने ऐसे प्रयत्नपूर्वक बुना था इस प्रकार विलुप्त हो जाता है जैसे कि हमारी आंखों के सामने से विलीन होता हुआ कोहरा और वहां वैदान्तिक सत्य, वेद का रहस्य स्पष्ट दीखने लगता है।

वामदेव हमें अपने वर्णित इस समुद्र के स्वरूप के विषय में बिल्कुल भी सन्देह का अवकाश नहीं देता, क्योंकि पांचवीं ऋचा में उसने साफ ही इसे हृदय का समुद्र कह दिया है, *'हृद्यात् समुद्रात्'*, जिसमें से कि निर्मलता की धारायें, "घृतस्य धारा", उठती हैं, वह कहता है कि वे मन और आन्तरिक हृदय के द्वारा

क्रमशः पवित्र की जाती हुई बहती है, "अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना."। और अन्तिम ऋचा में वह सारी ही सत्ता को तीन रूपों में स्थित हुआ-हुआ वर्णन करता है, प्रथम तो 'अग्नि' के धाम में जिसे कि दूसरी ऋचाओं से हम यह जानते हैं कि वह सत्यचेतना है, अग्नि का अपना घर है, "स्व दमम् ऋतम् बृहत्",—दूसरे, हृदय में, समुद्र में जो कि स्पष्ट ही वह है जो कि 'हृद्य समुद्र' है—तीसरे, मनुष्य के जीवन में (आयुषि)।

धामन् ते विश्वं भुवनम् अधि श्रितम्, अन्तःसमुद्रे हृद्यन्तरायुषि। (४-५८-११)

(१) अतिचेतन और (२) अवचेतन का समुद्र, तथा (३) इन दोनों के मध्य में प्राणी का जीवन,—यह (तीनों मिलकर) है सत्ता का वैदिक विचार।

अतिचेतन का समुद्र निर्मलता की नदियों का, मधुमय लहर का, लक्ष्य है, जैसे कि हृदय के अन्दर का अवचेतन का समुद्र उनके उठने का स्थान है। इस उपरले समुद्र को "सिन्धु" कहा गया है और 'सिन्धु' शब्द के नदी या समुद्र दोनों अर्थ हो सकते हैं; पर इस सूक्त में स्पष्ट ही इसका अर्थ समुद्र है। आइये, जरा हम इस अद्भुत भाषा पर दृष्टि डालें जिस भाषा में कि वामदेव निर्मलता की इन नदियों का वर्णन करता है। सबसे पहले वह यह कहता है कि देवताओं ने उस निर्मलता को, 'घृतम्' को खोजा और पा लिया, जो 'घृत' कि तीन रूपों में स्थित था, तथा पणियों ने जिसे गौ के अन्दर, 'गवि', छिपाया हुआ था।* यह निःसंदिग्ध है कि 'गौ' वेद में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, गाय और प्रकाश, गाय बाह्य प्रतीक है, आन्तरिक अर्थ है प्रकाश। गौओं का अलंकार कि उनको पणि चुरा ले गये थे और ले जाकर छिपा लिया था, वेद में निरन्तर आता है। यहां यह स्पष्ट है कि क्योंकि 'समुद्र' एक आध्यात्मिक प्रतीक है—हृदय का समुद्र "समुद्रे हृदि",—और 'सोम' एक आध्यात्मिक प्रतीक है, तथा 'घृत' एक आध्यात्मिक प्रतीक है इसलिये वे गौएं भी जिनमें कि देवता पणियों द्वारा छिपाये गये 'घृत' को ढूंढकर पा लेते हैं अवश्य ही एक आन्तरिक

---

*त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
(इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः)॥ (४।५८।४)

प्रकाश का प्रतीक होनी चाहियें, न कि भौतिक प्रकाश की सूचक। गौ वास्तव में 'अदिति' है, असीम चेतना है जो कि अवचेतन के अन्दर छिपी हुई है, और त्रिविध पुन है छूटकर आये हुए संवेदन की त्रिविध निर्मलता जो कि (१) आनन्द के, (२) प्रकाश और अन्तर्ज्ञान को प्राप्त करनेवाले विचारशील मन के और (३) स्वयं सत्य के, चरम अतिमानस दर्शन के अपने रहस्य को ढूंढकर पा लेती है। यह इस ऋचा (४।५८।४) के उत्तरार्ध से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें कि यह कहा गया है कि "एक को इन्द्र ने पैदा किया, एक को सूर्य ने, एक को देवताओं ने 'वेन' के स्वाभाविक विकास से रचा", क्योंकि 'इन्द्र' विचारशील मन का, 'सूर्य' अतिमानस प्रकाश का अधिपति है और वेन है सोम, सत्ता के मानसिक आनन्द का अधिपति, इन्द्रिय-मन का रचयिता।

अब यहां हम यह भी देख सकते है कि यहांपर वर्णित 'पणि' अवश्य और बलात् आध्यात्मिक शत्रु, अन्धकार की शक्तियां ही होने चाहियें, न कि द्राविड देवता या द्राविड जातियां या द्राविड सौदागर। अगली (पांचवीं) ऋचा में वामदेव 'घृतम्' की धाराओं के विषय में कहता है कि वे हृदय के समुद्र से चलती है, जहां कि वे शत्रु द्वारा सैकडों कारागारों ('व्रजों', बाडों) में बंद की हुई पड़ी हैं, जिससे कि वे दिखायी नहीं देतीं। निश्चय ही, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि घी की या पानी की नदियां हृदय-समुद्र से या किसी भी समुद्र से उठती हुई बीच में दुष्ट और अन्यायी द्रविडियों से पकड़ ली गयी और सैकडों बाड़ों में बन्द कर दी गयी, जिससे कि आर्य लोगों को या आर्यों के देवताओं को उनकी झांकी तक न मिल सके। तुरन्त हम अनुभव करते है कि यह शत्रु वेदमंत्रों का पणि, वृत्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक विचार है, न कि यह बात है कि यह हमारे पूर्वजों का प्राचीन भारतीय इतिहास की सचाइयों को अपनी सन्तति से छिपाने के लिये उन्हें जटिल और दुर्गम्य गाथाओं के बादलों से ढक देने का एक प्रयास हो। ऋषि वामदेव हक्का-बक्का रह जाता, यदि वह कहीं देख पाता कि उसके यज्ञसबन्धी रूपक को आज ऐसा अप्रत्याशित उपहास-रूप दिया जा रहा है। इससे भी कुछ बात नहीं बनती यदि हम 'घृत' को पानी के अर्थ में लें, 'हृद्य समुद्र' को मनोहर झील के अर्थ में और यह कल्पना कर लें कि द्रविडियों ने नदियों के पानी को सैंकडों बांध लगाकर बन्द कर लिया था, जिससे कि आर्य लोग उनकी एक झांकी तक नहीं पा सकते थे।

क्योकि यदि पजाब की नदिया सब-की-सब हृदय को आनन्द देनेवाली एक मनोहर झील से निकलती भी हो, तो भी यह नही हो सकता कि उनकी पानी की धाराओ को बहुत ही चालाक तथा बडे युक्ति से काम करनेवाले द्रविडियो ने इस प्रकार से एक गाय के अन्दर तीन रूपो मे रख दिया हो और उस गाय को ले जाकर एक गुफा में छिपा दिया हो।

वामदेव कहता है, "ये हृदय-समुद्र से चलती है, शत्रु द्वारा सैकडो बाडों में बद की हुई ये दीख नही सकती। मै निर्मलता (घृत) की धाराओ की ओर देखता हू, क्योकि उनके मध्य में सुनहरा बेंत रखा हुआ है (५ वा मत्र)। ये सम्यक् प्रकार से स्रवण करती है जैसे कि बहती हुई नदिया, ये अदर हृदय के द्वारा और मन के द्वारा पवित्र की जाती हुई, ये निर्मलता की लहरे ऐसे चलती है जैसे कि पशु अपने हाकनेवाले की अध्यक्षता में चलते है (६ठा मत्र)। मानो कि उस रास्ते पर चल रही हो जो कि समुद्र ('सिंधु' उबलते समुद्र) के सामने है, ये महती धाराए वेगयुक्त गति से भरपूर, किन्तु प्राण की शक्ति (वात, वायु) से सीमित हुई-हुई चलती है ये जो कि निर्मलता (घृत) की धाराए है, वे एक जोर मारते हुए घोडे के समान है जो कि अपने सीमित करनेवाले बधनो को तोड फेंकता है, जब कि वह लहरो द्वारा परिपुष्ट हो जाता है, (७ वा मत्र)।*" देखते ही यह मालूम हो जाता है कि यह रहस्यवादी की एक कविता है, जो कि अपने अभिप्राय को अधार्मिको से छिपाने के लिये उसे रूपको के आवरण के नीचे ढक रहा है, जिसको कि वही कही पर वह पारदर्शक हो जाने देता है ताकि वे जो कि देखना चाहते है उसमेसे देख सके।

---

*एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥५॥
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना ।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणा ॥६॥
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥७॥ (४-५८)

जो वह कहना चाहता है वह यह है कि दिव्य ज्ञान हर समय हमारे विचारो के पीछे सतत रूप से प्रवाहित हो रहा है, परतु आन्तरिक शत्रु उसे हमसे रोके रखते हैं, जो शत्रु कि हमारे मन के तत्त्व को इन्द्रिय क्रिया और इंद्रियाश्रित बोध तक ही सीमित कर देते हैं, जिससे कि यद्यपि हमारी सत्ता की लहर उन किनारो पर टकराती है जो कि अतिचेतन तक, असीम तक पहुचते है तो भी इन्द्रियाश्रित मन की स्नायवीय क्रिया द्वारा सीमित हो जाती है और वे अपने रहस्य को प्रकट नही कर पाती। वे उन घोडो के समान है जो कि नियत्रण से काबू में रखे हुए और लगाम से रोके हुए है, केवल तब जब कि प्रकाश की धाराए अपनी शक्ति को बढाकर भरपूर कर लेती है, जोर मारता हुआ घोडा इन बधनो को तोड पाता है और वे स्वच्छदतापूर्वक बहने लगती है, उस ओर जहासे कि सोमरस अभिषुत हुआ है और यज्ञ पैदा हुआ है –

यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो, घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते। (९)

फिर यह लक्ष्य इस रूप में व्याख्यात हुआ है कि यह सारा मधु-ही-मधु है–घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते (१०); यह आनन्द है, दिव्य परम-सुख है। और यह कि यह लक्ष्य 'सिधु' है, अतिचेतन समुद्र है, अतिम ऋचा में स्पष्ट कर दिया गया है जहा कि वामदेव कहता है "तेरी मधुमय लहर का हम आस्वादन कर सकें"–तेरी अर्थात् 'अग्नि' की जो कि दिव्य पुरुष है, लोको का चार सीगोवाला बैल है, "जो कि लहर जलो की गति में, जहा कि वे इकट्ठे होते है, धारण की हुई है।"

अपामनीके समिथे य आभृत तमश्याम मधुमन्त त ऊर्मिम्। (११)

वैदिक ऋषियो के इस आधारभूत विचार को हम 'सृष्टि-सूक्त' (१०।१२९) में प्रतिपादित किया हुआ पाते हैं, जहा कि अवचेतन का इस प्रकार वर्णन किया गया है, "अधकार से घिरा हुआ अधकार, यही सब कुछ था जो कि प्रारम्भ में था, एक समुद्र था जो कि बिना मानसिक चतना के था . इसमेंसे एक पैदा हुआ, अपनी शक्ति की महत्ता के द्वारा। (३)। पहले-पहल इसके अदर इसने इच्छा (काम) के रूप में गति की, जो इच्छा कि मन का प्रथम बीज था। उन्होने जो कि बुद्धि के स्वामी थे अनत् में से उसे पा लिया जो कि सत् का निर्माण करता है, हृदय के अदर उन्होने इसे साक्षेप्य अन्त प्रवृत्ति के द्वारा और विचार-मय मन

द्वारा पाया। (४)। उनकी किरण दिगन्तसम रूप से फैली हुई थी, उसके ऊपर भी कुछ था, उसके नीचे भी कुछ था*। (५)।' इस सदर्भ में वे ही विचार प्रतिपादित हैं जो कि वामदेव के सूक्त में, परतु रूपको का आवरण यहां नही है। अचेतन के समुद्र मे से 'एक तत्त्व' हृदय म उठता है जो सर्वप्रथम इच्छा (काम) के रूप मे आता है, वहा हृदय-समुद्र में वह सत्ता के आनद की एक अव्यक्त इच्छा के रूप में गति करता है और यह इच्छा उसका प्रथम बीज है जो कि बाद म इन्द्रियाश्रित मन के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार देवताओ को अवचेतन के अधकार मे से सत् को, सचेतन सत्ता को, निर्मित कर लेने का एक साधन मिल जाता है, वे इसे हृदय मे पाते हैं और विचार के तथा सोद्देश्य प्रवृत्ति के विकास के द्वारा बाहर निकाल लाते हैं, 'प्रतीष्या' जिस शब्द से मनोमय इच्छा का ग्रहण करना अभिप्रेत है, जो कि उस पहली अस्पष्ट इच्छा से भिन्न है जो कि अवचेतन में से प्रकृति की केवल प्राणमय गतियो में उठती है। सचेतन सत्ता, जिसे कि वे इस प्रकार रचते है, इस प्रकार विस्तृत होती है मानो कि वह अन्य दो विस्तारो के बीच में दिगन्तसम रूप में हो। नीचे अवचेतन की अधकारमय निद्रा होती है, ऊपर होती है अतिचेतन की प्रकाशपूर्ण रहस्यमयता। ये ही उपरले और निचले समुद्र है।)

यह वैदिक अलकार पुराणो के इसी प्रकार के प्रतीकात्मक अलकारो पर भी एक स्पष्ट प्रकाश डालता है, विशेषकर 'विष्णु' के इस प्रसिद्ध प्रतीक पर कि वह प्रलय के बाद क्षीरसागर में 'अनत' साप की कुण्डली मे शयन करता है। यहा यह आक्षेप किया जा सकता है कि पुराण तो उन अधविश्वासी हिंदू पुरोहितो या कवियो द्वारा लिखे गये थे जो कि यह विश्वास रखते थे कि ग्रहणो का कारण यह

---

*तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
(तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्) तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्। ॥५॥

हैं कि एक दैत्य सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसता (खा जाता) है और वे आसानी से ही इसपर भी विश्वास कर सकते थे कि प्रलय के समय में परमात्मा भौतिक शरीर में सचमुच के दूध के भौतिक समुद्र में एक भौतिक सांप के ऊपर सोने जाता है और इसलिये यह व्यर्थ का बुद्धिकौशल दिखाना है कि इन कहानियों का कोई आध्यात्मिक अभिप्राय खोजा जाय। मेरा उत्तर यह होगा कि वस्तुतः ही उनमें ऐसे अभिप्राय खोजने की, ढूंढने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इन्हीं 'अंधविश्वासी' कवियों ने ही वहां स्पष्ट रूप से कहानियों के उपरिपृष्ठ पर ही उन अभिप्रायों को रख दिया है जिससे कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति, जो कि जानबूझकर अंधा नहीं बनता, देख सकता है। क्योंकि उन्होंने विष्णु के सांप का एक नाम भी रखा है, वह नाम है 'अनंत', जिसका अर्थ है असीम, इसलिये उन्होंने हमें पर्याप्त स्पष्ट रूप में कह दिया है कि यह कल्पना एक अलंकार ही है और विष्णु, अर्थात् सर्वव्यापक देवता, प्रलयकाल में अनंत की अर्थात् असीम की कुण्डलियों के अंदर शयन करता है। बाकी क्षीरसमुद्र के विषय में यह कि वैदिक अलंकार हमें यह दर्शाता है कि यह असीम सत्ता का समुद्र होना चाहिये और यह असीम सत्ता का समुद्र है नितान्त मधुरता का, दूसरे शब्दों में विशुद्ध सुख का एक समुद्र। क्योंकि क्षीर या मधुर दूध (जो कि स्वयं भी एक वैदिक प्रतीक है) स्पष्ट ही एक ऐसा अर्थ रखता है जो कि वामदेव के सूक्त के 'मधु' शब्द या मधुरता से सारतः भिन्न नहीं है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वेद और पुराण दोनों एक ही प्रतीकात्मक अलंकारों का प्रयोग करते हैं, समुद्र उनके लिये असीम और शाश्वत सत्ता का प्रतीक है। हम यह भी पाते हैं कि नदी या बहनेवाली धारा के रूपक को सचेतन सत्ता के प्रवाह का प्रतीकात्मक वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। हम देखते हैं कि सरस्वती, जो कि सात नदियों में से एक है, अन्तःप्रेरणा की नदी है जो कि सत्य-चेतना से निकलकर बहती है। तो हमें यह कल्पना करने का अधिकार है कि अन्य छः नदियां भी आध्यात्मिक प्रतीक होनी चाहियें।

पर हमें सर्वथा कल्पना और अटकल पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है, वे चाहे कितनी ही दृढ़ और सर्वथा विश्वासजनक क्यों न हों। जैसे कि वामदेव के सूक्त में हम देख आये हैं कि नदियां, 'घृतस्य धाराः' वहां घी की नदियां या

भौतिक पानी की नदिया नही है पर आध्यात्मिक प्रतीक हैं, वैसे ही हम अन्य सूक्तो मे सात नदियो के प्रतीक होने के सबध में बडी जबर्दस्त साक्षी पाते है। इस प्रयोजन के लिये मै एक और सूक्त की परीक्षा करूगा; तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त की जो कि ऋषि विश्वामित्र के द्वारा अग्निदेवता के प्रति गाया गया है; क्योकि यहा वह सात नदियो का वर्णन वैसी ही अद्भुत और असदिग्ध भाषा में करता है, जैसी कि घृत की नदियो के विषय में वामदेव की भाषा है। हम देखेगे कि इन दो पवित्र गायको की गीतियो में ठीक एक से ही विचार बिलकुल भिन्न प्रकरणो में आते है।

बारहवां अध्याय

सात नदियां

वेद सतत रूप से जलों या नदियों का वर्णन करता है, विशेषकर दिव्य जलों का, 'आपो देवीः' या 'आपो दिव्याः' और कहीं-कहीं उन जलों का जो कि अपने अन्दर प्रकाशमय गौर ज्योति के प्रकाश को या सूर्य के प्रकाश को रखते हैं, 'स्वर्वतीरपः'। जलों का अवतरण जो कि देवताओं के द्वारा या देवताओं की सहायता से मनुष्यों द्वारा किया जाता है, एक नियत प्रतीक है। जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, जिन्हें कि मनुष्य को दिलाने के लिये देवता वृत्रों और पणियों के साथ निरन्तर युद्ध में संलग्न रहते हैं, वे तीन महान् विजयें हैं गौएं, जल और सूर्य या गौर ज्योति "गा, अपः, स्वः"। प्रश्न यह है कि, क्या ये केवल आकाश की वर्षाओं के लिये हैं, उत्तर भारत की नदियों के लिये हैं जिनपर कि द्राविड़ों ने अधिकार कर लिया था या आक्रमण किया था, जब कि वृत्र थे कभी द्रविड़ी लोग और कभी उनके देवता, गौएं थीं वे पशु जिनको कि वहां के मूल निवासी "डाकुओं" ने आगे-बढ़ते आर्यों से छीनकर हस्तगत कर लिया था या लूट लिया था—और पणि जो कि गौओं का छीनते या चुराते हैं, फिर वे ही थे, कभी द्रविड़ी और कभी उनके देवता, अथवा इनका एक गम्भीरतर, एक आध्यात्मिक अर्थ है।

क्या 'स्वः' की विजय कर लेने का अभिप्राय केवल यह है कि सूर्य जो कि उमड़ते हुए बादलों से ढक गया था या ग्रहण से अभिभूत था या रात्रि के अन्धकार से घिरा हुआ था, वह फिर से पा लिया गया? क्योंकि यहां तो कम-से-कम यह नहीं हो सकता कि सूर्य को आर्यों के पास से "काली चमड़ी के" और "बिना नाकवाले" मनुष्य-शत्रुओं ने छीन लिया हो। अथवा 'स्वः' की विजय का अभिप्राय केवल यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को जीतने से है? और दोनों में से किसी भी अवस्था में गौ, जल, सूर्य के अथवा गौ, जल और आकाश के इस विचित्र से जोड़ का क्या अभिप्राय होता है? इसकी अपेक्षा क्या यह ठीक नहीं है कि यह प्रतीकात्मक अर्थों को देनेवाली

एक पद्धति है, जिसमें कि गौएं जो कि 'गाः' इस शब्द के द्वारा गायों और प्रकाश की किरणों दोनो अर्थों मे निर्दिष्ट हुई है, उच्चतर चेतना से आनेवाले प्रकाश है, जिनका कि मूल उद्गम प्रकाश का सूर्य, सत्य का सूर्य है ? क्या 'स्वः' स्वयं अमरता का लोक या स्तर नहीं है, जो कि उस सर्वप्रकाशमय सूर्य के प्रकाश या सत्य से शासित है जिसे कि वेद में महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्' और सच्चा प्रकाश कहा गया है ? और क्या दिव्य जल, 'आपो देवी', दिव्याः या स्वर्वतीः', इस उच्चतर चेतना के प्रवाह नहीं है जो मर्त्य मन पर उस अमरता के लोक मे धारा के रूप में गिरते हैं ?

निस्सदेह यह आसान है कि ऐसे सन्दर्भ या सूक्त बताये जा सकें कि जिनमें ऊपर से देखने पर इस प्रकार की किसी व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत न होती हो और उस सूक्त को यह समझा जा सकता हो कि वह वर्षा को देने की प्रार्थना या स्तुति है अथवा पजाब की नदियो पर हुए युद्ध का एक लेखा है। परन्तु वेद की व्याख्या जुदा-जुदा सदर्भों या सूक्तो को लेकर नही की जा सकती। यदि इसका कोई सगत और सबद्ध अर्थ होना है , तो हमें इसकी व्याख्या समग्र रूप में करनी चाहिये। हो सकता है कि हम 'स्वः' और 'गाः' को भिन्न-भिन्न संदर्भों में बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थ देकर अपनी कठिनाइयों से पीछा छुडा ले—ठीक जैसे कि सायण 'गाः' में कभी गाय का अर्थ पाता है, कभी किरणो का और कभी एक कमाल के हृदय-लाघव के साथ, वह जबर्दस्ती ही इसका अर्थ जल कर लेता है।* परन्तु व्याख्या की यह पद्धति केवल इस कारण ही युक्तियुक्त नही हो जाती, क्योंकि यह 'तर्कवाद-समत' और 'सामान्य बुद्धि के गोचर' परिणाम पर पहुचाती है। इसकी अपेक्षा ठीक तो यह है कि यह तर्क और सामान्य बुद्धि दोनो ही की अवज्ञा करती है। अवश्य ही इसके द्वारा हम जिस भी परिणाम पर चाहे पहुच सकते हैं, परन्तु कोई भी न्यायानुकूल और निष्पक्षपात मन पूरे निश्चय के साथ यह अनुभव नही कर सकता कि-वही परिणाम वैदिक सूक्तो का असली मौलिक अर्थ है।

---

*इसी प्रकार वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द 'ऋतम्' की कभी यज्ञ, कभी सत्य, कभी जल व्याख्या करता है और आश्चर्य तो यह कि ये सब भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही सूक्त मे और वह भी कुल,पाच या छः ऋचाओंवाले !

परन्तु यदि हम एक अपेक्षाकृत अधिक सगन प्रणाली को लेकर चलें, तो अनेकों दुर्लघ्य कठिनाइयां विशुद्ध भौतिक अर्थ के विरोध में आ खड़ी होती हैं। उदाहरण के लिये हमारे सामने वसिष्ठ का एक सूक्त (७-४९) है, जो कि दिव्य जलों, 'आपो देवी, आपो दिव्या', के लिये है, जिसमें कि द्वितीय ऋचा इस प्रकार है, 'दिव्य जल जो कि या तो खोदे हुए नालों में प्रवाहित होते हैं या स्वयं उत्पन्न बहते हैं, वे जिनकी गति समुद्र की ओर है, जो पवित्र हैं, पावक हैं,—वे दिव्य जल मेरी पालना करें।' यहां तो यह कहा जायगा कि अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है, ये भौतिक जल हैं, पार्थिव नदियां या नहरें हैं—या यदि 'खनित्रिमा' शब्द का अर्थ केवल "खोदे हुए" यह हो, तो ये कुएं हैं— जिनको कि वसिष्ठ अपने सूक्त में संबोधित कर रहा है और 'दिव्या', दिव्य, यह स्तुति का केवल एक शोभापरक विशेषण है, अथवा यह भी संभव है कि हम इस ऋचा का दूसरा ही अर्थ कर लें और यह कल्पना करें कि यहां तीन प्रकार के जलों का वर्णन है,—आकाश के जल अर्थात् वर्षा, कुओं का जल, नदियों का जल। परंतु जब हम इस सूक्त को समग्र रूप में अध्ययन करते हैं, तब यह अर्थ अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। क्योंकि सारा सूक्त इस प्रकार है—

"वे दिव्य जल मेरी पालना करें, जो समुद्र के सबसे ज्येष्ठ (या सबसे महान्) हैं, जो गतिमय प्रवाह के मध्य में से पवित्र करते हुए चलते हैं, जो कहीं टिकते नहीं जाते, जिनको कि वज्रधारी, वृषभ इन्द्र ने काटकर बाहर निकाला है (१)। दिव्य जल जो कि या तो खोदी हुई नहरों में बहते हैं या स्वयं उत्पन्न बहते हैं, जिनकी गति समुद्र की ओर है, जो पवित्र हैं, पावक हैं, वे दिव्य जल मेरी पालना करें (२)। जिनके मध्य में राजा वरुण प्राणियों के सत्य और अनृत को देखता हुआ चलता है, वे जो कि मधु-स्रावी हैं और पवित्र तथा पावक हैं—वे दिव्य जल मेरी पालना करें (३)। जिनमें वरुण राजा, जिनमें सोम, जिनमें सब देवता शक्ति का मद पाते हैं, जिनके अंदर वैश्वानर—अग्नि प्रविष्ट हुआ है, वे दिव्य जल मेरी पालना करें (४)।"*

---

*समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।

यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ यहां उन्हीं जलों, उन्हीं धाराओं के विषय में कह रहा है जिनका कि वामदेव ने वर्णन किया है—वे जल जो कि समुद्र से उठते हैं और बहकर समुद्र में चले जाते हैं, वह मधुमय लहर जो समुद्र से, उस प्रवाह से जो कि वस्तुओं का हृदय है, ऊपर को उठती है, वे जो निर्मलता की धाराएं हैं, 'घृतस्य धारा'। वे उच्च और सार्वभौम सचेतन सत्ता के प्रवाह हैं, जिनमें कि वरुण मर्त्यों के सत्य और अनृत का अवलोकन करता हुआ गति करता है (देखिये, यह एक ऐसा वाक्यांश है जो कि न तो नीचे आती हुई वर्षाओं की ओर लग सकता है न ही भौतिक समुद्र की ओर)। वेद का 'वरुण' भारत का नैप्चून (Neptune) नहीं है, नाही यह ठीक-ठीक, जैसी कि पहले-पहल योरोपियन विद्वानों ने कल्पना की थी, ग्रीक औरेनस (Ouranos), आकाश है। वह है आकाशीय विस्तार का, एक उपरले समुद्र का, सत्ता की विस्तीर्णता का, इसकी पवित्रता का अधिपति, उस विस्तीर्णता में, दूसरी जगह यह कहा गया है कि, उसने पथरहित असीम में पथ बनाया है जिसके कि अनुसार सूर्य, सत्य और प्रकाश का अधिपति, गति कर सकता है। वहांसे वह मर्त्य चेतना के मिश्रित सत्य और अनृत पर दृष्टि डालता है । और आगे हम इसपर ध्यान देना चाहिये कि ये दिव्य जल वे हैं जिनको कि इन्द्र ने काटकर बाहर निकाला है और पृथ्वी पर प्रवाहित किया है—यह एक ऐसा वर्णन है जो कि सारे वेद में सात नदियों के संबंध में किया गया है।

यदि इस विषय में कोई संदेह हो भी कि वसिष्ठ की स्तुति के ये जल वे ही हैं

इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥१॥
या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥२॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥३॥
यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥४॥ (ऋ०७-४९)

जो कि वामदेव के महत्वपूर्ण सूक्त के जल हैं, 'मधुमान् ऊर्मि, घृतस्य धारा' तो यह सदेह ऋषि वसिष्ठ के एक दूसरे सूक्त ७ ४७ से पूर्णतया दूर हो जाता है। ४९ वे सूक्त में उसने सक्षेप से दिव्य जलों के विषय में यह सकेत किया है कि वे मधुस्रावी है, 'मधुश्चुत', और यह वर्णन किया है कि देवता उनमें शक्ति के मद का आनद लेते है, 'ऊर्जं मदन्ति', इससे हम यह परिणाम निकाल सकते है कि मधु या मधुरता वह 'मधु' है जो कि 'सोम' है, आनद की मदिरा है, जिसका कि देवताओ को मद चढ़ा करता है। परतु ४७ वे सूक्त में वह अपने अभिप्राय को असदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देता है।

"हे जलो! उस तुम्हारी प्रधान लहर का जो कि इन्द्र का पेय है, जिसे कि देवत्व के अन्वेषको ने अपने लिये रचा है, उस पवित्र, अदूषित, निर्मलता की प्रवाहक (घृतप्रुषम्), मधुमय (मधुमन्तम्), तुम्हारी लहर का आज हम आनद ले सकें (१)। हे जलो! जलो का पुत्र (अग्नि), वह जो कि आशुकारी है, तुम्हारी उस अति मधुमय लहर की पालना करे, उस तुम्हारी लहर का जिसमें इन्द्र वसुओ सहित मद-मस्त हो जाता है, आज हम जो कि देवत्व के अन्वेषण में लगे हैं, आस्वादन कर पायें (२)। सौ शोधक चालनियो में से छानकर पवित्र की हुई, अपनी स्व-प्रकृति से ही मदकारक, वे दिव्य है और देवताओ की गति के लक्ष्यस्थान (उच्च समुद्र) को जाती हैं वे इन्द्र के कर्मों को सीमित नही करती, नदियो के लिये हवि दो जो कि निर्मलता से भरपूर हो, (घृतवत्) (३)। वे नदिया जिन्हे कि सूर्य ने अपनी किरणो से रचा है, जिनमें से इन्द्र ने एक गतिमय लहर को काटकर निकाला है, हमारे लिये उच्च हित (वरिव) को स्थापित करें। और तुम, हे देवो, सुख की अवस्थाओ के द्वारा सदा हमारी रक्षा करते रहो।(४)"*

---

*आपो य व प्रथम देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळ ।
त वो वय शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुष मधुमन्त वनेम ।।१।।
तमूर्मिमापो मधुमत्तम वोऽपां नपादवत्वाशुहेमा ।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य ।।२।।
शतपवित्रा स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथ ।

यहां हमें वामदेव की 'मधुमान् ऊर्मि', मधुमय मदजनक लहर मिलती है और यह साफ-साफ कहा गया है कि यह मधु, यह मधुरता, सोम है, इन्द्र का पेय है। आगे चलकर 'शतपवित्रा' इस विशेषण के द्वारा यह और भी स्पष्ट हो गया है, क्योंकि यह विशेषण वैदिक भाषा में केवल 'सोम' को ही सूचित कर सकता है, और हमें यह भी ध्यान में लाना चाहिये कि यह विशेषण स्वयं नदियों ही के लिये है और यह कि मधुमय लहर इन्द्र द्वारा उन नदियों में से बहाकर लायी गयी है, जब कि इसका मार्ग पर्वतों पर वज्र द्वारा वृत्र का वध करके काटकर निकाला गया है। फिर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये जल सात नदियां है, जो कि इन्द्र द्वारा 'वृत्र' के, अवरोधक के, आच्छादक के, पंजे से छुड़ाकर लायी गयी है और नीचे को बहाकर पृथ्वी पर भेजी गयी है।

ये नदियां क्या हो सकती हैं जिनकी कि लहर 'सोम' की मदिरा से भरपूर है; 'घृत' से भरपूर है, 'ऊर्ज्' से, शक्ति से, भरपूर है ? ये जल क्या है जो कि देवों की गति के लक्ष्य की ओर प्रवाहित होते है, जो कि मनुष्य के लिये उच्च हित को स्थापित करते हैं ? पंजाब की नदियां नहीं, वैदिक ऋषियों की मनोवृत्ति में जंगलियों जैसी असंबद्धता और विक्षिप्त चित्तों की सी असंगति रहती थी, इस प्रकार की कोई जंगली से जंगली कल्पना भी हमें इसके लिये प्रेरित नहीं कर सकती कि हम उनके इस प्रकार के वचनों पर अपना इस प्रकार का अभिप्राय बना सके। स्पष्ट ही ये सत्य और सुख के जल है जो कि उच्च, परम समुद्र से प्रवाहित होते हैं। ये नदियां पृथ्वी पर नहीं, बल्कि द्युलोक में बहती है, 'वृत्र', वह जो कि अवरोधक है, आच्छादक है, उस पार्थिव-चेतना पर जिसमें कि हम मर्त्य रहते हैं, इनके बहकर आने को रोके रखता है, जब तक कि 'इन्द्र', देवरूप मन, अपने चमकते हुए विद्युद्वज्रों से इस आच्छादक का वध नहीं कर देता और उस पार्थिव चेतना के शिखरों पर काट-काटकर वह मार्ग नहीं बना देता जिसपर कि नदियों को बहकर आना होता है। वैदिक

ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत ॥३॥
या सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥४॥ (ऋ. ७-४७)

ऋषियों के विचार और भाषा की केवल एकमात्र इसी प्रकार की व्याख्या युक्ति-युक्त, सगत और बुद्धिगम्य हो सकती है। बाकी जो रहा उसे वसिष्ठ हमारे लिये पर्याप्त स्पष्ट कर देता है, क्योंकि वह कहता है कि ये वे जल हैं जिन्हें कि सूर्य के अपनी किरणो द्वारा रचा है और जो कि पार्थिव गतियो के विसदृश, 'इन्द्र' के, परम मन के, व्यापारों को सीमित या क्षीण नहीं करते। दूसरे शब्दो में ये महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्' के जल हैं और जैसा कि हमने सर्वत्र देखा है कि यह सत्य सुख को रचता है, वैसा ही यहा हम पाते हैं कि ये सत्य के जल, 'ऋतस्य धारा', जैसा कि दूसरे सूक्तों में उन्हें स्पष्ट ही कहा गया है (उदाहरणार्थ ५ १२ २ में कहा है, 'ओ सत्य के द्रष्टा, केवल सत्य का ही दर्शन कर, सत्य की अनेक धाराओं को—ऋतस्य धारा—तोडकर निकाल')[1]—मनुष्य के लिये उच्च हित (वरिव) को स्थापित करते हैं और उच्च हित है सुख,[2] दिव्य सत्ता का आनद।

ं तो भी न इन सूक्तों में, न ही वामदेव के सूक्त में सात नदियो का कोई सीधा उल्लेख पाया है। इसलिये हम विश्वामित्र के प्रथम सूक्त (३ १) पर आते हैं जो कि अग्नि के प्रति कहा गया है और इसकी दूसरी से लेकर चौदहवी ऋचा तक को देखते हैं। यह एक लबा सदर्भ है, परन्तु यह पर्याप्त आवश्यक है कि इसे उद्धृत किया जाय और इस सारे का ही अनुवाद किया जाय।

प्राञ्च यज्ञ चकृम वर्धतां गी । समिद्भिरग्निं नमसा दुवस्यन्।
दिव शशासुर्विदथा कवीना । गृत्साय चित् तवसे गातुमीषु ॥२॥
मयो दधे मेधिर पूतदक्ष । दिव सुबन्धुर्जनुषा पृथिव्या ।
अविन्दमु दर्शतमप्स्वन्त । देवासो अग्निमपसि स्वसॄणाम् ॥३॥
अवर्धयन् त्सुभग सप्त यह्वी । श्वेत जज्ञानमरुष महित्वा ।
शिशु न जातमभ्यारुरश्वा । देवासो अग्नि जनिमन् वपुष्यन् ॥४॥
शुक्रेभिरङ्गै रज आततन्वान् । क्रतु पुनान कविभि पवित्रै ।
शोचिर्वसान पर्यायुरपा । श्रियो मिमीते बृहतीरनूना ॥५॥

---

[1] ऋत चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि ऋतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वी ।
[2] निःसंदेह 'वरिव' शब्द का प्राय अभिप्राय 'सुख' होता भी है।

सम्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः।
सना अत्र युवतय. सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः ॥६॥
स्तीर्णा अस्य संहतो विश्वरूपा घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्।
अस्युरत्र धेनवः पिन्वमाना मही दस्मस्य मातरा समीची ॥७॥
बभ्राणः सूनो सहसो व्यद्यौद् दधानः शुक्रा रभसा वपूंषि।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन ॥८॥
पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद व्यस्य धारा असृजद् वि धेनाः।
गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभि दिवो यह्वीभिर्न गुहा बभूव ॥९॥
पितुश्च गर्भं जनितुश्च बभ्रे पूर्वीरेको अधयत् पीप्यानाः।
वृष्णे सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्येऽ नि पाहि ॥१०॥
उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धाऽपो अग्निं यशसः सं हि पूर्वीः ।
ऋतस्य योनावशयद् दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम् ॥११॥
अक्रो न बभ्रिः समिथे महीना दिदृक्षेयः सूनवे भाऋजीकः।
उदुस्रिया जनिता यो जजानाऽपा गर्भो नृतमो यह्वो अग्नि ॥१२॥
अपा गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम्।
देवासश्चिन्मनसा स हि जग्मु. पनिष्ठ जात तवस दुवस्यन् ॥१३॥
बृहन्त इद् भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः।
गुहेव वृद्ध सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृत दुहाना ॥१४॥

"हमने (प्राञ्च) प्रकृष्टतम की तरफ आरोहण करने के लिये (यज्ञ चकृम) यज्ञ किया है, हम चाहते हैं कि (गी) वाणी (वर्धता) वृद्धि को प्राप्त हो। उन्होंने [दिवों नें] (अग्नि) 'अग्नि' को, (समिद्भिः) उसकी ज्वालाओ की प्रदीप्ति के साथ, (नमसा) आत्मसमर्पण के नमस्कार के साथ, (दुवस्यन्) उसके व्यापारों में प्रवृत्त किया है, उन्होने (कवीना) द्रष्टाओं के (विदथा) ज्ञानों को (दिव) द्यौ मे (शशासु) अभिव्यक्त किया है और वे उस [अग्नि] के लिये (गातु) एक मार्ग को (ईषु) चाहते है, (तवसे) इसलिये कि उसकी शक्ति प्रकाशित हो सके (गृत्साय चित्), इसलिये कि उसकी शब्द को पाने की इच्छा पूरी हो सके।(२)

"(मेधिर.) मेधा से भरपूर (पूतदक्ष) शुद्ध विवेकवाला (जनुषा) अपने जन्म से (दिव:) द्यौ का (पृथिव्या.) और पृथिवी का (सुबन्धु) पूर्ण सखा या पूर्ण निर्माता वह [अग्नि] (मय) सुख को (दधे) स्थापित करता है, (देवास) देवों ने (अप्सु अन्त:) 'जलों' के अंदर (स्वपसा अपसि) 'वहिनों' की क्रिया के अंदर (दर्शत) सुदृश्य रूप में (अग्नि) 'अग्नि' को (अविन्दन् उ) पा लिया। (३)

"(सप्त) सात (यह्वी:) शक्तिशाली [नदियों] ने उसे [अग्नि को] (अवर्धयन्) प्रवृद्ध किया (सुभग) उसे जो कि पूर्ण रूप से सुख का उपभोग करता है, (श्वेत जज्ञान) जो कि अपने जन्म से सफेद है, (अरुष महित्वा) बड़ा होकर अरुण हो जाता है। वे [नदियां] (अभ्यारु) उसके चारों ओर गयीं और उन्होंने उसके लिये प्रयत्न किया, (शिशु न जात अश्वा) उन्होंने जो कि नवजात शिशु के पास घोड़ियों के तुल्य थीं, (देवास) देवों ने (अग्नि) अग्नि को (जनिमन्) उसके जन्मकाल में (वपुष्यन्) शरीर दिया। (४)

"(पवित्रै कविभि) पवित्र कवियों [ज्ञानाधिपतियों] की सहायता से (क्रतु) कर्मपरक संकल्प को (पुनान) पवित्र करते हुए उसने [अग्नि ने] (शुक्रै अंगै) अपने साफ, चमकीले अंगों से (रज) मध्यलोक को (आततन्वान्) ताना और रचा, (अपा आयु परि) जलों के समस्त जीवन के चारों ओर (शोचि वसान) चोगे की तरह प्रकाश को पहने हुए उसने (श्रिय) अपने अंदर कान्तियों को (मिमीते) रचा जो कि (बृहती) विशाल तथा (अनूना) न्यूनतारहित थीं।(५)

"अग्नि ने (दिव यह्वी) द्युलोक की शक्तिशाली [नदियों] के इधर-उधर (सीं वव्राज) सर्वत्र गति की जो [नदियां] (अनदती) निगलती नहीं (अदब्धा) न ही वे आक्रान्त होती हैं, (अवसाना) वे वस्त्र पहने नहीं थीं, (अनग्ना) न ही वे नगी थीं। (अत्र) यहां (सना) उन शाश्वत (युवतय) और सदा युवती देवियों ने (सयोनी) जो कि समान गर्भ से उत्पन्न हुई हैं, (सप्त वाणी) जो कि सात वाणी-रूप थीं (एक गर्भं दधिरे) एक शिशु को गर्भरूप से धारण किया है। (६)

"(अस्य) इसके (व्रहृत) पुञ्जीभूत समुदाय, (विश्वरूपा) जो कि विश्वरूप

थे, (घृतस्य योनौ) निर्मलता के गर्भ में (मधूनां स्रवथे) मधुरता के प्रवाह में (स्तीर्णाः) फैले पड़े थे, (अत्र) यहां (धेनवः) प्रीणयित्री नदिया (पिन्वमानाः) अपने-आपको पुष्ट करती हुई (अस्थुः) स्थित हुई और (दस्मस्य) कार्य को पूरा करनेवाले देव [अग्नि] की (मातरा) दो माताएं (मही) विशाल तथा (समीची) समस्वर हो गयी। (७)

"(बभ्राणः) उनसे धारण किया हुआ (सहसः सूनो) ओ शक्ति के पुत्र! (शुक्रा रभसा वपूंषि दधानः) चमकीले और हर्षोन्मादी शरीरो को धारण किये हुए तू (व्यद्यौत्) विद्योतमान हुआ। (मधुनः) मधुरता की (घृतस्य) निर्मलता की (धाराः) धाराए (श्चोतन्ति) निकलकर प्रवाहित हो रही है, (यत्र) जहा कि (वृषा) समृद्धि का 'बैल' (काव्येन) ज्ञान के द्वारा (वावृधे) बढकर बड़ा हुआ है। (८)

"(जनुषा) जन्म लेते ही उसने (पितुः चित्) पिता के (ऊधः) समृद्धि के स्रोत को (विवेद) ढूढ निकाला और उसने (अस्य) उस [पिता] की (धाराः) धाराओ को (वि असृजत्) खुला कर दिया, उस [पिता] की (धेनाः) नदियो को (वि [असृजत्]) खुला कर दिया। (शिवेभिः सखिभिः) अपने हितकारी सखाओ के द्वारा और (दिवः यह्वीभिः) आकाश की महान् [नदियों] के द्वारा उसने (गुहा चरन्तं) सत्ता के रहस्यमय स्थानो में विचरते हुए उसे [पिता को] पा लिया (न गुहा बभूव) तो भी स्वय वह उसकी रहस्यमयता के अदर नही खो गया। (९)

"उसने (पितुः च) पिता के और (जनितुः च) जनिता, उत्पन्न करनेवाले के (गर्भं) गर्भस्थ शिशु को (बभ्रे) धारण किया, (एकः) उस एक ने (पूर्वीः) अपनी अनेक माताओ का (पीप्यानाः) जो कि वृद्धि को प्राप्त हो रही थी, (अधयत्) दुग्धपान किया, सुखोपभोग प्राप्त किया। (अस्मै शुचये वृष्णे) इस पवित्र 'पुरुष' में [के लिये] *(मनुष्ये उभे) मनुष्य के अदर रहनेवाली ये जो दो* शक्तिया [द्यौ और पृथिवी] (सपत्नी सबधू) एकसमान पतिवाली, एक समान प्रेमीवाली होती हैं, ([उभे] निपाहि) उन दोनो की तू रक्षा कर। (१०)

"(अनिबाधे उरौ) निर्बाध विस्तीर्णता में (महान्) महान् वह (ववर्ध) वृद्धि

को प्राप्त हुआ (हि) निश्चय से (पूर्वी आप:) अनेक जलों ने (यशाम:) यशस्विता के साथ (अग्नि) अग्नि को (स) सम्यक्तया प्रवृद्ध किया। (ऋतस्य योनौ) सत्य के स्रोत में वह (अशयत्) स्थित हुआ, (दमूना) वहा उसने अपना घर बना लिया, (अग्नि) अग्नि ने (जामीना स्वसृणा अपसि) अविभक्त हुई बहिनों के व्यापार में। (११)

"(अक्र) वस्तुओं में गति करनेवाला (न) और (बभ्रि) उन्हें थामनेवाला वह (महीनाम्) महान् [नदियों] के (समिथे) सगम में (दिदृक्षेय) दर्शन की इच्छावाला (सूनवे) सोम रस के अभिषोता के लिये (भाऋजीक) अपनी दीप्तियों में ऋजु (य जनिता) वह जो कि किरणों का पिता था, उसने अब (उस्रिया) उन किरणों को (उत् जजान) उच्चतर जन्म दे दिया,-(अग्नि) उस अग्नि ने (अपा गर्भ) जो कि जलों का गर्भजात था, (यह्व) शक्तिशाली और (नृतम) सबसे अधिक बलवान् था। (१२)

"(अपा) जलों के और (ओषधीना) ओषधियों के, पृथ्वी के उपचयों के (दर्शत) सुदृश्य (गर्भं) गर्भजात को (वना) आनद की देवी ने अब (विरूप जजान) अनेक रूपो में पैदा कर दिया, (सुभगा) उसने जो कि सारूप्य से सुखकारी है। (देवास चित्) देवता भी (मनसा) मन के द्वारा (स जग्मु हि) उसके चारों ओर एकत्रित हुए और (दुवस्यन्) उन्होंने उसे उसके कार्य में लगाया (पनिष्ठ तवस जातम्) जो कि प्रयत्न करने के लिये बडा बलवान् और बडा शक्तिशाली होकर पैदा हुआ था। (१३)

"(बृहन्त इत भानव) वे विशाल दीप्तियां (अग्निम्) अग्नि के साथ (सचन्त) समक्त हो गयीं, जो अग्नि कि (भाऋजीक) अपने प्रकाश में ऋजु था और वे (विद्युत न शुभ्रा) चमकीली विद्युतो के समान थी, (अपारे ऊर्वे) अपार विस्तार में (स्वे सदसि अन्त) अपने स्वकीय स्थान में, अदर (गुहेव) सत्ता के गुह्य स्थानों में मानो गुहा में (वृद्ध) बढते हुए उस [अग्नि] से उन्होंने (अमृत दुहाना) अमरता को दुहकर निकाला। (१४)"

इस सदर्भ का कुछ भी अर्थ क्यों न हो—और यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि इसका कोई रहस्यमय अभिप्राय है और यह केवल कर्मकाण्डी जगलियों की याज्ञिक स्तुति-

मात्र नही हैं,–सात नदियां, जल, सात बहिनें यहां पंजाब की सात नदियां नही हो सकती। वे जल जिनमें कि देवो ने मुद्श्य अग्नि को खोजकर पाया है, पार्थिव और भौतिक धाराए नही हो सकती; यह अग्नि जो कि ज्ञान द्वारा प्रवृद्ध होता है और सत्य के स्रोत मे अपना घर तथा विश्रामस्थान बनाता है, जिसकी कि आकाश और पृथ्वी दो स्त्रिया तथा प्रेमिकाए है, जो कि दिव्य जलो द्वारा अपने निजी घर, निर्बाध विस्तीर्णता के अंदर प्रवृद्ध हुआ है और उस अपार असीमता में निवास करता हुआ जो प्रकाशयुक्त देवों को परम अमरता प्रदान करता है, भौतिक आग या देवता नही हो सकता। अन्य बहुत से सदर्भो की भाति ही इस संदर्भ में वेद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का रहस्यमय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक स्वरूप अपने-आपको प्रकट कर देता है, यह नही कि ऊपरी सतह के नीचे रहकर, यह नही कि निरे कर्मकाण्ड के आवरण के पीछे छिपकर, किंतु खुले तौर पर, बलपूर्वक–बेशक एक प्रच्छन्न रूप मे, पर वह प्रच्छन्नता ऐसी जो कि पारदर्शक है, जिससे कि वेद का गुह्य सत्य यहा, विश्वामित्र के सूक्त की नदियो के समान, "न आवृत, न ही नग्न" दिखायी देता है।

हम देखते है कि ये जल वे ही है जो कि वामदेव के सूक्त के और वसिष्ठ के सूक्त के है, 'घृत' और 'मधु' से इनका निकट सम्बन्ध है,–"घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्, श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य"; वे सत्य पर ले जाते है, वे स्वय सत्य का स्रोत है, वे निर्बाध और अपार विस्तीर्णता के लोक में तथा यहा पृथ्वी पर प्रवाहित होते है। उन्हें अलकाररूप मे प्रीणयित्री गौए (धेनव), घोडिया (अश्वा:) कहा गया है, उन्हे 'सप्त वाणी:', रचनाशक्ति रखनेवाली 'वाग्' देवी के सात शब्द कहा गया है,–यह 'वाक्' देवी है 'अदिति' की, परम प्रकृति की, अभिव्यंजक शक्ति जिसका कि 'गाय' रूप से वर्णन किया गया है, ठीक जैसे कि देव या पुरुष को वेद में 'वृषभ' या 'वृष्ण' अर्थात् 'बैल' कहा गया है। वे इसलिये सम्पूर्ण सत्ता के सात तार हैं, एक सचेतन सद्वस्तु के व्यापार की सात नदिया, धाराएं या रूप है।

हम देखेंगे कि उन विचारो के प्रकाश में जिन्हे कि हमने वेद के प्रारभ में ही मधुच्छन्दस् के सूक्त में पाया है और उन प्रतीकात्मक व्याख्याओं के प्रकाश में

जो कि अब हमें स्पष्ट होने लगी है, यह सदर्भ जो कि इतना अधिक अलकारमय, रहस्यमय, पहेली सा प्रतीत होता है, बिल्कुल ही सरल और सगत लगने लगता है, जैसे कि वस्तुत ही वेद के सभी सदर्भ जो कि पहिले लगभग अबुद्धिगम्य से प्रतीत होते है तब सरल और सगत लगने लगते हैं जब कि उनका ठीक मूलसूत्र मिल जाता है। हमें बस केवल अग्नि के आध्यात्मिक व्यापारभर को नियत करना है, उस अग्नि के जो अग्नि कि पुरोहित है, युद्ध करनेवाला है, कर्मकर्ता है, सत्य को पानेवाला है, मनुष्य के लिये आनन्द को अधिगत करानेवाला है, और अग्नि का वह आध्यात्मिक व्यापार हमारे लिये ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्निविषयक मधुच्छन्दस् के वर्णन द्वारा पहले से ही नियत हुआ हुआ है,—"*वह जो कर्मों में द्रष्टा का सकल्प है, जो सत्य है और नानाविध अन्त.प्रेरणा का जो महाधनी है।**" अग्नि है देव, सर्व-द्रष्टा, जो कि सचेतन शक्ति के रूप में व्यक्त हुआ है अथवा, आधुनिक भाषा में कहे तो, जो '*दिव्य-सकल्प*' या '*विश्व-सकल्प*' है, जो पहले गुहा में छिपा होता है और शाश्वत लोको का निर्माण कर रहा होता है, फिर व्यक्त होता है, 'उत्पन्न' होता है और मनुष्य के अन्दर सत्य तथा अमरत्व का निर्माण करता है।

इसलिये विश्वामित्र इस सूक्त में जो कहता है वह यह है कि देवता और मनुष्य आन्तरिक यज्ञ की अग्नियो को जलाकर इस दिव्य शक्ति (अग्निदेव) को प्रदीप्त कर लेते हैं, वे इसके प्रति अपने पूजन और आत्म-समर्पण के द्वारा इसे कार्य करने योग्य बना लेते है, वे आकाश में अर्थात् विशुद्ध मनोवृत्ति म, जिसका कि प्रतीक 'द्यौ' है, द्रष्टाओ के ज्ञानो को, दूसरे शब्दो में जो मन से अतीत है उस सत्य-चेतना के प्रकाशो को, अभिव्यक्त करते है और यह वे इसलिये करते हैं ताकि वे इस दिव्य शक्ति के लिये मार्ग बना सके, जो कि अपने पूरे बल के साथ, सच्ची आत्माभिव्यक्ति के शब्द को निरन्तर पाना चाहती हुई, मन से परे पहुचने की अभीप्सा रखती है। यह दिव्य सकल्प अपनी सब क्रियाओ म दिव्य ज्ञान के रहस्य को रखता हुआ, 'कविक्रतु', मनुष्य के अन्दर मानसिक और भौतिक

---

*कविक्रतु सत्यश्चित्रश्रवस्तम।

चेतना का, 'दिव पृथिव्या', मित्रवत् सहायक होता है या उसका निर्माण करता है, बुद्धि को पूर्ण करता है, विवेक को शुद्ध करता है, जिससे कि वे विकसित हो-कर "द्रष्टाओ के ज्ञानो" को ग्रहण करने योग्य हो जाते है और उस अतिचेतन सत्य के द्वारा जो कि इस प्रकार हमारे लिये चेतनागम्य कर दिया जाता है, वह दृढ रूप से हममे आनन्द को स्थापित कर देता है, (ऋचा २,३)।

इस सदर्भ के अवशिष्ट भाग में इस दिव्य सचेतन-शक्ति, 'अग्नि', के मर्त्य और भौतिक चेतना से उठकर सत्य तथा आनन्द की अमरता की ओर आरोहण करने का वर्णन है, जो अग्नि कि मर्त्यो मे अमर है, जो कि यज्ञ में मनुष्य के सामान्य सकल्प और ज्ञान का स्थान लेता है। वेद के ऋषि मनुष्य के लिये पाच जन्मो का वर्णन करते है, प्राणियो के पाच लोको का जहा कि कर्म किये जाते है, "पचजना, पचकृष्टी, या पचक्षिती।" द्यौ और पृथिवी विशुद्ध मानसिक और भौतिक चेतना के द्योतक है, उनके बीच में है अन्तरिक्ष, प्राण-मय या वातमय चेतना का मध्यवर्ती या सयोजक लोक। द्यौ और पृथिवी है 'रोदसी', हमारे दो लोक, पर इनको हमने पार कर जाना है, क्योकि तभी हम उस अन्य लोक में प्रवेश पा सकते है जो कि विशुद्ध मन से अतिरिक्त एक और ऊपर का लोक है—बृहत्, विशाल लोक है जो कि असीम चेतना, 'अदिति', का आधार, बुनियाद (बुध्न) है। यह विशालता है वह सत्य जो कि सर्वोच्च त्रिविध लोक को, 'अग्नि' के, 'विष्णु' के उन उच्चतम पदो या स्थानो (पदानि, सदासि) को, माता के गौ के, 'अदिति' के उन परम 'नामो' को थामता है। यह विशालता या सत्य 'अग्नि' का निजी या वास्तविक स्थान अथवा घर कहा गया है, 'स्व दमम् स्व सद'। 'अग्नि' को इस सूक्त म पृथिवी से अपने स्व-कीय स्थान की ओर आरोहण करता हुआ वर्णन किया गया है।

इस दिव्य शक्ति को देवो न जलो में, बहिनो की क्रिया मे, सुदृश्य हुआ पाया है। ये जल सत्य के सप्तरूप जल है, दिव्य जल है, जो कि हमारी सत्ता के उच्च शिखरो से इन्द्र द्वारा नीचे लाये गय है। पहले यह दिव्य शक्ति पार्थिव उपचयो, 'ओषधी' के अन्दर, उन वस्तुओ के अन्दर जो कि पृथ्वी की गर्मी (ओष) को धारे रखती है, छिपी होती है और एक प्रकार की शक्ति के द्वारा,

दो 'अरणियों'—पृथिवी और आकाश—के घर्षण द्वारा इसे प्रकट करना होता है। इसलिये इसे पार्थिव उपचयों (ओषधियों) का पुत्र और पृथिवी तथा द्यौ का पुत्र कहा गया है, इस अमर शक्ति को मनुष्य बड़े परिश्रम और बड़ी कठिनाई से भौतिक सत्ता पर पवित्र मन की क्रियाओं से पैदा करता है। परन्तु *दिव्य जलों के अन्दर 'अग्नि' सुदृश्य रूप में पाया गया है (ऋचा ३ का उत्तरार्ध)* और अपने सारे बलसहित तथा अपने सारे ज्ञानसहित और अपने सारे सुखोपभोग-सहित आसानी से पैदा हो गया है, वह पूर्णतया सफेद और शुद्ध है, अपनी *क्रिया से वह अरुण हो जाता है जब कि वह प्रवृद्ध होता है।* उसके जन्म से ही देवता उसे शक्ति, तेज और शरीर दे देते हैं, सात शक्तिशाली नदियां उसके सुख में उसे प्रवृद्ध करती हैं, वे इस महिमाशाली नवजात शिशु के चारों ओर गति करती हैं और उसपर प्रयत्न करती हैं, जैसे कि घोड़ियां, 'अश्वा' (ऋचा ४)।

नदियां जिनको कि बहुधा 'धेनवः' अर्थात् 'प्रीणयित्री गौएं' यह नाम दिया गया है, यहां 'अश्वा' अर्थात् 'घोड़ियां' इस नाम से वर्णित हुई हैं, क्योंकि जहां 'गौ' ज्ञानरूपिणी चेतना का एक प्रतीक है, वहां 'अश्व', घोड़ा, प्रतीक है शक्तिरूपिणी चेतना का। 'अश्व', घोड़ा, जीवन की क्रियाशील शक्ति है, और नदियां जो कि पृथिवी पर अग्नि के चारों ओर प्रयत्न करती हैं, जीवन के जल हो जाती हैं, उस जीवन के, प्राणमय क्रिया या गति के, उस 'प्राण' के जो (प्राण) कि गति करता है और क्रिया करता है और इच्छा करता है तथा भोगता है। अग्नि स्वयं *भौतिक ताप या शक्ति के रूप से प्रारम्भ होता है, फिर अपने-आपको घोड़े के रूप* में प्रकट करता है और तभी वह फिर द्यौ की अग्नि बन पाता है। उसका पहला कार्य है कि जलों के शिशु के रूप में वह मध्यलोक को, प्राणमय या क्रियाशील लोक को (रज आततन्वान्), अपने पूर्ण रूप और विस्तार और पवित्रता को देवे। अपने विशुद्ध, चमकीले अंगों से मनुष्य के अंदर व्याप्त होता हुआ, इसकी अन्त-प्रवृत्तियों को और इच्छाओं को, कर्मों में इसके पवित्र हुए संकल्प को (क्रतुम्), अतिचेतन सत्य और ज्ञान की पवित्र शक्तियों के द्वारा, 'कविभिः पवित्रैः', ऊपर उठाता हुआ वह मनुष्य के वातमय जीवन को पवित्र करता है। इस प्रकार वह जलों के समस्त जीवन के चारों ओर अपनी विशाल कान्तियों को ओढ़ता है, धारण

करता है, जो कातिया कि अब 'बृहती' विशाल हो गयी है, वासनाओ और अन्ध-प्रेरणाओ की जीर्ण, शीर्ण तथा सीमित गतिमात्र नही रही है। (ऋचा ४,५)

सप्तविध जल इस प्रकार ऊपर उठते हैं और विशुद्ध मानसिक क्रियाए, द्युलोक की शक्तिशाली नदिया (दिव यह्वी) बन जाते हैं। वे यहा अपने-आपको प्रथम शाश्वत सदा-युवती शक्तियो के रूप में, दिव्य मन की सात वाणियो या आधारभूत रचनाशील ध्वनिओ 'सप्त वाणी' के रूप में प्रकट करती है, जो कि यद्यपि भिन्न धाराए है, पर उनका उद्गम एक ही है—क्योकि वे सब एक ही परा-चेतन सत्य के गर्भ में से निकली है। विशुद्ध मन का यह जीवन वातमय जीवन के सदृश नही है, जो कि अपनी मर्त्य सत्ता को स्थिर रखने के लिये अपने उद्देश्यो को निगलना रहता है, इसके जल निगलते नही, पर वे विनष्ट, विफल भी नही होते। वे हैं शाश्वत सत्य जो कि मानसिक रूपो के एक पारदर्शक आवरण में ढके हुए हैं, इसलिये यह कहा गया है, न वे वस्त्र पहने हुए हैं न ही नग्न हे (ऋचा ६)।

पर यह अतिम अवस्था नही है। यह शक्ति उठकर इस मानसिक निर्मलता के (घृतस्य) गर्भ या जन्मस्थान क अदर चली जाती है, जहा कि जल दिव्य मधुरता की धाराओ के रूप मे प्रवाहित होते हैं (स्रवथे मधूनाम्), वहा जिन रूपो को यह धारण करती है, वे विश्वरूप हैं विशाल और असीम चेतना के पुजीभूत समुदाय है। परिणामत निम्नतर लोक की जो प्रीणयित्री नदिया हैं, वे इस अव-रोहण करती हुई उच्चतर मधुरता के द्वारा पुष्ट हो जाती है, और मानसिक तथा भौतिक चेतनाए जो कि सर्वसाधक सकल्प की दो प्रथम माताए हैं, सत्य के इस प्रकाश द्वारा, असीम सुख से आनेवाले इस पोषण के द्वारा अपनी समग्र विशालता के साथ पूर्ण रूप से सम तथा समस्वर हो जाती है। वे 'अग्नि की पूर्ण शक्ति को, उसकी दीप्तिया की चमक को उसके व्यापक रूपो विश्वरूपो की महिमा और हर्षोन्माद को धारण करती हैं। क्योकि जहा कि स्वामी 'पुरुष', 'समृद्धि का बैल', अतिचेतन सत्य के ज्ञान द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है वहा सदा ही निर्मलता की धाराए और सुख की धाराए बहा करती है, (ऋचा ७, ८)।

सब वस्तुओ का 'पिता' है स्वामी और पुरुष, वह वस्तुओ के गुह्य स्रोत के अदर,

अतिचेतन के अंदर छिपा हुआ है, 'अग्नि' अपने साथी देवों के साथ और सप्त-विध 'जलों' के साथ अतिचेतन के अदर प्रवेश करता है, पर इसके कारण हमारी सचेतन सत्ता से बिना अदृश्य हुए ही वह वस्तुओं के 'पिता' के मधुमय ऐश्वर्य के स्रोत को पा लेता है और उन्हें पाकर हमारे जीवन पर प्रवाहित कर देता है। वह गर्भ धारण करता है और वह स्वय ही पुत्र—पवित्र 'कुमार', पवित्र पुरुष, वह एक, अपने विश्वमय रूप में आविर्भूत मनुष्य का अन्तःस्थ आत्मा—बन जाता है; मनुष्य के अदर रहनेवाली मानसिक और भौतिक चेतनाएं उसे अपने स्वामी और प्रेमी के रूप में स्वीकार करती हैं; परतु यद्यपि वह एक है, तो भी वह नदियों की, बहुरूप विराट् शक्तियों की अनेकविध गति का आनद लेता है, (ऋचा ९,१०)।

उसके बाद हमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह असीम जिसके अदर कि वह प्रविष्ट हुआ है और जिसके अदर वह बढता है, जिसमें कि अनेक 'जल' विजय-शालिनी यशस्विता के साथ अपने लक्ष्य पर पहुचते हुए (यशस) उसे प्रवृद्ध करते हैं, वह निर्बाध विशालता है, जहा कि 'सत्य' पैदा हुआ है, जो कि अपार निःसीमता है, उसका निजी स्वाभाविक स्थान है जिसमें कि अब वह अपना घर बनाता है। वहा 'सात नदियां', 'बहिनें', यद्यपि उनका उद्गम वही एक है जो कि पृथिवी पर और मर्त्य जीवन में था, पृथक्-पृथक् होकर अब कार्य नहीं करतीं, बल्कि इसके विपरीत वे अविच्छेद्य सहेलियां बन जाती हैं (जामीनाम् अपसि स्वसृणाम्)। इन शक्तिशाली नदियों के उस पूर्ण सगम पर 'अग्नि' सब वस्तुओं में गति करता है और सब वस्तुओं को थामता है; उसके दर्शन (दृष्टि) की किरणें पूर्णतया ऋजु, सरल होती हैं, अब वे निम्नतर कुटिलता से प्रभावित नहीं होतीं; वह जिस-मेंसे कि ज्ञान की किरणें, जगमगाती हुई गौएं, पैदा हुई थीं, अब उन्हें (किरणों या गौओं को) यह नया, उच्च और सर्वश्रेष्ठ जन्म दे देता है; अर्थात् वह उन्हें दिव्य ज्ञान में, अमर चेतना में परिणत कर देता है, (ऋचा ११, १२)।

यह भी उसका अपना ही नवीन और अतिम जन्म है। वह जो कि पृथिवी के उपचयों से शक्ति के पुत्र के रूप में पैदा हुआ था, वह जो कि जलों के शिशु के रूप में पैदा हुआ था अब अपार, असीम में, 'सुख की देवी' के द्वारा, उसके द्वारा जो कि समग्र रूप से सुख ही सुख है अर्थात् दिव्य सचेतन आनन्द

के द्वारा, अनेक रूपो मे जन्म लेता है। देवता या मनुष्य के अदर की दिव्य शक्तिया मन का एक उपकरण के तौर पर प्रयोग करके वहा उसके पास पहुचती है, उसके चारो ओर एकत्र हो जाती है, तथा इस नवीन, शक्तिशाली और सफलतादायक जन्म में उसको जगत् के महान् कार्य में लगाती है। वे, उस विशाल चेतना की दीप्तिया, इस दिव्य शक्ति के साथ ससक्त होती है जो कि इसकी चमकीली बिजलियो के समान लगती है और उसमेंसे जो कि अतिचेतन में, अपार विशालता में, अपने निजी घर में रहता है, वे मनुष्य के लिये अमरता को दुहती है, ले आती है। (१३, १४)

तो यह है अलकारो के पर्दे के पीछे छिपा हुआ गभीर, सगत, प्रकाशमय अर्थ जो कि सात नदियो के, जलो के, पाच लोको के, 'अग्नि' के जन्म तथा आरोहण के वैदिक प्रतीक का वास्तविक आशय है, जिसको कि इस रूप में भी प्रकट किया गया है कि यह मनुष्य की तथा देवताओ की–जिनकी कि प्रतिकृति मनुष्य अपने अन्दर बनाता है–ऊर्ध्वमुख यात्रा है जिसमें वह सत्ता की विशाल पहाडी के सानु से सानु तक (सानो सानुम्) पहुचता है। एक बार यदि हम इस अर्थ को प्रयुक्त कर ले और 'गौ' के प्रतीक तथा 'सोम' के प्रतीक के वास्तविक अभिप्राय को हृदयगम कर ले और देवताओ के आध्यात्मिक व्यापारो के विषय में ठीक-ठीक विचार बना ले, तो इन प्राचीन वेदमत्रो में जो ऊपर से दीखनेवाली असगतिया, अस्पष्टताए तथा क्लिष्ट क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है वे सब क्षण भर मे लुप्त हो जाती है। वहा स्पष्ट रूप में, बडी आसानी के साथ, बिना खीचातानी के प्राचीन रहस्यवादियो का गभीर और उज्ज्वलवाद, वेद का रहस्य, अपने स्वरूप को खोल देता है।

तेरहवां अध्याय

उषा की गौएं

वेद की सात नदियों को, जलों को, 'आप' को वेद की आलंकारिक भाषा में अधिकतर सात माताएं या सात पोषक गौएं, 'सप्त धेनव', कहकर प्रगट किया गया है। स्वयं 'अप' शब्द में ही दो अर्थ गूढ़ रूप से रहते हैं, क्योंकि 'अप्' धातु के मूल में केवल बहना अर्थ ही नहीं है जिससे कि बहुत सम्भव है जलों का भाव लिया गया है किंतु इसका एक और अर्थ 'जन्म होना' 'जन्म देना' भी है, जैसे कि हम सन्तानवाचक 'अपत्य' शब्द में और दक्षिण भारत के पिता अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'अप्प' शब्द में पाते हैं। सात जल सत्ता के जल हैं, ये वे माताएं हैं जिनसे सत्ता के सब रूप पैदा होते हैं। परन्तु और प्रयोग भी हमें मिलते हैं—'सप्त गावः', सात गौएं या सात ज्योतियां और 'सप्तगु' यह विशेषण अर्थात् वह जिसमें सात किरणें रहती हैं। गु (गव) और गौ (गावः) ये दोनों आदि से अन्त तक सारे वैदिक मन्त्रों में दो अर्थों में आये हैं, गाय और किरणें। प्राचीन भारतीय विचार-धारा के अनुसार सत्ता और चेतना दोनों एक दूसरे के रूप थे। और अदिति को, जो वह अनन्त सत्ता है जिससे कि देवता उत्पन्न हुए हैं और जो अपने सात नामों और स्थानों (धामानि) के साथ माता के रूप में वर्णित की गयी है,—यह भी माना गया है कि वह अनन्त चेतना है, गौ है या वह आद्या ज्योति है जो सात किरणों, 'सप्त गावः', में व्यक्त होती है। इसलिये सत्ता के सप्त रूप होने के विचार को एक दृष्टिकोण से तो समुद्र से निकलनेवाली नदियों, 'सप्त धेनवः', के अलंकार में चित्रित कर दिया गया है और दूसरी दृष्टि के अनुसार इसे सबको रचनेवाले पिता, सूर्यसवितृ, की सात किरणों, 'सप्त गावः', के अलंकार का रूप दे दिया है।

गौ का अलंकार वेद में आनेवाले सब प्रतीकों में सबसे अधिक महत्त्व का है। कर्मकाण्डी के लिये 'गौ' का अर्थ भौतिक गाय मात्र है, इसमें अधिक कुछ नहीं,

वैसे ही जैसे उसके लिये इसके साथ आनेवाले 'अश्व' शब्द का अर्थ केवल भौतिक घोडा ही है, इससे अधिक इसमें कुछ अभिप्राय नही है, अथवा जैसे 'घृत' का अर्थ केवल पानी या घी है और 'वीर' का अर्थ केवल पुत्र या अनुचर या सेवक है। जब ऋषि उषा की स्तुति करता है–"गोमद् वीरवद् धेहि रत्नम् उषो अश्वावत्" उस समय कर्मकाण्डपरक व्याख्याकार को इस प्रार्थना में केवल उस सुखमय धन-दौलत की ही याचना दीखती है जो गौओ, वीर मनुष्यों (या पुत्रो) और घोडो से युक्त हो। दूसरी तरफ यदि ये शब्द प्रतीकरूप हों, तो इसका अभिप्राय होगा–"हमारे अन्दर आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करो जो ज्योति से, विजयशील शक्ति से और प्राणबल से भरपूर हो।" इसलिये यह आवश्यक है कि एक बार सभी स्थलो के लिये वेद-मन्त्रो में आनेवाले 'गौ' शब्द का अर्थ क्या है, इसका निर्णय कर लिया जाय। यदि यह सिद्ध हो जाय कि यह प्रतीकरूप है, तो निरन्तर इसके साथ आनेवाले–अश्व (घोड़ा), वीर (मनुष्य या शूरवीर), अपत्य या प्रजा (औलाद), हिरण्य (सोना), वाज (समृद्धि, या सायण के अनुसार, अन्न),–इन दूसरे शब्दो का अर्थ भी अवश्य प्रतीकरूप और इसका सजातीय ही होगा।

'गौ' का अलकार वेद में निरन्तर उषा और सूर्य के साथ सबद्ध मिलता है। इसे हम उस कथानक में भी पाते है जिसमें इन्द्र और बृहस्पति ने सरमा कुतिया, (देवशुनी) और अगिरस ऋषियों की मदद से पणियो की गुफा में से खोयी हुई गौओ को फिर से प्राप्त किया है। उषा का विचार और अङ्गिरसों का कथानक ये मानो वैदिक सप्रदाय के हृदयस्थानीय है और इन्हे करीब-करीब वेद के अर्थो के रहस्य की कुंजी समझा जा सकता है। इसलिये ये ही दोनो है जिनकी हमें अवश्य परीक्षा कर लेनी चाहिये, जिससे आगे अपने अनुसधान के लिये हमे एक दृढ़ आधार मिल सके।

अब उषासबधी वेद के सूक्तो को बिलकुल ऊपर-ऊपर से जाचने पर भी इतना बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उषा की गौएं या सूर्य की गौएं 'ज्योति' का प्रतीक है, इसके सिवाय और कुछ नही हो सकती। सायण खुद इन मत्रो का भाष्य करते हुए विवश होकर कही इस शब्द का अर्थ 'गाय' करता है और कही

'किरणें', हमेशा की अपनी आदत के अनुसार परस्पर सगति बैठाने की भी कुछ परवाह नहीं रखता, वही वह यह भी कह जाता है कि 'गौ' का अर्थ सत्यवाची 'ऋत' शब्द की तरह पानी होता है। असल में देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि इस शब्द से दो अर्थ लिये जाने अभिप्रेत है–(१) 'प्रकाश' इसका असली अर्थ है और (२) 'गाय' उसका स्थूल रूपक-रूप और शाब्दिक अलकारमय अर्थ है।

ऐसे स्थलो में गौओ का अर्थ 'किरणें' है इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता, जैसे कि इन्द्र के विषय में मधुच्छन्दस् ऋषि के सूक्त (१७) का तीसरा मत्र, जिसमें कहा है–'इन्द्र ने दीर्घ दर्शन के लिये सूर्य को द्युलोक में चढाया, उसने उसे उसकी किरणों (गौओं) के द्वारा सारे पहाड पर पहुँचा दिया–वि गोभि अद्रिम् ऐरयत्*।' परतु इसके साथ ही सूर्य की किरणें 'सूर्य' देवता की गौएं है, हीलियम (Helios) की वे गौएं हैं जिन्हें ओडिसी (Odyssey) में ओडिसस (Odysseus) के साथियो ने वध किया है, जिन्हें हर्मिज (Hermes) के लिये कहे गये होमर के गीतो में हर्मिज ने अपने भाई अपोलो (Apollo) के पास से चुराया है। ये वे गौएं है जिन्हें 'वल' नामक शत्रु ने या पणियो ने छिपा लिया था। जब मधुच्छन्दस् इन्द्र को कहता है–'तूने वल की उस गुफा को खोल दिया, जिसमें गौएं बद पडी थीं'–तब उसका यही अभिप्राय होता है कि वल गौओं का बद करनेवाला है, प्रकाश को रोकनेवाला है और वह रोका हुआ प्रकाश ही है जिसे इन्द्र यज्ञ करनेवालो के लिये फिर से ला देता है। खोयी हुई या चुरायी हुई गौओं का फिर से पा लेने का वर्णन वेद के मत्रों में लगातार आया है और इसका अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा, जब कि हम पणियों और अगिरसो के कथानक की परीक्षा करना शुरू करेंगे।

एक बार यदि यह अभिप्राय, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है, स्थापित हो जाता है

---

*इसका अनुवाद हम यह भी कर सकते हैं कि "उसने अपने वज्र (अद्रि) को उसमें निकलती हुई चमकों के साथ चारो ओर भेजा" पर यह अर्थ इतना अच्छा और सगत नहीं लगता। पर यदि हम इसे ही मानें, तो भी 'गोभि' का अर्थ 'किरणें' ही होता है, गाय पशु नहीं।

को 'गौओं' के लिये की गयी वैदिक प्रार्थनाओं की जो भौतिक व्याख्या की जाती है वह एकदम हिल जाती है। क्योंकि खोयी हुई गौएं जिन्हें फिर से पा लेने के लिये ऋषि इन्द्र का आह्वान करते हैं, वे यदि द्राविड लोगों द्वारा चुरायी गयी भौतिक गौएं नहीं हैं किंतु सूर्य की या ज्योति की चमकती हुई गौएं हैं, तो हमारा यह विचार बनाना न्यायसगत ठहरता है कि जहा केवल गौओं के लिये ही प्रार्थना है और साथ में कोई विरोधी निर्देश नहीं है वहा भी यह अलकार लगता है, वहाँ भी गौ भौतिक गाय नहीं है। उदाहरण के लिये ऋ० १ ४ १,२* मे इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह पूर्ण रूपों को बनानेवाला है जैसे कि दोहनेवाले के लिये अच्छी तरह दूध देनेवाली गौ, कि उसका सोम-रस से चढनेवाला मद सचमुच गौओं को देनेवाला है, 'गोदा इद् रेवतो मद ।' निरर्थकता और असगतता की हद हो जायगी, यदि इस कथन का यह अर्थ समझा जाय कि इन्द्र कोई बडा समृद्धि-शाली देवता है और जब वह पिये हुए होता है उस समय गौओं के दान करने में बडा उदार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि जैसे पहली ऋचा में गौओं का दोहना एक अलकार है, वैसे ही दूसरी म गौओं का देना भी अलकार ही है। और यदि हम वेद के दूसरे सदर्भों से यह जान लें कि 'गौ' प्रकाश का प्रतीक है तो यहा भी हमें अवश्य यही समझना चाहिये कि इन्द्र जब सोम-जनित आनद में भरा होता है तब वह निश्चित ही हम ज्योतिरूप गौएं देता है।

उषा के सूक्तों में भी गौएं ज्योति का प्रतीक है यह भाव वैसा ही स्पष्ट है। उषा को सब जगह 'गोमती' कहा गया है, जिसका स्पष्ट ही अवश्य यही अभिप्राय होना चाहिये कि वह ज्योतिर्मय या किरणावाली है, क्योंकि यह तो बिलकुल मूर्खता-पूर्ण होगा कि उषा के साथ एक नियत विशेषण के तौर पर 'गौओं से पूर्ण' यह विशेषण उसके शाब्दिक अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाय। पर गौओं का प्रतीक वहा पर विशेषण में है, क्योंकि उषा केवल 'गोमती' ही नहीं है वह 'गोमती अश्वा-

---

*सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि।
उप न सवना गहि सोमस्य सोमपा पिब।
गोदा इद्रेवतो मद ॥ १.४.१,२

द्रती' है, वह हमेशा अपने साथ अपनी गौएं और अपने घोड़े रखती है। 'वह सारे ससार के लिये ज्योति को रचकर देती है और अधकार को, जैसे गौओ के बाडे को, खोल देती है, १ ९२ ४'[1]। यहा हम देखते हैं कि बिना किसी भूलचूक की सभावना के गौएं ज्योति का प्रतीक ही हैं। हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि इस सूक्त (मत्र १६) म अश्विनो को कहा गया है कि वे अपने रथ को उस पथ पर हाककर नीचे ले जायें जो ज्योतिर्मय और सुनहरा है—[2] 'गोमद् हिरण्यवद्'। इसके अतिरिक्त उषा के सबध में कहा गया है कि उसके रथ को अरुण गौएं खीचती हैं और कही यह भी कहा है कि अरुण घोडे खीचते हैं। 'वह अरुण गौओ के समूह को अपने रथ में जोतती है—युड्क्ते गवामरुणानामनीकम् १-१२४-११'। यहा 'अरुण किरणो के समूह को यह दूसरा अर्थ भी स्थूल *अलकार के पीछे स्पष्ट ही रखा हुआ है। उषा का वर्णन इस रूप में हुआ है* कि वह गौओ या किरणो की माता है, 'गवा जनित्री अकृत प्र केतुम् १ १२४ ५–गौओ (किरणो) की माता ने दर्शन (Vision) को रचा है।' और दूसरे स्थान पर उसके कार्य के विषय में कहा है 'अब दर्शन या बोध उदित हो गया है, जहा पहले कुछ नही (असत्) था'।[3] इससे पुन यह स्पष्ट है कि 'गौएं' प्रकाश की ही चमकती हुई किरणे है। उसकी इस रूप में भी स्तुति की गयी है कि वह 'चमकती हुई गौओ का नेतृत्व करनेवाली है (नेत्री गवाम् ७-७६-६)', और एक दूसरी ऋचा इस पर पूरा ही प्रकाश डाल देती है जिसमें ये दोनो ही विचार इकट्ठे आ गये है, "गौओ की माता, दिनो की नेत्री" (गवा माता नेत्री अह्नाम् ७-७७-२)। अन्त में, मानो इस अलकार पर से आवरण को कतई हटा देने के लिये ही वेद स्वय हमें कहता है कि गौएं प्रकाश की किरणो के लिये एक *अलकार हैं, "उसकी सुखमय किरणें दिखाई दी, जैसे छोड़ी हुई*

---

[1] ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रज व्युषा आवर्तम ॥१.९२.४

[2] अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत्।
अर्वाग्रथ समनसा नि यच्छतम्।(१.९२.१६)

[3] वि नूनमुच्छाद् असति प्र केतु। (१.१२४.११)

गौएं"–प्रति भद्रा अदृक्षत गवा सर्गा न रश्मय ४-५२-५। और हमारे सामने इससे भी अधिक निर्णयात्मक एक दूसरी ऋचा (७-७९-२) है–"तेरी गौएं (किरणें) अन्धकार को हटा देती हैं और ज्योति को फैलाती हैं", स ते गावस्तम आवर्त्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति[1]।

लेकिन उषा इन प्रकाशमय गौओं द्वारा केवल खींची ही नहीं जाती, वह इन गौओं को यज्ञ करनेवालों के लिये उपहाररूप में देती है। वह इन्द्र की ही भांति, जब सोम के आनन्द में होती है, तो ज्योति को देती है। वसिष्ठ के एक सूक्त (७-७५) में उसका वर्णन इस रूप में है कि वह देवों के कार्य में हिस्सा लेती है और उससे वे दृढ स्थान जहां गौएं बन्द पड़ी हैं, टूटकर खुल जाते हैं और गौएं मनुष्यों को दे दी जाती हैं। "वह[2] सच्चे देवों के साथ सच्ची है, महान् देवों के साथ महान् है, वह दृढ स्थानों को तोड़कर खोलती है और प्रकाशमय गौओं को दे देती है, गौएं उषा के प्रति रंभाती हैं"–रुजद् दृळ्हानि ददद् उस्रियाणाम्, प्रति गाव उषसं वावशन्त ७ ७५ ७। और ठीक अगली ही ऋचा में उससे प्रार्थना की गयी है कि वह यज्ञकर्त्ता के लिये आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करे या धारण करावे, जो प्रकाश से (गौओं) से, अश्वों से (प्राणशक्ति से) और बहुत-से सुख-भोगों से परिपूर्ण हो–"गोमद् रत्नम् अश्वावत् पुरुभोज।" इसलिये जिन गौओं को उषा देती है वे गौएं ज्योति की ही चमकती हुई सेनाएं हैं, जिन्हें देवता और अंगिरस ऋषि वल और पणियों के दृढ स्थानों से उद्धार करके लाये हैं। साथ ही गौओं (और अश्वों) की सम्पत्ति

---

[1]निस्सन्देह इसमें तो मतभेद हो ही नहीं सकता कि वेद में गौ का अर्थ प्रकाश है, उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि 'गवा' 'गौ' से, प्रकाश से, वृत्र को मारा गया तो यहां गाय पशु का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि प्रश्न है तो यह कि 'गौ' का द्व्यर्थक प्रयोग है और गौ प्रतीकरूप है कि नहीं।

[2]सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त॥ (७।७५।७)
नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे। (७।७५।८)

जिसके लिये ऋषि लगातार प्रार्थना करते हैं उसी ज्योति की सम्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती, क्योंकि यह कल्पना असभवसी है कि जिन गौओं को देने के लिये इस सूक्त की सातवीं ऋचा में उषा को कहा गया है वे उन गौओं से भिन्न हों जो ८वीं में मांगी गयी हैं, कि पहले मन्त्र में 'गौ' शब्द का अर्थ है 'प्रकाश' और अगले में 'गाय', और यह कि ऋषि मुख से निकालते ही उसी क्षण यह भूल गया कि किस अर्थ में वह शब्द का प्रयोग कर रहा था।

कहीं-कहीं ऐसा है कि प्रार्थना ज्योतिर्मय आनन्द या ज्योतिर्मय समृद्धि के लिये नहीं है, बल्कि प्रकाशमय प्रेरणा या बल के लिये है, 'हे द्यु की पुत्री उष! तू हमारे अन्दर सूर्य की रश्मियों के साथ प्रकाशमय प्रेरणा को ला'–'गोमतीरिष आवह दुहितर्दिवः, साकं सूर्यस्य रश्मिभिः' ५-७९-८। 'सायण ने 'गोमती इष' का अर्थ किया है 'चमकता हुआ अन्न'[1]। परन्तु यह स्पष्ट ही एक निरर्थक सी बात लगती है कि उषा से कहा जाय कि वह सूर्य की किरणों के साथ, किरणों से (गौओं से) युक्त अन्नों को लाये। यदि 'इष्' का अर्थ अन्न है, तो हमें इस प्रयोग का अभिप्राय लेना होगा 'गोमांसरूपी अन्न', परन्तु यद्यपि प्राचीन काल में, जैसा कि ब्राह्मण-ग्रंथों से स्पष्ट है, गोमांस का खाना निषिद्ध नहीं था, फिर भी तत्कालीन हिंदुओं की भावना को चोट पहुंचानेवाला होने से जिस अर्थ को सायण ने नहीं लिया है, वह अभिप्रेत ही नहीं है और यह भी वैसा ही बुरा है जैसा कि पहला अर्थ है। यह बात ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र से सिद्ध हो जाती है जिसमें अश्विनों का आह्वान किया गया है कि वे उस प्रकाशमय प्रेरणा को दें जो हमें अंधकार में से पार कराकर उसके दूसरे किनारे पर पहुंचा देती है–'या नः पीपरद् अश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः, ताम् अस्मे रासाथाम् इषम्' १-४६-६'।

इन नमूने के उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि प्रकाश की गौओं का यह अलंकार कैसा व्यापक है और कैसे अनिवार्य रूप से यह वेद के लिये एक अध्यात्मपरक अर्थ की ओर निर्देश कर रहा है। एक सन्देह फिर भी बीच में आ उप-

[1] 'गोमतीर्गोभिरुपेतानि इषोऽन्नानि आवह आनय–सायण

स्थित होता है। हमने माना कि यह एक अनिवार्य परिणाम है कि 'गौ' प्रकाश के लिये प्रयुक्त हुआ है, पर इससे हम क्यो न समझे कि इसका सीधा-सादा मतलव दिन के प्रकाश से है, जैसा कि वेद की भाषा से निकलता प्रतीत होता है? वहा किसी प्रतीक की कल्पना क्यो करे, जहा केवल एक अलकार ही है? हम उस दुहरे अलकार की कठिनाई को निमंत्रण क्यो दें जिसमें 'गौ' का अर्थ तो हो 'उषा का प्रकाश' और उषा के प्रकाश को 'आन्तरिक ज्योति' का प्रतीक समझा जाय? यह क्यो न मान ले कि ऋषि आत्मिक ज्योति के लिये नही, बल्कि दिन के प्रकाश के लिये प्रार्थना कर रहे थे?

ऐसा मानने पर अनेक प्रकार के आक्षेप आते हैं और उनमे कुछ तो बहुत प्रबल है। यदि हम यह मानें कि वैदिक सूक्तो की रचना भारत में हुई थी और यह उषा भारत की उषा है और यह रात्रि वही यहा की दस या बारह घण्टे की छोटीसी रात है, तो हमें यह स्वीकार करके चलना होगा कि वैदिक ऋषि जगली थे, अन्धकार के भय से बड़े भयभीत रहते थे और समझते थे कि इसमें भूत-प्रेत रहते हैं, वे दिन-रात की परम्परा के प्राकृतिक नियम से—जिसका अबतक बहुत से सूक्तो मे बडा सुन्दर चित्र खिचा मिलता है—भी अनभिज्ञ थे और उनका ऐसा विश्वास था कि आकाश में जो सूर्य निकलता था और उषा अपनी बहिन रात्रि के आलिंगन से छूटकर प्रकट होती थी, वह सब केवल उनकी प्रार्थनाओं के कारण से ही होता था। पर फिर भी वे देवो के कार्य में अटल नियमो का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि उषा हमेशा शाश्वत सत्य व दिव्य नियम के मार्ग का अनुसरण करती है! हमे यह कल्पना करनी होगी कि ऋषि जब उल्लास में भरकर पुकार उठता है 'हम अन्धकार को पार करके दूसरे किनारे पहुच गये हैं!' तो यह केवल दैनिक सूर्योदय पर होनेवाला सामान्य जागना ही है। हमें यह कल्पना करनी होगी कि वैदिक लोग उषा निकलने पर यज्ञ के लिये बैठ जाते थे और प्रकाश के लिये प्रार्थना करते थे, जब कि वह पहले से ही निकल चुका होता था। और यदि हम इन सब असभव कल्पनाओ को मान भी ले, तो आगे हमें यह एक स्पष्ट कथन मिलता है कि नौ या दस महीने बैठ चुकने के उपरान्त ही यह हो सका कि अगिरस ऋषियो को खोया हुआ प्रकाश और

गोया हुआ सूर्य फिर से मिल पाया। और जो पितरो के द्वारा 'ज्योति' के खोजे जाने का कथा लगातार मिलता है, उसका हम क्या अर्थ लगायेंगे। जैसे –

"हमारे पितरों ने छिपी हुई ज्योति को ढूढकर पा लिया, उनके विचारों में जो सत्य था, उसके द्वारा उन्होंने उषा को जन्म दिया–गूळ्ह ज्योति पितरो अन्वविन्दन्, सत्यमन्त्रा अजनयन् उषासम् ७-७६-४"। यदि हम किसी भी साहित्य के किसी कविता-सग्रह में इस प्रकार का कोई पद्य पावे, तो तुरन्त हम उसे एक मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक रूप दे देंगे, तो फिर वेद के साथ हम दूसरा ही वर्ताव करें इसमें कोई युक्तियुक्त कारण नही दीखता।

फिर भी यदि हमें वेद के सूक्तों की प्रकृतिवादी ही व्याख्या करनी है और कोई नहीं, तो भी यह बिल्कुल साफ है कि वैदिक उषा और रात्रि कम-से-कम भारत की रात्रि और उषा तो नही हो सकती। यह केवल उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशो में ही हो सकता है कि इन प्रकृति की घटनाओं के सबध में ऋषियो की जो मनोवृत्ति है और अगिरसो के विषय में जो बाते कही गयी है वे कुछ समझ-में आने लायक बन सकें। प्राचीन वैदिक आर्य उत्तरीय ध्रुव से आये, इस कल्पना (वाद) को क्षणभर के लिये मान लेने पर भी यद्यपि यह बहुत अधिक सभव हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुव की स्मृतिया वेद के बाह्य अर्थ में आ गयी हों फिर भी इस कल्पना से प्रकृति से लिये गये इन प्राचीन अलकारो के पीछे जो एक आन्तरिक अर्थ है, उसका निराकरण नहीं हो सकता, न ही इसके मान लेने से यह सिद्ध हो जाता है कि उषासबधी ऋचाओं की इसकी अपेक्षा और अधिक सुसबद्ध और सीधी स्पष्ट किसी दूसरी व्याख्या की आवश्यकता नही है।

उदाहरण के लिये हमारे सामने अश्विना को कहा गया प्रस्कण्व काण्व का सूक्त (१ ४६) है जिसमें उस ज्योतिर्मय अन्त प्रेरणा का सकेत है जो हमें अन्धकार में से पार कराके परले किनारे पर पहुचा देती है। इस सूक्त का उषा और रात्रि के वैदिक विचार के साथ घनिष्ठ सबध है। इसमें वेद में नियत रूप से आनेवाले बहुत से अलकारो का सकेत मिलता है, जैसे ऋत के मार्ग का, नदियों को पार करने का, सूर्य के उदय होने का, उषा और अश्विनो में परस्पर सबध का, सोम-रस के रहस्यमय प्रभाव का और उसके सामुद्रिक रस का।

"देखो, आकाश में उषा खिल रही है, जिससे अधिक उच्च और कोई वस्तु नहीं है, जो आनन्द मे भरी हुई है। . हे अश्विनो! तुम्हारी मैं महान् स्तुति करता हू (१)।* तुम जिनकी सिंधु माता है, जो कार्य को पूर्ण करनेवाले हो, जो मन में से होते हुए उस पार पहुंचकर ऐश्वर्यों (रयि) को पा लेते हो, जो दिव्य हो और उस ऐश्वर्य (वसु) को विचार के द्वारा पाते हो (२)। हे समुद्र-यात्रा के देवो जो शब्द को मनोमय करनेवाले हो! यह तुम्हारे विचारों को भंग करनेवाला है—तुम प्रचड रूप से सोम का पान करो (५)। हे अश्विनो! हमें वह ज्योतिष्मती अन्तःप्रेरणा दो, जो हमें तमस् से निकालकर पार पहुंचा दे (६)। हमारे लिये तुम अपनी नाव पर बैठकर चलो, जिससे हम मन के विचारों से परे परले पार पहुंच सकें। हे अश्विनो! तुम अपने रथ को जोतो (७)। अपने उस रथ को जो द्युलोक मे इसकी नदियो को पार करने के लिये एक बड़े पतवारवाले जहाज का काम देता है। विचार के द्वारा आनन्द की शक्तियां जोती गयी है (८)। जलो के स्थान (पद) पर द्युलोक में आनन्दरूपी सोम-

---

*एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥(१।४६।१)
या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा ॥२॥
आदारो वां मतीनां नासत्या मतवचसा। पातं सोमस्य धृष्णुया ॥५॥
या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम् ॥६॥
आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥७॥
अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूना रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥८॥
दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं वव्रिं कुह धित्सथः ॥९॥
अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयासितः ॥१०॥
अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः ॥११॥
तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति। मदे सोमस्य पिप्रतोः ॥१२॥
वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छंभू आ गतम् ॥१३॥
युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत्। ऋता वनथो अक्तुभिः ॥१४॥
उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः ॥१५॥

रश्मियां ही वह ऐश्वर्य (वसु) हैं। पर अपने उस आवरण को तुम कहां रख दोगे, जो तुमने अपने-आपको छिपाने के लिये बनाया है (९)। नहीं, सोम का आनन्द लेने के लिये प्रकाश उत्पन्न हो गया है,—सूर्य ने, जो कि अन्धकारमय था, अपनी जिह्वा को हिरण्य की ओर लपलपाया है (१०)। ऋत का मार्ग प्रकट हो गया है, जिससे हम उस पार पहुंचेंगे, द्यु के बीच का सारा खुला मार्ग दिखलायी पड़ गया है (११)। सोजनेवाला अपने जीवन में अश्विनों के निरन्तर एक के बाद दूसरे आविर्भाव की ओर प्रगति किये जा रहा है ज्यों-ज्यों वे सोम के आनंद में तृप्ति-लाभ करते हैं (१२)। उस सूर्य में जिसमें सब ज्योति ही ज्योति है, तुम निवास करते हुए (या चमकते हुए), सोम-पान के द्वारा, वाणी के द्वारा हमारी मानवीयता में सुख का सर्जन करनेवाले के तौर पर आओ (१३)। तुम्हारी कीर्ति और विजय के अनुरूप उषा हमारे पास आती है जब तुम हमारे सब लोकों में व्याप्त हो जाते हो और तुम रात्रि में से सत्यों को विजय कर लाते हो (१४)। दोनों मिलकर हे अश्विनो, सोम-पान करो, दोनों मिलकर हमारे अंदर शान्ति को प्राप्त कराओ उन विस्तारों के द्वारा जिनकी पूर्णता सदा अविच्छिन्न रहती है (१५)।"

यह इस सूक्त का सीधा और स्वाभाविक अर्थ है और हमें इसका भाव समझने में कठिनाई नहीं होगी, यदि हम वेद के मूलभूत विचारों और अलंकारों को स्मरण रखेंगे। 'रात्रि' स्पष्ट ही आन्तरिक अंधकार के लिये आलंकारिक रूप से कहा गया है; उषा के आगमन के द्वारा रात्रि में से 'सत्यों' को जीतकर हस्तगत किया जाता है। यही उस सूर्य का, सत्य के सूर्य का, उदय होना है जो अंधकार के बीच में खो गया था—वही खोये हुए सूर्य का हमारा परिचित अलंकार जिसमें उसे देवों और ऋषियों ने फिर से पाया है और अब यह अपनी अग्नि की जिह्वा को स्वर्णीय ज्योति के प्रति-'हिरण्य' के प्रति—लपलपाता है।

सुवर्ण उच्चतर ज्योति का स्थूल प्रतीक है, यह सत्य का सोना है और यही वह निधि है, न कि कोई सोने का सिक्का, जिसके लिये वैदिक ऋषि देवों से प्रार्थना करते हैं। आन्तरिक अंधकार में से निकालकर ज्योति में लाने के इस महान् परिवर्तन को अश्वी करते हैं, जो मन की और प्राण-शक्तियों की प्रसन्नतायुक्त

ऊर्ध्वगति में देखता है, और इसे वे इस प्रकार करते हैं कि आनन्द का अमृतरस मन और शरीर में उंडेला जाता है और वहां वे इसका पान करते हैं। वे व्यंजक शब्द को मनोमय रूप देते हैं, वे हमें विशुद्ध मन के उस स्वर्ग में ले जाते हैं जो इस अंधकार से परे है और वहां वे विचार के द्वारा आनन्द की शक्तियों को काम में लाते हैं।

पर वे द्यु के जलों को भी पार करके उससे भी ऊपर चले जाते हैं, क्योंकि सोम की शक्ति उन्हें सब मानसिक रचनाओं को तोड डालने में सहायता देती है और वे इस आवरण को भी उतार फेंकते हैं। वे मन से परे चले जाते हैं और सबसे अन्तिम चीज जो वे प्राप्त करते हैं वह 'नदियों का पार करना' कही गयी है, जो कि विशुद्ध मन के द्युलोक में से गुजरने की यात्रा है, वह यात्रा है जिससे सत्य के मार्ग पर चलकर परले किनारे पर पहुंचा जाता है और जबतक अन्त में हम उच्चतम पद, परमा परावत्, पर नहीं पहुंच जाते तबतक हम इस महान् मानवीय यात्रा से विश्राम नहीं लेते।

हम देखेंगे कि न केवल इस सूक्त में बल्कि सब जगह उषा सत्य को लानेवाली के रूप में आती है, स्वयं वह सत्य की ज्योति से जगमगानेवाली है। वह दिव्य उषा है और यह भौतिक उषा (प्रभात होना) उसकी केवल छायामात्र है और प्राकृतिक जगत् में उसका प्रतीक है।

चौदहवां अध्याय

उषा और सत्य

उषा का बार-बार इस रूप में वर्णन किया गया है कि वह गौओं की माता है। तो यदि 'गौ' वेद में भौतिक प्रकाश का या आध्यात्मिक ज्योति का प्रतीक हो, तब इस वाक्य का या तो यह अभिप्राय होगा कि वह, दिन के प्रकाश की जो भौतिक किरणें हैं उनकी माता या स्रोत है, अथवा इसका यह अर्थ होगा कि वह दिव्य दिन के ज्योति-प्रसार को अर्थात् आन्तरिक प्रकाश की प्रभा तथा निर्मलता को रचती है। परतु वेद में हम देखते हैं कि देवों की माता अदिति का दोनों रूपों में वर्णन हुआ है, गौरूप में और सबकी सामान्य माता के रूप में, वह परा ज्योति है और अन्य सब ज्योतियां उसीसे निकलती हैं। आध्यात्मिक रूप में, अदिति परा या असीम चेतना है, देवों की माता है, उस 'दनु' या 'दिति'* के प्रतिकूल जो कि विभक्त चेतना है और वृत्र तथा उन दूसरे दानवों की माता है जो देवताओं के एव प्रगति करते हुए मनुष्य के शत्रु होते हैं। और अधिक सामान्य रूप में कहें, तो वह 'अदिति' भौतिक से प्रारभ करके जगत्स्तर-सम्बन्धिनी जितनी चेतनाएं हैं उन सबकी आदिस्रोत है; सात गौएं, 'सप्त गाव', उसीके रूप हैं और हमें बताया गया है कि उस माता के सात नाम या स्थान हैं। तो उषा जो गौओं की माता है, वह केवल इसी परा ज्योति का, इसी परा चेतना का, अदिति का कोई रूप या शक्ति हो सकती है और सचमुच हम उसे १ ११३ १९ में इस रूप में वर्णित हुई-हुई पाते हैं—माता देवानामदितेरनीकम्। 'देवों की माता, अदिति का रूप (या शक्ति)।'

---

*यह न समझ लिया जाय कि 'अदिति' व्युत्पत्तिशास्त्रानुसार 'दिति' का अभावात्मक है, ये दोनों शब्द बिलकुल ही भिन्न भिन्न दो धातुओं—'अद्' और 'दि' से बने हैं।

पर उस उच्चतर या अविभक्त चेतना की ज्योतिर्मयी उषा का उदय सर्वदा सत्यरूपी उषा का उदय होता है और यदि वेद की उषादेवता यही ज्योतिर्मयी उषा है, तो ऋग्वेद के मन्त्रों में हमें अवश्यमेव इसका उदय या आविर्भाव बहुधा सत्य के-ऋत के-विचार के साथ संबद्ध मिलना चाहिये। और इस प्रकार का संबंध हमें स्थान-स्थान पर मिलता है। क्योंकि सबसे पहले तो हम यही देखते हैं कि उषा को कहा गया है कि वह 'ठीक प्रकार से ऋत के पथ का अनुसरण करती है', (ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु १ १२४ ३)। यहां 'ऋत' के जो कर्मकाण्ड-परक या प्रकृतिवादी अर्थ किये जाते हैं उनमेंसे कोई भी ठीक नहीं घट सकता; यह बार-बार कहे चले जाने में कुछ अर्थ नहीं बनता कि उषा यज्ञ के मार्ग का अनुसरण करती है, या पानी के मार्ग का अनुसरण करती है। तो इसके स्पष्ट मतलब को हम केवल इस प्रकार टाल सकते हैं कि 'पन्था ऋतस्य' का अर्थ हम सत्य का मार्ग नहीं, बल्कि सूर्य का मार्ग समझें। लेकिन वेद तो इसके विपरीत यह वर्णन करता है कि सूर्य उषा के मार्ग का अनुसरण करता है (न कि उषा सूर्य के) और भौतिक उषा के अवलोकन करनेवाले के लिये यही वर्णन स्वाभाविक भी है। इसके अतिरिक्त, यदि यह स्पष्ट न भी होता कि इस प्रयोग का अर्थ दूसरे संदर्भों में सत्य का मार्ग ही है, फिर भी आध्यात्मिक अर्थ बीच में आ ही जाता है, क्योंकि फिर भी 'उषा सूर्य के मार्ग का अनुसरण करती है' इसका अभिप्राय यही होता है कि उषा उस मार्ग का अनुसरण करती है जो सत्यमय का या सत्य के देव का, सूर्य-सविता का मार्ग है।

हम देखते हैं कि उपर्युक्त १ १२४ ३ में इतना ही नहीं कहा है, बल्कि वहां अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और अधिक पूर्ण आध्यात्मिक निर्देश विद्यमान है-क्योंकि 'ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु', के आगे साथ ही कहा है 'प्रजानतीव न दिशो मिनाति।' "उषा सत्य के मार्ग के अनुसार चलती है और जानती हुई के समान वह प्रदेशों को सीमित नहीं करती है।" 'दिशः' शब्द दोहरा अर्थ देता है, यह हम ध्यान में रखें, यद्यपि यहां इस बात पर बल देने की विशेष आवश्यकता नहीं है। उषा सत्य के पथ की दृढ़ अनुगामिनी है और चूंकि इस बात का उसे ज्ञान या बोध रहता है, इसलिये वह असीमता को, बृहत् को, जिसकी कि वह ज्योति है, सीमित

नहीं करती। यही इस मन्त्र का असली अभिप्राय है, यह बात ५म मण्डल की एक ऋचा (५।८०।१) से निर्विवाद स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है और इसमें भूलचूक की कोई संभावना नहीं रह जाती। इसमें उषा के लिये कहा है—द्युतद्यामानं बृहतीम् ऋतेन ऋतावरीं, स्वरावहन्तीम्। "वह प्रकाशमय गतिवाली है, ऋत से महान् है, ऋत में सर्वोच्च (या ऋत से युक्त) है, अपने साथ स्व को लाती है।" यहां हम बृहत् का विचार, सत्य का विचार, स्वर्लोक के सौर प्रकाश का विचार पाते हैं, और निश्चय ही ये सब विचार इस प्रकार घनिष्ठता और दृढ़ता से एकमात्र भौतिक उषा के साथ संबद्ध नहीं रह सकते। इसके साथ हम ७।७५।१ के वर्णन की भी तुलना कर सकते हैं—व्युषा आवो दिविजा ऋतेन, आविष्कृण्वाना महिमानमागात्। "द्यौ में प्रकट हुई उषा सत्य के द्वारा वस्तुओं को खोल देती है, वह महिमा को व्यक्त करती हुई आती है।" यहां पुनः हम देखते हैं कि उषा सत्य की शक्ति के द्वारा सब वस्तुओं को प्रकट करती है और इसका परिणाम यह बताया गया है कि एक प्रकार की महत्ता का आविर्भाव हो जाता है।

अन्त में इसी विचार को हम आगे भी वर्णित किया गया पाते हैं, बल्कि यहां सत्य के लिये 'ऋत' के बजाय सीधा 'सत्य' शब्द ही है, जो कि 'ऋतम्' की तरह दूसरा अर्थ किये जा सकने की संभावना में डालनेवाला भी नहीं है—सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिः। (७।७५।७) "उषा अपनी सत्ता में सच्चे देवों के साथ सच्ची है, महान् देवों के साथ महान् है।" वामदेव ने अपने एक सूक्त ४५१ में उषा के इस "सत्य" पर बहुत बल दिया है, क्योंकि वहां वह उषाओं के बारे में केवल इतना ही नहीं कहता कि "तुम सत्य के द्वारा जोते हुए अश्वों के साथ जल्दी से लोकों को चारों ओर से घेर लेती हो"[1], ऋतयुग्भिः अश्वैः (तुलना करो ६६५२[2]), परन्तु वह उनके लिये कहता है—भद्रा ऋतजातसत्याः (४५१७) "वे सुखमय हैं और सत्य से उत्पन्न हुई सच्ची हैं।" और एक दूसरी

---

[1]यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः। (४५१.५)।

[2]वि तद्ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः (६.६५.२)

ऋचा में वह उनका वर्णन इस रूप में करता है कि वे देवी है जो कि ऋत के स्थान से प्रबुद्ध होती है।*"

'भद्र' और 'ऋत' का यह निकट संबंध अग्नि को कहे गये मधुच्छन्दस् के सूक्त में इसी प्रकार का जो विचारो का परस्पर संबंध है, उसका हमे स्मरण करा देता है। वेद की अपनी आध्यात्मिक व्याख्या मे हम प्रत्येक मोड पर इस प्राचीन विचार को पाते है कि 'सत्य' आनन्द को प्राप्त करने का मार्ग है। तो उषा को, सत्य की ज्योति से जगमगाती उषा को, भी अवश्य सुख और कल्याण को लानेवाला होना चाहिये। उषा आनन्द को लानेवाली है, यह विचार वेद में हम लगातार पाते है और वसिष्ठ ने ७ ८१ ३ में इसे बिल्कुल स्पष्ट रूप में कह दिया है—या वहसि पुरु स्पार्हं रत्नं न दाशुषे मय । "तू जो देनेवाले को कल्याण-सुख प्राप्त कराती है, जो कि अनेकरूप है और स्पृहणीय आनंदरूप है।"

वेद का एक सामान्य शब्द 'सूनृता' है जिसका अर्थ सायण ने "मधुर और सत्य वाणी" किया है, परंतु प्रतीत होता है कि इसका प्राय और भी अधिक व्यापक अभिप्राय "सुखमय सत्य" है। उषा को कहीं-कहीं यह कहा गया है कि वह "ऋतावरी" है, सत्य से परिपूर्ण है और कहीं उसे "सूनृतावरी" कहा गया है। वह आती है सच्चे और सुखमय शब्दो को उच्चारित करती हुई 'सूनृता ईरयन्ती।' जैसे उसका यह वर्णन किया गया है कि वह जगमगाती हुई गौओ की नेत्री है और दिनो की नेत्री है, वैसे ही उसे सुखमय सत्यो की प्रकाशवती नेत्री कहा गया है, भास्वती नेत्री सूनृतानाम् (१ ९२ ७) और वैदिक ऋषियो के मन में ज्योति, किरणो या गौओ के विचार और सत्य के विचार मे जो परस्पर गहरा संबंध है वह एक दूसरी ऋचा १ ९२ १४ में और भी अधिक स्पष्ट तथा असंदिग्ध रूप मे पाया जाता है—गोमति अश्वावति विभावरि, सूनृतावति। "हे उषः जो तू अपनी जगमगाती हुई गौओ के साथ है, अपने अश्वो के साथ है अत्यधिक प्रकाशमान है और सुखमय सत्यो से परिपूर्ण है।" इसी जैसा पर तो भी इससे अधिक स्पष्ट वाक्यांश १ ४८ २ मे है, जो इन विशेषणो के इस प्रकार रखे जाने के अभिप्राय का

*ऋतस्य देवी सदसो बुधाना (४.५१ ८)

सूचित कर देता है—"गोमतीरश्वावतीर्विश्ववुविद ।" 'उषाए जो अपनी ज्योतियो (गौओं) के साथ है, अपनी त्वरित गतियो (अश्वो) के साथ है और जो सब वस्तुओ को ठीक प्रकार से जानती है।"

वैदिक उषा के आध्यात्मिक स्वरूप का निर्देश करनेवाले जो उदाहरण ऋग्वेद में पाये जाते हैं, वे किसी भी प्रकार वही तक परिमित नही है। उषा को निरन्तर इस रूप में प्रदर्शित किया गया है कि वह दर्शन, बोध, ठीक दिशा में गति को जागृत करती है। गोतम राहूगण कहता है, "वह देवी सब भुवनो को सामने होकर देखती है, वह दर्शनरूपी आख अपनी पूर्ण विस्तीर्णता में चमकती है, ठीक दिशा में चलने के लिये संपूर्ण जीवन को जगाती हुई वह सब विचारशील लोगो के लिये वाणी को प्रकट करती है।"* विश्वस्य वाचमविदन् मनायो (१ ९२ ९)।

यहा हम उषा का इस रूप में पाते हैं कि वह जीवन और मन को बधनमुक्त करके अधिक-से-अधिक पूर्ण विस्तार म पहुचा देती है और यदि हम इस उपर्युक्त निर्देश को वही तक सीमित करें कि यह केवल भौतिक उषा के उदय होने पर पार्थिव जीवन के पुन जाग उठने का ही वर्णन है तो हम ऋषि के चुने हुए शब्दो और वाक्याशो में जो बल है उस सारे की उपेक्षा ही कर रहे होगे और यदि यह हो कि उषा से लाय जानेवाले दर्शन के लिये यहा जो शब्द प्रयुक्त किया गया है, 'चक्षु', उसे केवल भौतिक दर्शनशक्ति का ही सूचित कर सकने योग्य माना जाय, तो दूसरे सदर्भो में हम इसके स्थान पर 'केतु' शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ है बोध, मानसिक चेतना में हानेवाला बोधयुक्त दर्शन, ज्ञान की एक शक्ति। उषा है 'प्रचेता' इस बोधयुक्त ज्ञान से पूर्ण। उषा ने, जो कि ज्योतियों की माता है, मन के इस बोधयुक्त ज्ञान को रचा है, गवा जनित्री अकृत प्र केतुम् (१ १२४ ५)। वह स्वय ही दर्शनरूप है—'अब बोधमय दर्शन की उषा खिल उठी है, जहा कि पहले कुछ नहीं (असत्) था", वि नूनमुच्छादसति प्र केतु (१ १२४ ११)। वह अपनी बोधयुक्त शक्ति के द्वारा सुखमय सत्यावाली है, चिकित्वित् सूनृतावरि (४ ५२ ४)।

---

*विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया वि भाति।
विश्व जीव चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायो ॥ (ऋ.१।९२।९)

यह बोध, यह दर्शन, हमें बताया गया है, अमरत्व का है—अमृतस्य केतु (३ ६१ ३)। दूसरे शब्दो में यह उस सत्य और सुख की ज्योति हैं जिनसे उच्चतर या अमर चेतना का निर्माण होता है। रात्रि वेद मे हमारी उस अधकारमय चेतना का प्रतीक है जिसके ज्ञान में अज्ञान भरा पडा है और जिसके सकल्प तथा क्रिया म स्खलन पर स्खलन होते रहते हैं और इसलिये जिसमें सब प्रकार की बुराई, पाप तथा कष्ट रहते हैं। प्रकाश है ज्योतिर्मयी उच्चतर चेतना का आगमन जो कि सत्य और सुख को प्राप्त कराता है। हम निरन्तर 'दुरितम्' और 'सुवितम्' इन दो शब्दो का विरोध पाते हैं। 'दुरितम्' का शाब्दिक अर्थ है स्खलन, गलत रास्ते पर जाना और औपचारिक रूप से वह सब प्रकार की गल्ती और बुराई, सब पाप, भूल और विपत्तियो का सूचक है। 'सुवितम्' का शाब्दिक अर्थ है, ठीक और भले रास्ते पर जाना और यह सब प्रकार की अच्छाई तथा सुख को प्रकट करता है और विशेषकर इसका अर्थ वह सुख-समृद्धि है जो कि सही मार्ग पर चलने से मिलती है। सो वसिष्ठ इस देवी उषा के विषय म (७ ७८ २) में इस प्रकार कहता है—"दिव्य उषा अपनी ज्योति से सब अधकारो और बुराइयो को हटाती हुई आ रही है"* (विश्वा तमांसि दुरिता) और बहुत से मत्रो में इस देवी का वर्णन इस रूप में किया गया है कि वह मनुष्यो को जगा रही है प्रेरित कर रही है, ठीक मार्ग की ओर, सुख की ओर (सुविताय)।

इसलिये वह केवल सुखमय सत्यो की ही नही, किंतु हमारी आध्यात्मिक समृद्धि और उल्लास की भी नेत्री है, उस आनद को लानेवाली है जिसतक मनुष्य सत्य के द्वारा पहुचता है या जो सत्य के द्वारा मनुष्य के पास लाया जाता है (एषा नेत्री राधस सूनृतानाम्) (७ ७६ ७)। यह समृद्धि जिसके लिय ऋषि प्रार्थना करते हैं भौतिक दौलतो के अलकार से वर्णन की गयी है, यह 'गोमद् अश्वावद् वीरवद्' है या यह 'गोमद् अश्वावद् रथवच्च राध' है। गौ (गाय) अश्व (घोडा), प्रजा या अपत्य (सतान), नृ या वीर (मनुष्य या शूरवीर), हिरण्य (सोना), रथ (सवारीवाला रथ), श्रव (भोजन या कीर्ति)—याज्ञिक सप्रदायवाला की

---

*उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमासि दुरिताप देवी। (७-७८-२)

व्याख्या के अनुसार ये ही उस सपत्ति के अग हैं जिनकी वैदिक ऋषि कामना करते थे। यह लगेगा कि इससे अधिक ठोस दुनियावी पार्थिव और भौतिक दौलत कोई और नही हो सकती थी, नि सदेह ये ही वे ऐश्वर्य है जिनके लिये कोई बेहद भूखी, पार्थिव वस्तुओ की लोभी, कामुक, जगली लोगा की जाति अपने आदि देवो से याचना करती। परतु हम देख चुके हैं कि 'हिरण्य' वेद में भौतिक सोने की अपेक्षा दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हम देख आये है कि 'गौएं' निरन्तर उषा के साथ सबद्ध होकर बार-बार आती है, कि यह प्रकाश के उदय होने का आलकारिक वर्णन होता है और हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रकाश का सबध मानसिक दर्शन के साथ है और उस सत्य के साथ है जो कि सुख लाता है। और अश्व, घोडा, आध्यात्मिक भावो के निर्देशक इन मूर्त्त अलकारो में सर्वत्र गौ के प्रतीकात्मक अलकार के साथ जुडा हुआ आता है, उषा, 'गोमती अश्वावती' है। वसिष्ठ ऋषि की एक ऋचा (७ ७७ ३) है जिसमें वैदिक अश्व का प्रतीकात्मक अभिप्राय बडी स्पष्टता और बडे बल के साथ प्रकट होता है—

देवानां चक्षु सुभगा वहन्ती, श्वेत नयन्ती सुदृशीकमश्वम ।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता, चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ॥

'देवो की दर्शनरूपी आख को लाती हुई, पूर्ण दृष्टिवाले, सफेद घोडे का नेतृत्व करती हुई सुखमय उषा रश्मियो द्वारा व्यक्त होकर दिखायी दे रही है, यह अपने चित्रविचित्र ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है, अपने जन्म को सब वस्तुओ में अभिव्यक्त कर रही है।' यह पर्याप्त स्पष्ट है कि 'सफेद घोडा' पूर्णतया प्रतीकरूप ही है' (सफेद घोडा यह मुहावरा अग्निदेवता के लिये प्रयुक्त किया गया है जो कि अग्नि 'द्रष्टा का सकल्प' है, कविक्रतु है, दिव्य सकल्प की अपने कार्यों को करने की पूर्ण

'घोडा प्रतीकरूप ही है, यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है दीर्घतमस् के सूक्तो में जो कि यज्ञ के घोडे के सबध में हैं अश्व दधिक्रावन् विषयक भिन्न भिन्न ऋषियो के सूक्तो में और फिर बृहदारण्यक उपनिषद् के आरभ में जहा वह जटिल आलका-रिक वणन है जिसका आरभ "उषा घोडे का सिर है", (उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर) इस वाक्य से होता है।

दृष्टि-शक्ति है। ५ १ ४)* और ये 'चित्र-विचित्र ऐश्वर्य' भी आलंकारिक ही हैं जिन्हे कि वह अपने साथ लाती है, निश्चय ही उनका अभिप्राय भौतिक धन-दौलत से नही है।

उषा का वर्णन किया गया है कि वह 'गोमती अश्वावती वीरवती' है और क्योंकि उसके साथ लगाये गये 'गोमती' और 'अश्वावती' ये दो विशेषण प्रतीकरूप हैं और इनका अर्थ यह नहीं है कि वह 'भौतिक गौओं और भौतिक घोडोवाली' है बल्कि यह अर्थ है कि वह ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाली और शक्ति की तीव्रता से युक्त है, तो 'वीरवती' का अर्थ भी यह नहीं हो सकता कि वह 'मनुष्योवाली है या शूरवीरो, नौकर-चाकरो या पुत्रो से युक्त' है, बल्कि इसकी अपेक्षा इसका अर्थ यह होगा कि वह विजयशील शक्तियो से सयुक्त है अथवा यह शब्द बिल्कुल इसी अर्थ में नही तो कम-से-कम किसी ऐसे ही और प्रतीकरूप अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात १ ११३ १८ मे बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। 'या गोमतीरुषस सर्ववीरा . ता अश्वदा अश्नवत् सोमसुत्वा।' इसका यह अर्थ नहीं है कि 'वे उषाएं जिनमे कि भौतिक गायें है और सब मनुष्य या सब नौकर-चाकर है, सोम अर्पित करके मनुष्य उनका भौतिक घोडो की देनेवाली के रूप में उपभोग करता है।' उषा देवी यहा आन्तरिक उषा है जो कि मनुष्य के लिये उसकी बृहत्तम सत्ता की विविध पूर्णताओ को, शक्ति को, चेतना को और प्रसन्नता को लाती है; यह अपनी ज्योतियो से जगमग है, सब सभव शक्तियो और बलो से युक्त है, वह मनुष्य को जीवन-शक्ति का पूर्ण बल प्रदान करती है, जिससे कि वह उस बृहत्तर सत्ता के असीम आनद का स्वाद ले सके।

अब हम अधिक देर तक 'गोमद् अश्वावद् वीरवद् राध' को भौतिक अर्थों में नहीं ले सकते, वेद की भाषा ही हमें इससे बिलकुल भिन्न तथ्य का निर्देश कर रही है। इस कारण देवो द्वारा दी गयी इस सपत्ति के अन्य अगो को भी हमें इसीकी तरह अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थों में ही लेना चाहिये, सतान, सुवर्ण,

---

*अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये स चरन्ति।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम्॥ (५।१।४)

रथ ये प्रतीकरूप ही है, 'श्रव' कीर्ति या भोजन नहीं है, बल्कि इसमें आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्निहित है और इसका अभिप्राय है, वह उच्चतर दिव्य ज्ञान जो कि इन्द्रियों या बुद्धि का विषय नहीं है बल्कि जो सत्य की दिव्य श्रुति है और सत्य के दिव्य दर्शन से प्राप्त होता है, 'राय दीर्घश्रुत्तमम्' (७ ८१ ५) 'रयिं श्रवस्युम्' (७ ७५ २), सत्ता की वह सपन्न अवस्था है, वह आध्यात्मिक समृद्धि से युक्त वैभव है जो कि दिव्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है (श्रवस्यु) और जिसमें उस दिव्य शब्द के कम्पनो को सुनने के लिये सुदीर्घ, दूर तक फैली श्रवणशक्ति है, जो दिव्य शब्द हमारे पास असीम के प्रदेशा (दिश) से आता है। इस प्रकार उषा का यह उज्ज्वल अलकार हमें वेदसबधी उन सब भौतिक, कर्मकाण्डिक, अज्ञानमूलक भ्रातियों से मुक्त कर देता है जिनमें कि यदि हम फसे रहते तो वे हमें असगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरो-पर-ठोकरें खिलाती हुई एक से दूसरे अधकूप में ही गिराती रहती, यह हमारे लिये वद द्वारा को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अदर हमारा प्रवेश करा देती है।

पंद्रहवां अध्याय

आंगिरस उपाख्यान और गौओं का रूपक

अब हमें गौ के इस रूपक को, जिसे कि हम वेद के आशय की कुंजी के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं, अंगिरस ऋषियों के उस अद्भुत उपाख्यान या कथानक में देखना है जो सामान्य रूप से कहें तो सारी की सारी वैदिक गाथाओं में सबसे अधिक महत्त्व का है।

वेद के सूक्त, वे और जो कुछ भी हों सो हों, वे सारे-के-सारे मनुष्य के सखा और सहायकभूत कुछ "आर्यन" देवताओं के प्रति प्रार्थनारूप हैं, प्रार्थना उन बातों के लिये है जो मंत्रों के गायकों को—या द्रष्टाओं को, जैसा कि वे अपने-आपको कहते हैं (कवि, ऋषि, विप्र)—विशेष रूप से वरणीय (वर, वार), अभीष्ट होती थीं। उनकी ये अभीष्ट बातें, देवताओं के ये वर संक्षेप से 'रयि', 'राधस्' इन दो शब्दों में संगृहीत हो जाते हैं, जिनका अर्थ भौतिक रूप से तो धन-दौलत या समृद्धि हो सकता है और आध्यात्मिक रूप से एक आनन्द या सुख-लाभ जो कि आत्मिक संपत्ति के किन्हीं रूपों का आधिक्य होने से होता है। मनुष्य यज्ञ के कार्य में, स्तोत्र में, सोमरस में, घृत या घी में, सम्मिलित प्रयत्न के अपने हिस्से के तौर पर, योग-दान करता है। देवता यज्ञ में जन्म लेते हैं, वे स्तोत्र के द्वारा, सोम-रस के द्वारा तथा घृत के द्वारा बढ़ते हैं और उस शक्ति में तथा सोम के उस आनंद और मद में भरकर वे यज्ञकर्ता के उद्देश्यों को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है उसके मुख्य अंग 'गौ' और 'अश्व' हैं, पर इनके अतिरिक्त और भी हैं, हिरण्य (सोना), वीर (मनुष्य या शूरवीर), रथ (सवारी करने का रथ), प्रजा या अपत्य (संतान)। यज्ञ के साधनों को भी—अग्नि को, सोम को, घृत को—देवता देते हैं और वे यज्ञ में इसके पुरोहित, पवित्रता-कारक, सहायक बनकर उपस्थित होते हैं, तथा यज्ञ में होनेवाले संग्राम में वीरों का काम करते हैं,—क्योंकि कुछ शक्तियां ऐसी होती हैं जो यज्ञ तथा मंत्र से घृणा करती हैं, यज्ञकर्ता पर

आक्रमण करती है और उसके अभीप्सित ऐश्वर्यों को उससे जबर्दस्ती छीन लेती या उसके पास पहुंचने से रोके रखती है। ऐसी उत्कण्ठा से जिस ऐश्वर्य की कामना की जाती है उसकी मुख्य शर्तें हैं उषा तथा सूर्य का उदय होना और द्युलोक की वर्षा का और सात नदियों—भौतिक या रहस्यमय—(जिन्हें कि वेद में द्युलोक की शक्तिशालिनी वस्तुएं 'दिवो यह्वी:' कहा गया है) का नीचे आना। पर यह ऐश्वर्य भी, गौओं की, घोड़ों की, सोने की, मनुष्यों की, रथों की, संतान की यह परिपूर्णता भी अपने-आपमें अंतिम उद्देश्य नहीं है; यह सब एक साधन है दूसरे लोकों को खोल देने का, 'स्व' को अधिगत कर लेने का, सौर लोकों में आरोहण करने का, सत्य के मार्ग द्वारा उस ज्योति को और उस स्वर्गीय सुख को पा लेने का जहां मर्त्य अमरता में पहुंच जाता है।

यह है वेद का असंदिग्ध सारभूत तत्त्व। कर्मकाण्डपरक और गाथापरक अभिप्राय, जो इसके साथ बहुत प्राचीन काल से जोड़ा जा चुका है, बहुत प्रसिद्ध है और उसे विशेष रूप से यहां वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में, यह याज्ञिय पूजा का अनुष्ठान है जिसे मनुष्य का मुख्य कर्तव्य माना गया है और इसमें दृष्टि यह है कि इससे इहलोक में धन-दौलत का उपभोग प्राप्त होगा और यहां के बाद परलोक में स्वर्ग मिलेगा। इस संबंध में हम आधुनिक दृष्टिकोण को भी जानते हैं, जिसके अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, तारे, उषा, वायु, वर्षा अग्नि, आकाश, नदियों तथा प्रकृति की अन्य शक्तियों को सजीव देवता मानकर उनकी पूजा करना, यज्ञ के द्वारा इन देवताओं को प्रसन्न करना, इस जीवन में मानव और द्राविड़ शत्रुओं से और प्रतिपक्षी दैत्यों तथा मर्त्य लुटेरों का मुकाबला करके धन-दौलत को जीतना और अपने अधिकार में रखना और मरने के बाद मनुष्य का देवों के स्वर्ग को प्राप्त कर लेना, बस यही वेद है। अब हम पाते हैं कि अतिसामान्य लोगों के लिये ये विचार चाहे कितने ही युक्तियुक्त क्यों न रहे हों, वैदिक युग के द्रष्टाओं के लिये, ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित मनों (कवि, विप्र) के लिये ये वेद का आन्तरिक अभिप्राय नहीं थे। उनके लिये तो ये भौतिक पदार्थ किन्हीं अभौतिक वस्तुओं के प्रतीक थे, 'गौएं' दिव्य उषा की किरणें या प्रभाएं थीं, 'घोड़े' और 'रथ' शक्ति तथा गति के प्रतीक थे, 'सुवर्ण' था प्रकाश, एक दिव्य

सूर्य की प्रकाशमय संपत्ति—सच्चा प्रकाश, "ऋतं ज्योतिः", यज्ञ से प्राप्त होने-वाली धन-संपत्ति और स्वयं यज्ञ ये दोनों अपने सब अंग-उपांगों के साथ, एक उच्चतर उद्देश्य—अमरता की प्राप्ति—के लिये मनुष्य का जो प्रयत्न है और उसके जो साधन हैं, उनके प्रतीक थे। वैदिक द्रष्टा की अभीप्सा थी मनुष्य के जीवन को समृद्ध बनाना और उसका विस्तार करना, उसके जीवन-यज्ञ में विविध दिव्यत्व को जन्म देना और उसका निर्माण करना, उन दिव्यत्वों की शक्तिभूत जो बल, सत्य, प्रकाश, आनन्द आदि हैं उनकी वृद्धि करना जबतक कि मनुष्य का आत्मा अपनी सत्ता के परिवर्धित और उत्तरोत्तर खुलते जानेवाले लोकों में से होता हुआ ऊपर न चढ़ जाय, जबतक वह यह न देख ले कि दिव्य द्वार (देवीर्द्वार) उसकी पुकार पर खुलकर झूलने लगते हैं और जबतक वह उस दिव्य सत्ता के सर्वोच्च आनंद के अंदर प्रविष्ट न हो जाय जो द्यौ और पृथिवी से परे का है। यह ऊर्ध्व-आरोहण ही अंगिरस ऋषियों की रूपककथा है।

वैसे तो सभी देवता विजय करनेवाले और गौ, अश्व तथा दिव्य ऐश्वर्यों को देनेवाले हैं, पर मुख्य रूप से यह महान् देवता इन्द्र है जो इस संग्राम का वीर और योद्धा है और जो मनुष्य के लिये प्रकाश तथा शक्ति को जीतकर देता है। इस कारण इन्द्र को निरन्तर गौओं का स्वामी 'गोपति' कहकर संबोधित किया गया है; उसका ऐसा भी आलंकारिक वर्णन आता है कि वह स्वयं गौ और घोड़ा है; वह अच्छा दोग्धा है जिसकी कि ऋषि दुहने के लिये कामना करते हैं और जो कुछ वह दुहकर देता है वे हैं पूर्ण रूप और अंतिम विचार; वह 'वृषभ' है, गौओं का सांड है, गौओं और घोड़ों की वह संपत्ति जिसके लिये मनुष्य इच्छा करता है, उसीकी है। ६.२८.५ में यह कहा भी है—'हे मनुष्यो! ये जो गौएं हैं, वे इन्द्र हैं, इन्द्र को ही मैं अपने हृदय से और मन से चाहता हूं।'* गौओं और इन्द्र की यह एकात्मता महत्त्व की है और हमें इसपर फिर लौटकर आना होगा जब हम इन्द्र को कहे मधुच्छन्दस् के सूक्तों पर विचार करेंगे।

पर साधारणतया ऋषि इस ऐश्वर्य की प्राप्ति का इस तरह अलंकार खींचते

---

*इमा या गावः स जनास इन्द्रः, इच्छामि-इद्-हृदा मनसा चिदिन्द्रम्।

है कि यह एक विचार है, जो कि कुछ ऋचाओं के मुकाबले में की गयी है, ये शक्तियां 'दस्यु' हैं, जिन्हें यहाँ इस रूप में प्रकट किया गया है कि ये अभीप्सित ऐश्वर्यों को अपने कब्जे में किये होते हैं जिन ऐश्वर्यों को फिर उनसे छीनना होता है और यही इस रूप में वर्णन है कि वे उन ऐश्वर्यों को आर्यों के पास से चुराते हैं और तब आर्यों को देवों की सहायता से उन्हें खोजना और फिर से प्राप्त करना होता है। इन दस्युओं को जो कि गौओं को अपने कब्जे में किये होते हैं या चुराकर ले जाते हैं 'पणि' कहा गया है। इस 'पणि' शब्द का मूल अर्थ कर्ता, व्योहारी या व्यापारी रहा प्रतीत होता है, पर इस अर्थ को कभी कभी इससे जो और दूर का 'कृपण' का भाव प्रकट होता है उसकी रंगत दे दी जाती है। उन पणियों का मुखिया है 'वल' एक दैत्य जिसके नाम से समझा 'चारों ओर से घेर लेनेवाला' या 'अंदर बन्द कर लेनेवाला' यह अर्थ निकलता है, जैसे 'वृत्र' का अर्थ होता है विरोधी, विघ्न डालनेवाला या सब ओर से बन्द करके रुकनेवाला।

यह सलाह देना बड़ा आसान है कि पणि तो द्रविड़ी-लोग हैं और 'वल' उनका सरदार या देवता है, जैसा कि वे विद्वान् जो वेद में प्रारम्भिक से प्रारम्भिक इतिहास को पढ़ने की कोशिश करते हैं, कहते भी हैं। पर यह आशय जुदा करके देखे *गये सन्दर्भों में ही ठीक ठहराया जा सकता है, अधिकतर सूक्तों में तो ऋषियों के* वास्तविक शब्दों के साथ इसकी संगति ही नहीं बैठती और इससे उनके प्रतीक तथा अलंकार नुमायशी निरर्थक वार्ता के एक गड़बड़ मिश्रण से दीखने लगते हैं। इस असंगति में की कुछ बातों को हम पहले ही देख चुके हैं, यह हमारे सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती चलेगी, ज्यों-ज्यों हम खोयी हुई गौओं के कथानक की और अधिक नजदीक से परीक्षा करेंगे।

'वल' एक गुफा में, पहाड़ों की कन्दरा (बिल) में रहता है, इन्द्र और अंगिरस ऋषियों को उसका पीछा करके वहां पहुंचना है और उसे अपनी दौलत को छोड़ देने के लिये बाध्य करना है, क्योंकि वह गौओं का 'वल' है—'वलस्य गोमत' (१-११५)। पणियों को भी इसी रूप में निरूपित किया गया है कि वे चुरायी हुई गौओं को पहाड़ की एक गुफा में छिपा देते हैं, जो उनका छिपाने का कारागार 'वव्र', या गौओं का बाड़ा 'व्रज', कहलाता है या कभी-कभी सार्थक मुहावरे

में उसे 'गव्यम् ऊर्वम्' (१-७२-८) कह दिया जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'गौओ का विस्तार' या यदि 'गो' का दूसरा भाव ले, तो "ज्योतिर्मय विस्तार", जगमगाती गौओ की विस्तृत सपत्ति। इस खोयी हुई सपत्ति को फिर से पा लेने के लिये 'यज्ञ' करना पडता है, अगिरस या बृहस्पति और अगिरस सच्चे शब्द का, मन्त्र का, गान करते हैं, सरमा, स्वर्ग की कुतिया, ढूढकर पता लगाती है कि गौए पणियो की गुफा में है, सोम रस से बली हुआ इन्द्र और उसके साथी द्रष्टा अगिरस पदचिह्नो का अनुसरण करत हुए गुफा में जा घुसते है, या बलात् पहाड के मजबूत स्थानो को तोडकर खोल देते है, पणियो को हराते है और गौओ को छुडाकर ऊपर हाक ले जाते है।

पहले हम इससे सबध रखनेवाली कुछ उन बातो को ध्यान मे ले आवे जिनकी कि उपेक्षा नही की जानी चाहिये, जब कि हम इस रूपक या कथानक का असली अभिप्राय निश्चित करना चाहते है। सबसे पहली बात यह कि यह कथानक अपने रूपवर्णनो में चाहे कितना यथार्थ क्यो न हो तो भी वेद में यह एक निरी गाथात्मक परपरा मात्र नही है, बल्कि वेद म इसका प्रयोग एक स्वाधीनता और सरलता के साथ हुआ है जिससे कि पवित्र परपरा के पीछ छिपा हुआ इसका सार्थक आलकारिक रूप दिखायी देन लगता है। बहुधा वेद में इसपर से इसका गाथात्मक रूप उतार डाला गया है और इसे मत्र-गायक की वैयक्तिक आवश्यकता या अभीप्सा के अनुसार प्रयुक्त किया गया है। क्योकि यह एक क्रिया है जिसे इन्द्र सदैव कर सकने में समर्थ है, यद्यपि वह इसे एक बार हमेशा के लिये नमूने के रूप में अगिरसो के द्वारा कर चुका है फिर भी वह वर्तमान मे भी इस नमूने को लगातार दोहराता है, वह निरन्तर गौओ की खोजन-गवेपणा-वाला है और इस चुरायी हुई सपत्ति को फिर से पा लेनवाला है।

कही-कही हम केवल इतना ही पाते है कि गौए चुरायी गयी और इन्द्र ने उन्हे फिर से पा लिया, सरमा, अगिरस या पणियो का कोई उल्लेख नही होता। पर सर्वदा यह इन्द्र भी नही होता जो कि गौओ को फिर से छुडाकर लाता है। उदाहरण के लिये, हमारे पास अग्निदेवता का एक सूक्त है, पचम मण्डल का दूसरा सूक्त, जो अत्रियो का है। इसम गायक चुरायी हुई गौओ के अलकार को खुद

अपनी ओर लगाता है, ऐसी भाषा में जो इसके प्रतीकात्मक होने के रहस्य को स्पष्ट तौर से खोल देती है।

'अग्नि' को बहुत काल तक माता पृथ्वी भींचकर अपने गर्भ में छिपाये रहती है, वह उसे उसके पिता द्यौ को नहीं देना चाहती, वहां वह तबतक छिपा पड़ा रहता है, जबतक कि वह माता सीमित रूप में संकुचित रहती है (पेषी), अंत में जब वह बड़ी और विस्तीर्ण (महिषी) हो जाती है तब उस अग्नि का जन्म होता है।[1] अग्नि के इस जन्म का सबंध चमकती हुई गौओं के प्रकट होने या दर्शन होने के साथ दिखाया गया है। "मैंने दूर पर एक खेत में एक को देखा, जो अपने शस्त्रों को तैयार कर रहा था, जिसके दांत सोने के थे, रंग साफ चमकीला था, मैंने उसे पृथक्-पृथक् हिस्सों में अमृत (अमर रस, सोम) दिया, वे मेरा क्या कर लेंगे जिनके पास इन्द्र नहीं है और जिनके पास स्तोत्र नहीं हैं ? मैंने उसे खेत में देखा, जैसे कि यह एक निरन्तर विचरता हुआ, बहुरूप, चमकता हुआ सुखी गौओं का झुंड हो, उन्होंने उसे पकड़ा नहीं, क्योंकि 'वह' पैदा हो गया था; वे (गौएं) भी जो बूढ़ी थी, फिर से जवान हो जाती हैं[2]।" परन्तु यदि इस समय ये दस्यु जिनके पास न इन्द्र है और न स्तोत्र है, इन चमकती हुई गौओं को पकड़ने में अशक्त हैं, तो इससे पहले वे सशक्त थे जब कि यह चमकीला और जबर्दस्त देवत्व उत्पन्न नहीं हुआ था। "वे कौन थे जिन्होंने मेरे बल को (मर्यकम्, मेरे मनुष्यों के समुदाय को, मेरे वीरों को) गौओं से अलग किया ? क्योंकि उन (मेरे मनुष्यों) के पास कोई योद्धा और गौओं का रक्षक नहीं था। जिन्होंने मुझसे उनको लिया है, वे उन्हें छोड़ दें, वह जानता है और पशुओं को

---

[1] कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे ...५.२.१
कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान। ५.२.२

[2] हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः ॥
क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद्यूथं न पुरु शोभमानम्।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति ॥ ५.२.३,४

युद्ध किया है (६-६०-२)" या फिर सोम के साथ मिलकर जैसे—हे अग्नि और सोम ! वह तुम्हारी वीरता ज्ञात हो गयी थी, जब कि तुमने पणियों से गौओं को लूटा था। (१-९३-४)।[२] सोम का संबंध एक दूसरे संदर्भ में इस विजय के लिये इन्द्र के साथ जोड़ा गया है; 'इस देव (सोम) ने शक्ति से उत्पन्न होकर, अपने साथी इन्द्र के साथ पणियों को ठहराया" और दस्युओं के विरुद्ध लड़ते हुए देवों के सब वीरतापूर्ण कार्यों को किया (६-४४-२२, २३, २४)। ६-६२-११ में अश्विनों को भी इस कार्यसिद्धि को करने का गौरव दिया गया है— 'तुम दोनों गौओं से परिपूर्ण मजबूत बाड़े के दरवाजों को खोल देते हो' ।' और फिर १-११२-१८ में फिर कहा है, हे अंगिर ! (युगल अश्विनों को कभी-कभी इस एकत्ववाची नाम में संगृहीत कर दिया जाता है) तुम दोनों मन के द्वारा आनन्द लेते हो और तुम सब से पहले गौओं की धारा-गोअर्णस-के विवर में प्रवेश करते हो',' 'गोअर्णस' का अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रकाश की उन्मुक्त हुई, उमड़ती हुई धारा या समुद्र।

बृहस्पति और भी अधिकतर इस विजय का महारथी है। "बृहस्पति ने, जो सर्वप्रथम परम व्योम में महान् ज्योति में से पैदा हुआ, जो सात मुखोंवाला है, बहुजात है, सात किरणोंवाला है, अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया, उसने स्तुभ् और ऋक् को धारण करनेवाले अपने गण के साथ, अपनी गर्जना द्वारा

'ता योधिष्टमभि गा ।
'अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः ।
'अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत् । ६.४४.२२
'दृळ्हस्य चिद् गोमतो वि व्रजस्य दुरो वर्तम् ।
'याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथोऽग्रं गच्छथो विवरे गो-अर्णसः ।
'बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥

'वल' के टुकडे-टुकडे कर दिये। गर्जता हुआ बृहस्पति हव्य को प्रेरित करने-वाली चमकीली गौओ को ऊपर हाक ले गया और वे गौए प्रत्युत्तर में रंभायी (४-५०-४, ५)' और ६-७३-१ और ३ में फिर कहा है, 'बृहस्पति जो पहाडी (अद्रि) को तोडनेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ है, आगिरस है . .उस बृहस्पति ने खजानो को (वसूनि) जीत लिया, इस देव ने गौओ से भरे हुए बडे-बडे बाडो को जीत लिया'[1]।' मरुत् भी जो कि बृहस्पति की तरह ऋक् के गायक है, इस दिव्य क्रिया मे सबध रखते है, यद्यपि अपेक्षाकृत कम साक्षात् रूप से। 'वह, जिसका हे मरुतो ! तुम पालन करते हो, वाडे को तोडकर खोल देगा'[2] (६-६६-८)'। और एक दूसरे स्थान पर मरुतो की गौए सुनने में आती है '(१-३८-२)'[3]।

पूषा का भी, जो कि पुष्टि करनेवाला है, सूर्य देवता का एक रूप है, आवाहन किया गया है कि वह चुरायी हुई गौओ का पीछा करे और उन्हे फिर से ढूढकर लाये, (६ ५४)–'पूषा हमारी गौओ के पीछे-पीछे जाये, पूषा हमारे युद्ध के घोडो की रक्षा करे (५) हे पूपन्, तू गौओ के पीछे जा (६) . जो खो गया था उसे फिर से हमारे पास हाककर ला दे (१०)[4]।' सरस्वती भी पणियो का वध करनेवाली के रूप में आती है। और मधुच्छन्दस् के सूक्त (१ ११ ५) मे हमें अद्भुत अलकार मिलता है, 'ओ वज्र के देवता, तूने गौओवाले वल की गुफा को खोल दिया; देवता निर्भय होकर शीघ्रता से गति करते हुए (या अपनी शक्ति को व्यक्त करते हुए) तेरे अदर प्रविष्ट हो गये[5]।'

---

[1]यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।.......
बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः। ६-७३-१,३

[2]मरुतो यमवथ...स व्रजं दर्ता। [3]क्व वो गावो न रण्यन्ति।

[4]पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः (५) ...पूषन्ननु प्र गा इहि (६) पुनर्नो नष्टमाजतु (१०)

[5]त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥

क्या इन सब विभिन्न वर्णनों में कुछ एक निश्चित अभिप्राय निहित है, जो इन्हें परस्पर इकट्ठा करके एक संगतिमय विचार के रूप में परिणत कर देगा, अथवा यह बिना किसी नियम के यू ही हो गया है कि ऋषि अपने खोये हुए पशुओं को ढूढने के लिये और युद्ध करके उन्हें फिर से पाने के लिये कभी इस देवता का आवाहन करने लगते हैं और कभी उस देवता का ? बजाय इसके कि हम वेद के अंशों को पृथक्-पृथक् लेकर उनके विस्तार में अपने-आपको भटकावे, यदि हम वेद के विचारों को एक संपूर्ण अवयवी के रूप में लेना स्वीकार करें तो हमें इसका बड़ा सीधा और संतोषप्रद उत्तर मिल जायगा। खोयी हुई गौओं का यह वर्णन परस्परसंबद्ध प्रतीकों और अलंकारों के पूर्ण संस्थान का अंगमात्र है। वे गौएं यज्ञ के द्वारा फिर से प्राप्त होती हैं और आग का देवता अग्नि इस यज्ञ की ज्वाला है, शक्ति है और पुरोहित है,—मंत्र (स्तोत्र) के द्वारा ये प्राप्त होती हैं और बृहस्पति इस मंत्र का पिता है, मरुत् इसके गायक या ब्रह्मा हैं, (ब्रह्माणो मरुत), सरस्वती इसकी अन्तःप्रेरणा है,—रस द्वारा ये प्राप्त होती हैं और सोम इस रस का देवता है, तथा अश्विन इस रस के खोजनेवाले, पा लेनेवाले, देनेवाले और पीनेवाले हैं। गौएं हैं प्रकाश की गौएं, और प्रकाश उषा द्वारा आता है, या सूर्य द्वारा आता है, जिस सूर्य का कि पूषा एक रूप है और अन्तिम यह कि इन्द्र इन सब देवताओं का मुखिया है, प्रकाश का स्वामी है, 'स्व' कहानेवाले ज्योतिर्मय लोक का अधिपति है,—हमारे कथनानुसार वह प्रकाशमय या दिव्य मन है, उसके अंदर सब देवता प्रविष्ट होते हैं और छिपे हुए प्रकाश को खोल देने के उसके कार्य में हिस्सा लेते हैं।

इसलिये हम समझ सकते हैं कि इसमें पूर्ण औचित्य है कि एक ही विजय के साथ इन भिन्न भिन्न देवताओं का संबंध बताया गया है और मधुच्छन्दस् के *आलंकारिक वर्णन में इन देवताओं के लिये यह कहा गया है कि ये 'वल' पर* प्रहार करने के लिये इन्द्र के अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं। कोई भी बात बिना किसी निश्चित विचार के यू ही अटकलपच्चू से या विचारों की एक गड़बड़ अस्थिरता के *वशीभूत होकर नहीं कही गयी है। वेद अपने वर्णनों की संगति में और* अपनी एकवाक्यता में पूर्ण तथा सुरम्य है।

इसके अतिरिक्त, यह जो प्रकाश को विजय करके लाना है वह वैदिक यज्ञ की महान् क्रिया का केवल एक अंग है। देवताओं को इस यज्ञ के द्वारा उन सब वरों को (विश्वा वारा) जीतना होता है जो कि अमरता की विजय के लिये आवश्यक है और छिपे हुए प्रकाशों का आविर्भाव करना केवल इनमें से एक वर है। शक्ति,- 'अश्व' भी वैसी ही आवश्यक है जैसा कि प्रकाश, 'गौ', केवल इतना ही आवश्यक नही है कि 'वल' के पास पहुचा जाय और उसके जुबर्दस्त पजे से प्रकाश को जीता जाय, वृत्र का वध करना और जलों को मुक्त करना भी आवश्यक है; चमकती हुई गौओं के आविर्भाव का अभिप्राय है उषा का और सूर्य का उदय होना; यह फिर अधूरा रहता है, बिना यज्ञ, अग्नि और सोम-रस के। ये सब वस्तुए एक ही क्रिया के विभिन्न अग हैं, कही इनका वर्णन जुदा-जुदा हुआ है, कही वर्गों में, कही सब को इकट्ठा मिलाकर इस रूप में कि मानो यह एक ही क्रिया है, एक महान् पूर्ण विजय है। और उन्हें अधिगत कर लेने का परिणाम यह होना है कि बृहत् सत्य का आविर्भाव हो जाता है और 'स्वः' की प्राप्ति हो जाती है, जो कि ज्योतिर्मय लोक है और जिसे जगह-जगह 'विस्तृत दूसरा लोक', उरुम् उ लोकम् या केवल 'दूसरा लोक', उ लोकम् कहा है। पहले हमें इस एकता को अच्छी तरह हृदयगम कर लेना चाहिये यदि हम ऋग्वेद के विविध सदर्भों मे आनेवाले इन प्रतीकों का पृथक्-पृथक् परिचय समझना चाहते हैं।

इस प्रकार ६.७३ मे जिसका हम पहले भी उल्लेख कर चुके है, हम तीन मन्त्रों का एक छोटा सा सूक्त पाते है जिसमें ये प्रतीक-शब्द सक्षेप में अपनी एकता के साथ इकट्ठे रखे हुए है, इसके लिये यह भी कहा जा सकता है कि यह वेद के उन स्मारक सूक्तों मे से एक है जो वेद के अभिप्राय की और इसके प्रतीकवाद की एकता को स्मरण कराते रहने का काम करते हैं।

"वह जो पहाडी को तोडनेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ, सत्य मे युक्त, बृहस्पति जो आंगिरस है, हवि को देनेवाला है, दो लोकों में व्याप्त होनेवाला, (सूर्य के) ताप और प्रकाश मे रहनेवाला, हमारा पिता है, वह वृषभ की तरह दो लोकों (द्यावापृथिवी) में जोर से गर्जता है (१)। बृहस्पति, जिसने कि-

यात्री मनुष्य के लिये, देवताओं के आवाहन में, उस दूसरे लोक को रचा है, वृत्र-शक्तियों का हनन करता हुआ नगरों को तोड़कर खोल देता है, शत्रुओं को जीतता हुआ और अमित्रों का संग्रामों में पराभव करता हुआ (२)। बृहस्पति उसके लिये खजानों को जीतता है, यह देव गौओं से भरे हुए बड़े-बड़े बाड़ों को जीत लेता है, 'स्व' के लोक की विजय को चाहता हुआ, अपराजेय, बृहस्पति प्रकाश के मंत्रों द्वारा (अर्क) शत्रु का वध कर देता है (३)*।" एक साथ यहां हम इस अनेकमुख प्रतीकवाद की एकता को देखते हैं।

एक दूसरे स्थल में जिसकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक रहस्यमय है, उषा के विचार का और सूर्य के लुप्त प्रकाश की पुनः प्राप्ति या नूतन उत्पत्ति का वर्णन आता है, जिसका कि बृहस्पति के संक्षिप्त सूक्त में स्पष्ट तौर से जिक्र नहीं आ सका है। यह सोम की स्तुति में है, जिसका प्रारम्भिक वाक्य पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, (६.४४.२२) "इस देव (सोम) ने शक्ति द्वारा पैदा होकर अपने साथी इन्द्र के साथ पणि को ठहराया, इसीने अपने अशिव पिता (विभक्त सत्ता) के पास से युद्ध के हथियारों को और ज्ञान के रूपों को (माया) छीना।२२। इसीने उषाओं को शोभन पतिवाला किया, इसीने सूर्य के अंदर ज्योति को रचा, इसीने द्युलोक में–इसके दीप्यमान प्रदेशों (स्व के तीन लोकों) में–(अमरत्व के) त्रिविध तत्त्व को, और त्रिविभक्त लोकों में छिपे हुए अमरत्व को पाया (यह अमृत का पृथक्-पृथक् हिस्सों में देना है जिसका कि अत्रि के अग्नि को संबोधित किये गये सूक्त में वर्णन आया है, सोम का त्रिविध हव्य है जो कि तीन स्तरों पर, 'त्रिषु सानुषु', शरीर, प्राण और मन पर दिया गया है)।२३। इसीने द्यावापृथिवी को थामा, इसीने

---

*यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥१॥
जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥
बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥३॥(६.७३.)

सात रश्मियोंवाले रथ को जोड़ा। इसीने अपनी शक्ति के द्वारा (मधु या घृत के) पके फल को गौओं में रखा और दस गतियोंवाले स्रोत को भी।"[1]

यह मुझे सचमुच बड़ी हैरानी की बात लगती है कि इतने सारे तेज और आला दिमाग ऐसे सूक्तों को जैसे कि ये हैं, पढ़ गये और उन्हें यह समझ में न आया कि ये प्रतीकवादियों और रहस्यवादियों की पवित्र, धार्मिक कविताएं हैं, न कि प्रकृति-पूजक जंगलियों के गीत या उन असभ्य आर्यन आक्रान्ताओं के जो कि सभ्य और वेदान्तिक द्रविड़ियों से लड़ रहे थे।

अब हम शीघ्रता के साथ कुछ दूसरे स्थलों को देख जायं जिनमें कि इन प्रतीकों का अपेक्षाकृत अधिक बिखरा हुआ संकल्प पाया जाता है। सबसे पहले हम यह पाते हैं कि पहाड़ी में बने हुए गुफारूपी बाड़े के इस अलंकार में गौ और अश्व इकट्ठे आते हैं, जैसे कि अन्यत्र भी हम यही बात देखते हैं। यह हम देख चुके हैं कि पूषा को पुकारा गया है कि वह गौओं को खोजकर लाये और घोड़ों की रक्षा करे। आर्यों की संपत्ति के ये दो रूप हमेशा लुटेरों ही की दया पर [2] पर आइये, हम देखें। "इस प्रकार सोम के आनंद में आकर तूने, ओ वीर (इन्द्र) [1] गाय और घोड़े के बाड़े को तोड़कर खोल दिया, एक नगर की न्याईं (८.३२.५)"[1] हमारे लिये तू बाड़े को तोड़कर सहस्रों गायों और घोड़ों को खोल दे। (८.३४.१४)[1]।' "हे इन्द्र ! तू जिस गौ, अश्व और अविनश्वर सुख को धारण करता है, उसे तू यज्ञकर्त्ता के अंदर स्थापित कर, पणि के अंदर नहीं,

---

[1]अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्।
अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः ॥२२॥
अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम् ॥२३॥
अयं द्यावापृथिवी विष्कभायदयं रथमयुनक् सप्तरश्मिम्।
अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥२४॥ (६.४४)

[2]स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः। पुरं न शूर दर्षसि ॥

[3]आ नो गव्यान्यश्व्या सहस्रा शूर दर्दृहि।

उसे जो नींद में पड़ा है, कर्म नहीं कर रहा है और देवों को नहीं ढूंढ रहा है, अपनी *ही चालों से मरने दे; उसके पश्चात् (हमारे अंदर) निरन्तर ऐश्वर्य को रख जो अधिकाधिक पुष्ट होने जानेवाला हो, (८.९७.२-३)*।"

एक दूसरे मन्त्र में पणियों के लिये कहा गया है कि वे गौ और घोड़ों की संपत्ति को रोक रखते हैं, अवरुद्ध रखते हैं। हमेशा ये वे शक्तियां होती हैं जो अभीप्सित संपत्ति को पा तो लेती हैं, पर इसे काम में नहीं लाती, नींद में पड़े रहना पसंद करती हैं, *दिव्य कर्म (व्रत) की उपेक्षा करती हैं और ये ऐसी शक्तियां हैं जिन्हें अवश्य* नष्ट हो जाना या जीत लिया जाना चाहिये इससे पहले कि संपत्ति सुरक्षित रूप से यज्ञकर्त्ता के हाथ में आ सके और हमेशा ये 'गौ' और 'घोड़े' उस संपत्ति को सूचित करते हैं जो छिपी पड़ी है और कारागार में बन्द है और जो किसी दिव्य *पराक्रम के द्वारा खोले जाने तथा कारागार से छुड़ाये जाने की अपेक्षा रखती है।*

चमकनेवाली गौओं की इस विजय के साथ उषा और सूर्य की विजय का या उनके जन्म होने का अथवा प्रकाशित होने का भी संबंध जुड़ा हुआ है, पर यह एक ऐसा विषय चल पड़ता है जिसके अभिप्राय पर हमें एक दूसरे अध्याय में विचार करना होगा। और गौओं, उषा तथा सूर्य के साथ संबंध जुड़ा हुआ है जलों का, क्योंकि जलों के बंधनमुक्त होने के साथ वृत्र का वध होना और गौओं के बंधन-मुक्त होने के साथ 'बल' का पराजित होना ये दोनों परस्पर सहचरी गाथाएं हैं। ऐसी बात नहीं कि ये दोनों कथानक बिल्कुल एक दूसरेसे स्वतंत्र हों और आपस-में इनका कोई संबंध न हो। कुछ स्थलों में, जैसे १.३२.४ में, हम यहांतक देखते हैं कि वृत्र के वध को सूर्य, उषा और द्युलोक के जन्म का पूर्ववर्ती कहा गया है और इसी प्रकार कुछ अन्य संदर्भों में पहाड़ी के खुलने को जलों के प्रवाहित होने का पूर्ववर्ती समझा गया है। दोनों के सामान्य संबंध के लिये हम निम्नलिखित

---

*यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ।
य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयुः।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत् पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि तं ततः॥

सदर्भों पर ध्यान दे सकते हैं–

(७ ९० ४) 'पूर्ण रूप से जगमगाती हुई और अहिंसित उषाए खिल उठीं; ध्यान करते हुए उन्होने (अगिरसा ने) विस्तृत ज्योति को पाया, उन्होंने जो इच्छुक थे, गौओ के विस्तार को खोल दिया और उनके लिये द्युलोक से जल प्रस्रवित हुए।''

(१ ७२ ८) 'यथार्थ विचार के द्वारा द्युलोक की सात (नदियो) ने सत्य को जान लिया और सुख के द्वारो को जान लिया, सरमा ने गौओ के दृढ़ विस्तार को ढूढ़ लिया और उसके द्वारा मानवी प्रजा सुख भोगती है।''

(१ १०० १८) इन्द्र तथा मरुतो के विषय में, 'उसने अपने चमकते हुए सखाओ के साथ क्षेत्र को अधिगत किया, सूर्य को अधिगत किया, जलो को अधिगत किया।''

(५ १४ ८) अग्नि के विषय म, 'अग्नि उत्पन्न होकर, दस्युओ का हनन करता हुआ, ज्योति से अधकार का हनन करता हुआ, चमकने लगा, उसने गौओ को, जलो को और स्व को पा लिया।''

(६ ६० २) इन्द्र और अग्नि के विषय में, 'तुम दोनोंने युद्ध किया। गौओं के लिये जलो के लिये, स्व के लिये, उषाओ के लिय जो छिन गयी थी, हे इन्द्र! हे अग्न! तू (हमारे लिये) प्रदेशो को, स्व को, जगमगाती उषाओ को, जलों का और गौओ को एकत्र करता है।''

'उच्छन्नुषस सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्याना।
गव्य चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिव सस्रुराप॥

'स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्य सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु क मानुषी भोजते विट॥

'सनत् क्षेत्र सखिभि श्वित्न्येभि सनत् सूर्यं सनदप सुवज्र।

'अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तम। अविन्दद् गा अप स्व॥

'ता योधिष्टमभि गा इन्द्र नूनमप स्वरुषसो अग्न ऊळ्हा।
दिश स्वरुषस इन्द्र चित्रा अपो गा अग्ने युवसे नियुत्वान्॥

(१.३२ १२) इन्द्र के विषय में, 'ओ वीर! तूने गौ को जीता, तूने सोम को जीता; तूने सात नदियों को अपने स्रोत में बहने के लिये ढीला छोड दिया।[1]'

अन्तिम उद्धरण में हम देखते है कि इन्द्र की विजित वस्तुओ के बीच में सोम भी गौओं के साथ जुड़ा हुआ है। प्रायश साम का मद ही वह शक्ति होती है जिसमें भरकर इन्द्र गौओं को जीतता है, उदाहरण के लिये देखो—३ ४३ ७, साम 'जिसके मद में तूने गौओं के बाडा को खोल दिया,[2]' २ १५ ८, 'उसने अगिरसो से स्तुत होकर, 'वल' को छिन्न भिन्न कर दिया और पर्वत के दृढ स्थानो को उछाल फेंका; उसने इनकी कृत्रिम बाधाओ को अलग हटा दिया, ये सब काम इन्द्र ने सोम के मद में किये।[3]' फिर भी, कहीं-कहीं यह क्रिया उलट गयी है और प्रकाश सोम-रस के आनद को लानेवाला हो गया है, अथवा ये दोनो एक साथ आते है, जैसे १ ६२ ५ में "ओ कार्यों को पूर्ण करनेवाले! अगिरसो से स्तुति किये गये तूने उषा के साथ (या उषा के द्वारा), सूर्य के साथ (या सूर्य के द्वारा) और गौओ के साथ (या गौओ के द्वारा) सोम का खोल दिया[4]।"

अग्नि भी, सोम की तरह, यज्ञ का एक अनिवार्य अग है और इसलिये हम अग्नि को भी परस्पर सबध प्रदर्शित करनेवाले इन सूत्रो में सम्मिलित हुआ पाते हैं, जैसे ७.९९ ४ में, 'सूर्य, उषा और अग्नि को प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोने विस्तृत दूसरे लोक को यज्ञ के लिये (यज्ञ के उद्देश्य के रूप में) रचा[5]।' और इसी सूत्र को हम ३ ३१ १५[6] में पाते है, फर्क इतना है कि वहा इसके साथ

---

[1]अजयो गा अजय शूर सोममवासृज सर्तवे सप्त सिन्धून्।

[2]यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ।

[3]भिनद् वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत्।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥

[4]गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।

[5]उरु यज्ञाय चक्रथुरु लोक जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्।

[6]इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साक सूर्यमुषसं गातुमग्निम्

'मार्ग' (गातु) और जुड गया है, और यही सूत्र ७ ४४ ३* में भी है, पर वहा इनके अतिरिक्त 'गौ' का नाम अधिक है।

इन उद्धरणो से यह प्रकट हो जायगा कि वेद के भिन्न भिन्न प्रतीक और रूपक कैसी घनिष्ठता के साथ आपस मे जुडे हुए है। और इसलिये हम वेद की व्याख्या के सच्चे रास्ते से चूक जायगे यदि हम अगिरसो तथा पणियो के कथानक को इस रूप म लेगे कि यह एक औरो से अलग ही स्वतन्त्र कथानक है, जिसकी हम अपनी मर्जी से जैसी चाहे व्याख्या कर सकते है, बिना ही इस बात की विशेष सावधानी रखे कि हमारी व्याख्या वेद के सामान्य विचार के साथ अनुकूल भी बैठती है, और बिना ही उस प्रकाश का ध्यान रखे जो कि प्रकाश वेद के इस सामान्य विचार द्वारा कथानक की उस आलकारिक भाषा पर जिसमें कि यह वर्णित किया गया है पडता है।

*अग्निमुष द्रुव उषस सूर्यं गाम्।

सोलहवां अध्याय

खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौएं

सूर्य और उषा का विजय कर लेना या इनका फिर से प्रकट होना इस विषय का वर्णन ऋग्वेद के सूक्तों में बहुत पाया जाता है। कहीं तो यह इस रूप में मिलता है कि 'सूर्य' को ढूंढकर प्राप्त कर लिया गया और कहीं 'स्व' अर्थात् सूर्य के लोक को प्राप्त किया गया या इसे विजय किया गया, ऐसा वर्णन है। सायण ने यद्यपि 'स्व' को 'सूर्य' का पर्याय मान लिया है, फिर भी कई स्थलों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि 'स्व' एक लोक का नाम है, उस उच्च लोक का जो कि सामान्य पृथ्वी और आकाश से ऊपर है। कहीं-कहीं अवश्य इस 'स्व' का प्रयोग 'सौर ज्योति' के लिये हुआ है, जो कि सूर्य की और इसके प्रकाश से निर्मित लोक की दोनोंकी ज्योति के लिये है। हम देख चुके हैं कि वह जल जो कि स्वर्ग से नीचे उतरता है और जो इन्द्र और उसके मर्त्य साथियों द्वारा जीता जाकर उपभोग किया जाता है 'स्वर्वती आप' के रूप में वर्णित किया गया है। सायण इस 'आप' को भौतिक जल मानकर 'स्वर्वती' का कोई दूसरा अर्थ निकालने के लिये बाध्य था और इसलिये वह लिखता है कि इसका अर्थ है, 'सरणवती' अर्थात् बहनेवाले। परंतु यह स्पष्ट ही एक खींचातानी का अर्थ है, जो कि मूल शब्द से निकलता हुआ प्रतीत नहीं होता और जो शायद किया भी नहीं जा सकता। इन्द्र के वज्र को स्वर्लोक का पत्थर, स्वर्य अश्मा, कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसका प्रकाश वही है जो सौर ज्योति से जगमगाते इस लोक से आता है। इन्द्र स्वयं 'स्वर्पति' अर्थात् इस ज्योतिर्मय लोक 'स्व' का अधिपति है।

इसके अतिरिक्त, जैसे हम देखते हैं कि गौओं को खोजना और फिर से प्राप्त कर लेना यह सामान्यतया इन्द्र का कार्य वर्णन किया जाता है और वह बहुधा अंगिरस ऋषियों की सहायता से तथा अग्नि और सोम के मन्त्र व यज्ञ के द्वारा होता

हैं, वैसे ही सूर्य के खोजने और फिर से पा लेने का सबध भी इन्ही साधनो और हेतुओ के साथ हैं। साथ ही इन दोनो क्रियाओ का एक दूसरेके साथ निरन्तर सबध है। मुझे लगता है कि स्वय वेद में ही इस बात की पर्याप्त साक्षी है कि ये सब वर्णन असल मे एक ही महान् क्रिया के अगभूत हैं। गौएं उषा या सूर्य की छिपी हुई किरणें हैं और अधकार से उनकी मुक्ति उस सूर्य के जो कि अधकार में छिपा हुआ था उदय हो जाने का कारण होती है या चिह्न है। यही उच्च ज्योतिर्मय लोक 'स्व' की विजय है, जो कि हमेशा यज्ञ की, यज्ञिय अवस्थाओं और यज्ञ के सहायक देवो की सहायता से होनी है। मैं समझता हू, इतने परिणाम नि सदेह स्वय वेद की भाषा से निकलते हैं। परतु साथ ही वेद की उस भाषा से इस बात का भी सकेत मिलता है कि यह 'सूर्य' दिव्य-ज्योति को देनेवाली शक्ति का प्रतीक है और 'स्व' दिव्य सत्य का लोक है और इस दिव्य सत्य की विजय ही वैदिक ऋषियो का वास्तविक लक्ष्य और उनके सूक्तो का मुख्य विषय है। अब मैं यथासभव शीघ्रता के साथ उस साक्षी की परीक्षा करूगा जिससे हम इन परिणामो पर पहुचते हैं।

सबसे पहले, हम देखते हैं कि वैदिक ऋषियो के विचार में 'स्व' और 'सूर्य' भिन्न-भिन्न वस्तुएं है, पर साथ ही इन दोनोमे एक घनिष्ठ सबध भी है। उदाहरण के लिये भरद्वाज के सूक्त (६ ७२ १) में सोम और इन्द्र को कहा गया है—"तुमने सूर्य को प्राप्त किया, तुमने स्व को प्राप्त किया, तुमने सब अधकार और सीमाओ को छिन्न-भिन्न कर दिया।"[1] इसी प्रकार वामदेव के सूक्त[2] ४ १६ ४ म इन्द्र को कहा है—"जब प्रकाश के सूक्तो द्वारा (अर्कै) स्व सुदृश्य रूप में पा लिया गया और जब उन (अगिराओ ने) रात्रि मे से महान् ज्योति को चमकाया उस समय उस (इन्द्र) ने अधकार के सब बधनो को ढीला कर दिया

---

[1] युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च। (ऋग् ६ ७२.१)

[2] स्वर्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥
(ऋक् ४.१६.४)

जिसमें कि मनुष्य अच्छी तरह देख सकें।" पहले वर्णन में हम यह देखते हैं कि 'स्व' और 'सूर्य' परस्पर भिन्न हैं न कि 'स्व' सूर्य का ही एक दूसरा नाम है। पर साथ ही 'स्व' का पाया जाना और 'सूर्य' का पाया जाना दोनों क्रियाओं में बहुत निकट संबंध है, बल्कि असल में ये दोनों मिलकर एक ही प्रक्रिया हैं और इनका परिणाम यह है कि सब अधकार और सीमाएं नष्ट हो जाती हैं। वैसे ही, दूसरे स्थल में 'स्व' के सुदृश्य रूप में प्रकट होने को गत्रि में से महान् ज्योति के चमक निकलने के साथ जोड़ा गया है, जिसे हम अन्य स्थलों के इस वर्णन के साथ मिला सकते हैं कि अगिरसों ने अधकार से ढके हुए सूर्य को फिर से प्रकट किया। सूर्य को अगिरसों ने अपनी सूक्तों या सत्य मत्रों की शक्ति द्वारा प्राप्त किया और 'स्व' भी अगिरसों के सूक्तों के द्वारा (अर्क) प्राप्त और प्रकट (सुदृश्य) किया गया। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'स्व' में रहनेवाला पदार्थ एक महान् ज्योति है और वह ज्योति सूर्य की ज्योति है।

यदि दूसरे वर्णनों से यह स्पष्ट न होता कि 'स्व' एक लोक का नाम है तो शायद हम यह भी कल्पना कर सकते थे कि यह 'स्व' शब्द सूर्य, प्रकाश या आकाश का ही वाचक एक दूसरा शब्द होगा। पर बार-बार 'स्व' के विषय में कहा गया है कि यह एक लोक है जो कि रोदसी अर्थात् द्यावापृथिवी से परे है या दूसरे शब्दों में इसे विस्तृत लोक 'उरु लोक' या विस्तृत दूसरा लोक 'उरु उ लोक' या केवल वह (दूसरा) लोक 'उ लोक' कहा है। इसका वर्णन यों किया गया है कि यह महान् ज्योति का लोक है, जहां भय से निनान्त मुक्ति है और जहां गौएं अर्थात् सूर्य की किरणें स्वच्छन्द होकर क्रीडा करती हैं।

ऋग्* ६-४७-८ में कहा है--"हे इन्द्र! जानता हुआ तू हमें उस उरु लोक को, 'स्व' तक को प्राप्त कराता है, जो ज्योतिर्मय है, जहां भय नहीं है और जो सुखी जीवन (स्वस्ति) से युक्त है।" ऋग् ३-२-७ में वैश्वानर अग्नि को द्यावापृथिवी और महान् 'स्व' में आपूरित होता हुआ वर्णन किया गया है-- "आ रोदसी अपृणदा स्वर्महत्"। इसी प्रकार वसिष्ठ अपने सूक्त में विष्णु

*उरु नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।

को कहता है—"ओ विष्णु ! तुमने दृढता से इस द्यावापृथिवी को थामा हुआ है और (सूर्य की) किरणो द्वारा पृथिवी को धारण किया हुआ है और सूर्य, उषा और अग्नि को प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोनो, यज्ञ के लिये (अर्थात् यज्ञ के परिणामस्वरूप) इस दूसरे विस्तृत लोक (उरुम् उ लोकम्) को रचा है"[1] ऋग् ७-९९-३, ४। यहा भी हम सूर्य और उषा की उत्पत्ति या आविर्भाव के साथ विस्तृत लोक स्व का निकट सम्बन्ध देखते है।

इस 'स्व' के विषय मे कहा है कि यह यज्ञ के द्वारा मिलता है, यही हमारी जीवनयात्रा का अन्त है, यह वह बृहत् निवासस्थान है जहा हम पहुचते है, वह महान् लोक है जिसे सुकर्मा लोग प्राप्त करते है (सुकृतामु लोकम्)। अग्नि द्यु और पृथिवी के बीच मे दूत होकर विचरता है और इस बृहत् निवासस्थान 'स्व' को अपनी सत्ता द्वारा चारो ओर से घेरता है, "क्षय बृहन्त परि भूपति ३-३-२"। यह 'स्व' आनन्द का लोक है और उन सब ऐश्वर्यों से भरपूर है जिनकी वैदिक ऋषियो को अभीप्सा होती है। ऋग्[2] ५-४-११ मे कहा है—

"हे जातवेद अग्नि ! जिस पुरुष के लिये, उसके सुकर्मा होने के कारण, तू उस सुखमय लोक को प्रदान करता है वह पुरुष अश्व, पुत्र, वीर, गौ आदि से युक्त ऐश्वर्य को और स्वस्ति को प्राप्त करता है।"

यह आनन्द मिलता है, ज्योति के उदय होने से। अगिरस इसे इच्छुक मनुष्यजाति के लिये तब ला पाते है जब वे सूर्य, उषा और दिन को प्रकट कर लेते है। "स्व को प्राप्त करनेवाले इन्द्र ने दिनो को प्रकट करके इच्छुको[3] (अगिरसो) के द्वारा—उशिग्भि—विरोधी सेनाओ को जीता है, उसने मनुष्य

---

[1]"व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखै"।
"उरु यज्ञाय चक्रथुरु लोक जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्" ॥ (ऋ० ७।९९।३,४)

[2]यस्मै त्व सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणव स्योनम्।
अश्विन स पुत्रिण वीरवन्त गोमन्त रयि नशते स्वस्ति ॥(५।४।११)

[3]'उशिग्भि' शब्द 'नृ' की तरह मनुष्य और देवता के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु 'नृ' के समान ही कभी-कभी विशेषकर 'अगिराओ' का ही निर्देश करता है।

के लिये दिनों के प्रकाश को (केतुम् अह्नाम्) उद्भासित किया है और बृहत् सुख के लिये ज्योति को अधिगत किया है' --अविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ३-३४-४[1]।

यदि इन और इसी प्रकार के अन्य केवल खण्डश उद्धृत वैदिक वाक्यों को देखा जाय, तो अवश्य हमने जो कुछ कहा है इस सबकी व्याख्या वेदाक इस प्रकार भी की जा सकती है कि, रेड इण्डियन लोगों की एक धारणा के सदृश, आकाश और पृथ्वी से परे सूर्य की किरणों से रचा हुआ एक भौतिक लोक है, यह एक विस्तृत लोक है, वहा मनुष्य सब भय और बाधाओं से स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छाओं को तृप्त करते हैं और उन्हे अगम्य घोडे, गौ, पुत्र, सेवक आदि मिलते हैं। परन्तु जो कुछ हम सिद्ध करना चाहते हैं वह यह नहीं है। बल्कि इसके विपरीत, यह विस्तृत लोक 'बृहद् द्यौ' या 'स्व' जिसे हमने द्यु और पृथ्वी से परे पहुचकर पाना है,[2] यह अनिस्वर्गिक महान् विस्तार, यह असीम प्रकाश एक अति-मानस उच्चलोक है, मनोतीत दिव्य 'सत्य' और अमर आनन्द का अत्युच्च लोक है और इसमें रहनेवाली ज्योति, जो इसकी सारवस्तु और इसकी तात्त्विक वास्तविकता है, 'सत्य' की ज्योति है।

परन्तु इस समय तो इतने पर ही बल देना पर्याप्त है कि यह एक लोक है जो किसी अन्धकार के कारण हमारी दृष्टि से ओझल हुआ हुआ है, इस हमने पाना है तथा स्पष्ट रूप मे देखना है और यह देखना व पाना इस बात पर आश्रित है कि उषा का जन्म हो, सूर्य का उदय हो और सूर्य की गौए अपनी गुप्त गुहा मे निकलकर बाहर आवे। वे आत्माए जो यज्ञ में सफल होती हैं 'स्वर्दृंश्' हो जाती है, 'स्व' को देख लेती हैं और 'स्वर्विद्' हो जाती हैं अर्थात् 'स्व' को पा

---

[1] इन्द्र स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भि पृतना अभिष्टि।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय। (३।३४।४)

[2] क्योंकि ऐसा परे पहुचने का वर्णन अनेक बार हुआ है। उदाहरण के लिये, "मनुष्यों ने वृत्र का हनन करके आकाश और पृथ्वी दोनोंको पार करके अपने निवास के लिये बृहत् लोक को बनाया" घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे। (ऋ० १-३६-८)

लेती है या जान लेती है। 'स्वर्विद्' में 'विद्' धातु है जिसके पाना और जानना दोनो ही अर्थ हैं और एक दो स्थलो में तो इसके स्थान पर स्पष्ट ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु का ही प्रयोग हुआ है और वेद म ही यह भी कहा है कि अन्धकार में से प्रकाश को जाना गया।

अब 'स्व' या इस बृहत् लोक का स्वरूप क्या है यह प्रश्न है जो शेष रहता है और इसका निर्णय वेद की व्याख्या के लिये बहुत ही महत्त्व का है। क्योकि 'वेद जगलियो के गीत हैं' और 'वेद प्राचीन सत्य ज्ञान की पुस्तक है' इन दोनो अति विभिन्न कल्पनाओ में से किसी एकका ठीक होना इस निर्णय पर इधर या उधर हो सकता है। परन्तु इस प्रश्न का पूरा पूरा निर्णय तो इस बृहत् लोक का वर्णन करनेवाले सैकडों बल्कि अधिक प्रकरणो के विवाद में पडे बिना नही हो सकता है और यह इन अध्याया के क्षेत्र से बिल्कुल बाहर का विषय हो जाता है। पर फिर भी आगिरस सूक्तो पर विचार करते हुए और उसके बाद हम इस प्रश्न को फिर उठायगे।

तो यह सिद्ध हुआ कि 'स्व' को देखने या प्राप्त करने के लिये सूर्य और उषा के जन्म को एक आवश्यक शर्त मानना चाहिये और इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेदो मे इस सूर्य की कथा को या आलकारिक वर्णन को तथा 'सत्य मत्रो' के द्वारा अधकार में से ज्योति को चमकाने, पाने और जन्म देने के विचार को क्यो इतना महत्त्व दिया गया है? इसको करनेवाले इन्द्र और अगिरस है और ऐसे स्थल बहुत से है जिनम इसका वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि इन्द्र और अगिराओ ने 'स्व' या 'सूर्य' को पाया (अविदत्), इसे चमकाया या प्रकाशित किया (अरोचयत्), इसे जन्म दिया* (अजनयत्) और इसे विजय करके अधिगत किया (सनत्)। वास्तव म अधिकतर अकेले इन्द्र का ही वर्णन आता है। इन्द्र वह है जो रात्रि में से प्रकाश का उदय करता है और सूर्य को जन्म देता है—'क्षपा वस्ता जनिता सूर्यस्य ३।४९।४।" उसन सूर्य और उषा को उत्पन

*हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यज्ञ में देवताओ के प्रकट होने को वेद में उनके जन्म के रूप म वर्णन किया गया है।

किया है' (७।१७।७)। या और विस्तृत रूप में कहें, तो उसने सूर्य, द्यौ और उषा तीनों को इकट्ठा जन्म दिया है' (६।३०।५)। स्वयं चमकता हुआ यह उषा को चमकाता है, स्वयं चमकता हुआ वह सूर्य को प्रकाशमय करता है—"हर्यन्नुषसमर्चय सूर्यं हर्यन्नरोचय ३।४४।२"। ये सब उस इन्द्र के महान् कर्म हैं, 'जजान सूर्यं उषसं सुदंसा' (३।३२।८)'। वह सुवज्र इन्द्र अपने चमकवर्ण (चमकते हुए) मरुतों के क्षेत्र' को जीतकर अपने अधिकार में कर लेता है, सूर्य को अधिकृत करता और जलों को अधिकृत करता है—'सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत् सूर्यं सनदपः सुवज्रः १।१००।१८'। वह इन्द्र दिनों को जन्म देने द्वारा 'स्वः' को भी जीतनेवाला है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं (स्वर्षा)। इन सब पृथक्-पृथक् वेद के वाक्यों में सूर्य के जन्म का हम यह भी अर्थ ले सकते हैं कि यह सूर्य की प्रारंभिक उत्पत्ति का वर्णन है, जो सूर्य पहले नहीं था उसे देवताओं ने रचा, परंतु जब हम इन वाक्यों का दूसरे वाक्यों के साथ समन्वय करके देखेंगे तो हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा। सूर्य का यह जन्म उषा के साथ उसका जन्म है, उदय है, रात्रि में से उसका जन्म है। यह जन्म यज्ञ के द्वारा होता है—"इन्द्रः सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत् (२।२१।४)। इन्द्र ने अच्छी प्रकार यज्ञ करके उषाओं और सूर्य को उत्पन्न किया।" और मनुष्य की सहायता से यह संपन्न होता है—"अस्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत्"—हमारे 'मनुष्यों' के द्वारा इसने सूर्य को जीता (१।१००।६)। और बहुत से मंत्रों में इसे अंगिरसों के कार्य का फल वर्णन किया गया है और इसका संबंध गौओं के मुक्त होने और पहाड़ियों के तोड़े जाने के साथ है।

यह सब अवस्था है जो कि हमें ऐसी कल्पना नहीं करने दे सकती—जो कि

'यः सूर्यं य उषसं जजान। (ऋ० २।१२।७)

'साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासम्।

'इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः ॥(ऋ० ३।३२।८)

'क्या यह वही क्षेत्र नहीं है जिसमें अग्नि ने चमकती हुई गौओं को देखा था ?

अन्यथा की जा सकती थी—कि सूर्य का जन्म या प्राप्ति केवल उस आकाश (इन्द्र) का वर्णन है जिसमें प्रतिदिन उष:काल में सूर्य का उदय होता है। जब इन्द्र के बारे में यह कहा जाता है कि वह घने अधकार में भी ज्योति को पा लेता है (सो अधे चित्तमसि ज्योतिर्विदत्) तो यह स्पष्ट है कि यह उसी ज्योति की ओर संकेत है जिस एक ज्योति को अग्नि और सोम ने बहुतो के लिये पाया था—("अविन्दत ज्योतिरेकं बहुभ्य" १.९३.४)—जब कि उन्होंने पणियो की गौओ को चुराया था।[1] यह "वह जागृत ज्योति है जिसे सत्य की वृद्धि करनेवाला ने उत्पन्न किया था, एक देव को देव (इन्द्र) के लिये उत्पन्न किया"(८.८९.१)।[2] यह वह गुप्त ज्योति (गुह्य ज्योति) है जिसे पितरो ने, अगिरसों ने उस समय पाया था जब कि उन्होंने अपने सत्य मत्रो के द्वारा उषा को जन्म दिया था। यह वही ज्योति है जिसका वर्णन मनु वैवस्वत या कश्यप ऋषि के 'विश्वेदेवा' देवताक रहस्यमय सूक्त में है, जिसमें कहा गया है—"उनमेंसे कुछने ऋक् का गायन करते हुए महत् साम को सोच निकाला और उससे उन्होंने सूर्य को चमकाया ८.२९.१०"।[3] और यह ज्योति मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई हो ऐसा नही है,[4] क्योकि ऋ० ७.९१.१ में कहा है—"हमारे नमस्कार से वृद्धि को पानेवाले, प्राचीन और निष्पाप देवो ने (अधकार की शक्तियो से) आच्छादित मनुष्य के लिये सूर्य से उषा को चमकाया।" यह उस सूर्य की प्राप्ति है जो अधकार के अदर रह रहा था और यह प्राप्ति अगिराओ ने अपने दस महीनो के यज्ञ के द्वारा की। वेद की इस कहानी या अलकार-वर्णना का प्रारभ कहींसे भी क्यो न हुआ हो, यह बहुत प्राचीन है और बहुत जगह

---

[1]अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः ॥१.९३.४

[2]येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि। ऋ० ८.८९.१

[3]अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ८.२९.१०

[4]कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन्।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण ॥ ऋ० ७.९१.१

फैली हुई है और इसमें यह कल्पना की गयी है कि सूर्य एक लंबे काल तक लुप्त (खोया हुआ) रहा और इस बीच में मनुष्य अंधकार से आच्छादित रहा। यह कहानी भारतवर्ष के आर्यलोगो में ही नहीं, किंतु अमेरिका के उन 'मय' लोगों में भी पायी जाती है जिनकी सभ्यता अपेक्षया जंगली और संभवत इजिप्शियन संस्कृति का पुराना रूप थी। वहां भी यही किस्सा है कि सूर्य कई महीनों तक अंधेरे में छिपा रहा और बुद्धिमान् लोगों (अंगिरस ऋषियो ?) की प्रार्थनाओं और पवित्र गीतो से वह फिर प्रकट हुआ। वेद के अनुसार ज्योति का यह पुनरुदय पहिले-पहल आंगिरस नामक सप्तर्षियो से हुआ है, जो कि मनुष्यों के पूर्व पितर है और फिर इसे उनसे लेकर निरंतर मनुष्य के अनुभव में दोहराया गया है।

इस विश्लेषण द्वारा हमें यह मालूम हो जायगा कि वेद में जो ये दो कहानियां आती है—पहिली यह कि सूर्य लुप्त था और यज्ञ द्वारा तथा मंत्र द्वारा इन्द्र और आंगिरसो ने उसे पुन प्राप्त किया और दूसरी यह कि गौएं लुप्त थी और उन्हें भी मंत्र द्वारा इन्द्र और आंगिरसो ने ही पुन प्राप्त किया—वे दो अलग-अलग गाथाएं नहीं, किंतु वे वास्तव में एक ही गाथा है। इस एकात्मता पर हम पहले ही बल दे चुके है, जब कि हमने गौओ और उषा के परस्पर संबंध के विषय में विवाद चलाया था। गौएं उषा की किरणें हैं, सूर्य की 'गौएं' है, वे भौतिक शरीरधारी पशु नहीं हैं। लुप्त गौएं सूर्य की लुप्त हुई-हुई किरण हैं और उनका फिर से उदय होना लुप्त सूर्य के पुनरुदय की पहले से सूचना देता है। परंतु अब यह आवश्यक है कि स्वयं वेद की ही स्पष्ट स्थापनाओं के आधार पर इस एकात्मता को सिद्ध करके उन सब संदेहों को दूर कर दिया जाय जो यहां उठ सकते है।

वस्तुत वेद हमें स्पष्ट रूप से कहता है कि गौएं ज्योति है और वह बाड़ा (व्रज) जिसमें वे छिपी हुई हैं अंधकार है। ऋ० १ ९२ ४ में जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके है, यह दिखा ही दिया गया है कि गौ और उनके बाड़े का वर्णन विशुद्ध रूप से एक रूपक ही है—"उषा ने गौ के बाड़े की तरह अंधकार को खोल दिया"।*

---

*ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तम ॥

गौओ की पुन प्राप्ति की कहानी के साथ ज्योति के पुनरुदय का सबध भी सतत पाया जाता है; जैसे कि ऋ० १ ९३ ४ में कहा है–"तुम दोनोने पणियो के यहासे गौओ को चुराया तुमने बहुतो के लिये एक ज्योति को पाया।" अथवा जैसे कि ऋ०२ २४ ३[1] में वर्णन है –"देवो में सबसे श्रेष्ठ देव का यह कार्य है; उसने दृढ स्थानो को ढीला कर दिया, कठोर स्थानो को मृदु कर दिया। वह बृहस्पति गौओ (किरणो) को हाक लाया, उसने मत्रो के द्वारा (ब्रह्मणा) वल का भेदन किया, उसने अधकार को अदृश्य कर दिया और 'स्व' को प्रकाशित किया।" और ऋ० ५ ३१ ३[2] मे हम देखते है कि–"उस (इन्द्र) ने दोग्ध्री गौओ को आवरण कर लेनेवाले बाडे के अदर प्रेरित किया, उसने ज्योति के द्वारा अधकार के आवरण को खोल दिया।" पर इतना ही नही, बल्कि यदि कोई कहे कि वेद में एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ कोई सबध नही है और वेद के ऋषि भाव और युक्ति के बधनो से सर्वथा स्वतत्र होकर अपनी मानसिक कल्पना से गौओ से सूर्य तक और अधकार से द्राविड लोगो की गुफा तक मनमौजी उडानें ले रहे है, तो इसके उत्तर में हम निश्चयपूर्वक एकात्मता को सिद्ध करनेवाले वेद के दूसरे प्रमाण भी दे सकते है। ऋ० १ ३३ १०[3] मे कहा है–"वृषभ इन्द्र ने वज्र को अपना साथी बनाया अथवा उसका प्रयोग किया (युजम्), उसने ज्योति के द्वारा अधकार म से किरणों (गौओ) को दुहा।" हमे स्मरण रखना चाहिये कि वज्र 'स्वर्य अश्मा' है और इसके अदर 'स्व' की ज्योति रहती है। फिर ४ ५१ २[4] में जहा कि पणियो का प्रश्न है, कहा है–"स्वय पवित्र रूप में उदित होती हुई, और दूसरोको भी पवित्र करनेवाली, उषाओ ने बाडे (व्रज) के दरवाजो को खोल दिया और अधकार को भी खोल दिया"–(व्रजस्य तमसो द्वारा)।

---

[1] तद्देवाना देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता। उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्व ॥२ २४.३

[2] प्राचोदयत् सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा सववृत्वत्तमोऽव ।५ ३१ ३

[3] युजं वज्र वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् ।१.३३.१०

[4] व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचय पावका ।४ ५१.२

यदि इन सब स्थलों के उपस्थित होने पर भी हम इसपर आग्रह करें कि वेद में आर्यों गौओं और पणियों की कहानी एक ऐतिहासिक किस्सा है तो इसका कारण यही हो सकता है कि स्वयं वेद की अन्तःसाक्षी के होते हुए भी हम वेदों से अपना वैसा ही अर्थ निकालने पर तुले हुए हैं। नहीं तो हमें अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि पणियों की यह परम गुप्त निधि–'निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्'–पार्थिव पशुओं की संपत्ति नहीं है, किंतु जैसा कि परुच्छेप दैवोदासि ने ऋ० १.१३०.३ में स्पष्ट किया है, "यह द्यु की निधि, पक्षी के बच्चे की तरह, गुप्त गुहा में छिपी पड़ी है, गौओं के बाड़े की तरह, अनंत चट्टान के बीच में, ढकी पड़ी है"–(अविन्दद् दिवो निहितं गुहा निधिं वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि। व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्)।

ऐसे स्थल वेद में बहुत से हैं जिनमें दोनों कहानियों में परस्पर संबंध या एकात्मता प्रकट होती है। मैं नमूने के लिये केवल दो चार का ही उल्लेख करूंगा। ऋ० १.६२ में,–जिनमें इस कहानी के विषय में कुछ विस्तार से कहा गया है उनमेंसे यह एक है–हम पाते हैं "हे शक्तिशाली इन्द्र ! तूने दशग्वाओं (अंगिरसों) के साथ मिलकर बड़े शब्द के साथ वल का विदारण किया। अंगिराओं से स्तुति किये जाते हुए तूने उषा, सूर्य और गौओं के द्वारा सोम को प्रकाशित किया[1]।" ऋ० ६.१७.३[2] में कहा है–"हे इन्द्र ! तू स्तोताओं को सुन और हमारी वाणियों के द्वारा बढ़, सूर्य को प्रगट कर, शत्रुओं का हनन कर और गौओं को भेदन करके निकाल ला।' ऋ० ७.९८.६[3] में हम देखते हैं–"ओ इन्द्र ! गौओं की यह सब संपत्ति जो तेरे चारों तरफ है और जिसे तू सूर्यरूपी आंख से

---

[1]सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः ॥
गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः ॥१.६२.४-५

[2]स्तुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ ६-१७-३

[3]*तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।*
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र ॥ ७.९८.६

देखना है, तेरी ही है। तू इन गौओं का अकेला स्वामी है (गवामसि गोपति-रेक इन्द्र)"। और किस प्रकार की गौओं का वह इन्द्र स्वामी है, यह हमें सरमा और गौओं के वर्णनवाले सूक्त ३-३१ में मालूम होता है–"विजेत्री (उषाएं) उसके साथ संगत हुई और उन्होंने अन्धकार में से महान् ज्योति को जाना। उसे जानती हुई उषाएं उसके पास गयीं; इन्द्र गौओं का एकमात्र स्वामी हो गया–(पतिर्गवामभवदेक इन्द्र)"। इसी सूक्त में आगे बताया गया है कि किस प्रकार मन के द्वारा और सत्य (ऋत) के सारे मार्ग को खोज लेने द्वारा सप्त ऋषि अंगिरस गौओं को उनके दृढ़ कारागार से निकालकर बाहर लाये और किस प्रकार सरमा, जानती हुई, पर्वत की गुफा तक और उन अविनश्वर गौओं के शब्द तक पहुंच पायी।[1] उषाओं और 'स्व' की बृहत् और ज्योति की प्राप्ति के साथ वही संबंध हम ७-९०-४ में पाते हैं–'अपने पूर्ण प्रकाश में, बिना किसी दोष, छिद्र या त्रुटि के, उषाएं निकल पड़ीं, उन (अंगिराओं) ने ध्यान करके बृहत् ज्योति (उरु ज्योति) को पाया। कामना करने-वालों ने गौओं के विस्तार को खोल दिया, आकाश से उनके ऊपर जलों की वर्षा हुई।[2]

इसी प्रकार २-१९-३ में भी दिन, सूर्य और गौओं का वर्णन है–'उसने सूर्य को जन्म दिया, गौओं को पाया और रात्रि में से दिनों के प्रकाश को प्रकट किया[3]।'

---

[1]अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन्।
तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः ॥
वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्राः ।
विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ॥
विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक् कः ।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ (ऋ० ३।३१।४-६)

[2]उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥ ७.९०.४

[3]अजनयत् सूर्यं विदद् गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत् ॥ २.१९.३

-१३ मे, यदि इसका दूसरा अर्थ न हो, तो उषाओं और गौओं को एक मान- कहा गया है—'चट्टान जिनका बाड़ा है, दोग्ध्री (दाहन देनेवाली), अपने ढकने- कारागार में चमकती हुई, उनकी पुकार का उत्तर देती हुई उषाओं को ने बाहर निकाला'।' परन्तु इस मन्त्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि, रे पूर्वपितर अंगिरसों द्वारा, जिनका इससे पहले मन्त्र में वर्णन हुआ है, री हुई उषाओं ने उनके लिये गौओं को बाहर निकाला। फिर ६-१७- हम देखते हैं कि-उस बाड़े का भेदन सूर्य के चमकने का साधन हुआ है-'तू- र्य और उषा को चमकाया, दृढ स्थानों को तोड़ते हुए, उस बड़ी और दृढ न को अपने स्थान से हिला दिया, जिसने गौओं को घेरा हुआ था'।' अन्त -३९ म हम अग्नाको के रूप में दोनो अलकारो की बिल्कुल एकात्मता मिलती मर्त्यों में कोई भी इनकी निन्दा करनेवाला नहीं है (अथवा मैं इसे इस प्रकार कोई मानवीय शक्ति इनको बद्ध या अवरुद्ध करनेवाली नहीं) जो हमारे ((पणियों की) गौओं के लिये लड़े हैं। बड़े-बड़े कामों को करनेवाले महिमाशाली इन्द्र ने उनके लिये गौओं के दृढ़ बाड़ो को खुला कर दिया। अपने सखाओं नवग्वाओं के साथ एक सखा इन्द्र ने अपने घुटनो के बल गौओं ढूढते हुए, जहा दस दशग्वाओं के साथ इन्द्र ने अन्धकार में रहते हुए असली को (अथवा मेरी व्याख्या म, 'सत्य' के सूर्य को) पा लिया। ३-३९-४, । यह स्थल पूर्ण रूप से निर्णयात्मक है। गौएं पणियों की गौएं हैं, जिनका

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋतमाशुषाणाः।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥ ४.१.१३
वेभि सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत्।
हामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात् ॥ ६.१७.५
नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
न्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥
खा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
त्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् ॥ ३.३९.४-५

पीछा करते हुए अगिरस हाथो और घुटनो के बल गुफा में घुसते हैं। पता लगानेवाले इन्द्र और अगिरस हैं, जिन्हें दूसरे मन्त्रो में नवग्वा और दशग्वा कहा है। और वह वस्तु जो पर्वत की गुफा में पणियों के बाडे में घुसने पर मिलती है, पणियो द्वारा चुराई गयी कोई आर्यों की धनदौलत या भौतिक गौ नहीं, बल्कि 'सूर्य है, जो अन्धकार में छिपा हुआ है' (सूर्यं तमसि क्षियन्)।

इसलिये इस स्थापना में अब कोई प्रश्न शेष नहीं रहता कि वेद की गौए, पणियो की गौए, वे गौए जो चुरायी गयीं, जिनके लिये लडा गया, जिनका पीछा किया गया और जिन्हे फिर से पा लिया गया, वे गौए जिनकी ऋषि कामना करते है, जो मन्त्र व यज्ञ के द्वारा और प्रज्वलित अग्नि और देवो को बढाने-वाले छन्दों और देवो को मग्न करनेवाले सोम के द्वारा जीती गयीं, प्रतीकरूप गौए है, वे 'प्रकाश' की गौए है। और वेद के 'गो', 'उस्रा', 'उस्रिया' आदि अन्य शब्दो के आतरिक भाव के अनुसार ये चमकनेवाली, प्रकाशमान, सूर्य की गौए (किरणें) हैं, उषा के चमकीले रूप है।

इस निश्चित परिणाम—जिसके सिवाय और कुछ परिणाम निकल नही सकता—से हम यह समझ सकते हैं कि वेद की व्याख्या का रहस्यमय आधार जगलियो की पूजा के स्थूल प्रकृति-वाद से कहीं बहुत ऊपर सुरक्षित है। वेद अपने-आपको प्रतीक-रूप वर्णन की पवित्र, धार्मिक पुस्तक के रूप म प्रकट करते हैं, जिसमें सूर्य की पूजा या उषा की पूजा का अथवा उस उच्च आन्तरिक ज्योति, सत्य के सूर्य (सत्यम सूयम्) का सुन्दर आलकारिक वर्णन है जो हमारे अज्ञान-रूपी अन्धकार से ढका हुआ है, जो पक्षी के शिशु की तरह, दिव्य 'हस' की तरह जड प्राकृतिक सत्ता की अनन्त चट्टान के पीछे छिपा हुआ है—"अनन्ते अन्तरश्मनि"।

यद्यपि इस अध्याय म मैंने अपने-आपको कुछ कठोरता के साथ इस विषय के प्रमाणों तक ही सीमित रखा है कि गौए उस सूर्य की ज्योति है जो कि अन्ध-कार म छिपा हुआ है, फिर भी 'सत्य' की ज्योति और ज्ञान के सूर्य के साथ उन-का सबध उद्धृत किये गये एक-दो मन्त्रो म स्वय ही स्पष्ट हो गया है। हम देखेंगे कि यदि हम अलग-अलग मन्त्रो को न लेकर अगिरस सूक्तो के सभी स्थलो की परीक्षा करें, तो जो सकेत हमने इस अध्याय म पाया है, वह अधिकाधिक

स्पष्ट और निश्चित रूप में हमारे सामने आयेगा। परन्तु पहले हमें अंगिरस ऋषियों और गुहा के निवासी उन रहस्यपूर्ण पणियों पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये, जो अन्धकार के स्वामी हैं और जिनसे छीनकर ये अंगिरस ऋषि खोयी हुई चमकीली गौओं को और खोये हुए सूर्य को पुनः प्राप्त करते हैं।

सत्रहवां अध्याय

अंगिरस ऋषि

'अंगिरस्' नाम वेद मे एकवचन में या बहुवचन मे—अधिकतर बहुवचन में—बहुत जगह आया है। पैतृक नाम या गोत्रसूचक नाम के तौर पर 'आंगिरस' यह शब्द भी कई जगह बृहस्पति देवता के विशेषण के तौर पर वेद में आया है। पीछे से अंगिरस् (भृगु तथा अन्य मन्त्रद्रष्टा ऋषियो की तरह) उन वंशप्रवर्तक ऋषियों में से गिना जाने लगा था जिनके नाम से वंश तथा गोत्र चले और पुकारे जाते थे, जैसे 'अंगिरा' से आंगिरस, 'भृगु' से भार्गव। वेद में भी ऐसे ऋषियों के कुल है, जैसे अत्रय, भृगव, कण्वा। अत्रियों के एक सूक्त मे अग्नि (पवित्र आग) को खोज निकालनेवाले अंगिरस् ऋषि कहे गये है, एवं दूसरेमें भृगु ऋषि[1]। बहुधा सात आदिम अंगिरसों का वर्णन इस रूप में हुआ है कि वे मनुष्य पुरखा है, 'पितरो मनुष्या', जिन्होंने प्रकाश को खोज निकाला, सूर्य को चमकाया और सत्य के स्वर्लोक में चढ गये। दशम मण्डल के कुछ सूक्तों में अंगिरसो को कव्य-भुज् पितरों के तौर पर यम (एक देवता जो कि पीछे के सूक्तो में ही प्रधानता में आया है) के साथ संबधित किया गया है, वहा ये अंगिरस-गण देवताओ के साथ बर्हि पर बैठते हैं और यज्ञ में अपना भाग ग्रहण करते हैं।

यदि अंगिरस् ऋषियों के विषय म यही सब कुछ बस होता तो इन्होंने गौओ के खोजने म जो भाग लिया है उसकी व्याख्या करना बडा आसान था, बल्कि उसकी व्याख्या मे कुछ खास कहने की जरूरत ही न थी, तब तो इतना ही है कि ये पूर्वपुरुष है, वैदिक धर्म के संस्थापक है, जिन्हें इनके वंशजो ने आंशिक रूप से देवत्व प्रदान कर दिया है और जो सतत रूप से देवों के साथ संबधित हैं, उषा तथा

---

[1] बहुत संभव है, अंगिरस् ऋषि अग्नि की ज्वलत् (अंगार) शक्तिया है और भृगुगण सूर्य की सौर शक्तियां है।

सूर्य के पुन प्राप्ति के कार्य में, यह सूर्य और उषा की पुन प्राप्ति चाहे तो भौतिक रूप में हो और एव उत्तरी ध्रुव की लबी रात्रियों में से इनकी पुन प्राप्ति हो या प्रकाश और सत्य को जीत लेने के रूप में। परन्तु इतना ही सब कुछ नही है, वैदिक गाथा इसके और गम्भीर पहलुओ का वर्णन करती है।

पहिले तो यह कि अगिरस् केवल देवत्वप्राप्त मानुष पितर ही नही है किन्तु वे हमारे सामने इस रूप में भी दिखाये गये है कि वे द्युलोक के द्रष्टा है (दिव्य ऋषि है), देवताओ के पुत्र है, वे द्यौ के पुत्र है और असुर के, बलाधिपति के वीर है या शक्तिया है। 'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा' यह एक एसा वर्णन है जो कि अगिरसो के सख्या में सात होने के कारण तत्सदृश ईरानियन गाथा म के अहुरमज्द (Ahura Mazda) के, सात देवदूतो वा प्रवक्ता से, यद्यपि शायद केवल आकस्मिक रूप से, स्मरण करा देता है और फिर ऐसे सदर्भ है जिनमें अगिरस् बिल्कुल प्रतीकात्मक हो गये दीखते है, वे मूल अगिरस् अग्नि के पुत्र और शक्तिया है, वे प्रतीकभूत प्रकाश और ज्वाला की शक्तिया है और वे उस सात मुखवाले, अपनी नौ और अपनी दस प्रकाश की किरणोवाले एक अगिरस् मे, नवग्वे अगिरे दशग्वे सप्तास्ये, एकीभूत भी हो जाते है जिसपर और जिस द्वारा उषा अपने सपूर्ण आनन्द और वैभव के साथ खिल उठती है। ये तीनो स्वरूपवर्णन एक ही और उन्ही अगिरसो के प्रतीत होत है, क्योकि इनमें उनक विशेष गुण और उनके कार्य अन्य फर्क के होते हुए भी अभिन्न ही रहते है।

अगिरस् ऋषि देव भी है और मनुष्य भी है, उनके इस प्रकार दुहरे स्वरूपवाले होने की व्याख्या दो बिल्कुल विपरीत तरीको से की जा सकती है। वे मूलत मनुष्य ऋषि रहे है और अपने वशजो द्वारा देवत्व प्राप्त हुए हो और इस देवत्वापादन में उन्ह दिव्य कुल-परम्परा तथा दिव्य व्यापार दे दिये गये हो, या ये मूलत अर्धदेव हो, प्रकाश और ज्वाला की शक्तिया हो, जिनका कि मनुष्यजाति के पितरो तथा उसके ज्ञान के आविष्कारको के रूप मे मानुषीकरण हो गया हो। ये दोनो ही प्रक्रियाए प्राथमिक गाथाविज्ञान मे स्वीकार की जाने योग्य है। उदाहरणार्थ ग्रीक कथानक के कैस्टर (Castor) और पोली-डूसस (Polydeuces) और उनकी बहिन हेलेन (Helen) मानुष

प्राणी थे, यद्यपि ये जुस (Zeus) के पुत्र थे, और मृत्यु के बाद ही देव हुए। परन्तु बहुत सम्भावना यह है कि ये तीनो मूलत. ही देव थे—कॅस्टर और पोलीडूसस, युगल, घोडे पर चढनेवाले, समुद्र में नाविको की रक्षा करनेवाले लगभग निश्चय से कहा जा सकता है कि वैदिक अश्विनो हैं जो कि घुडसवार है जैसा कि 'अश्विन्' यह नाम ही वताता है, अद्भुत रथ पर चढनेवाले हैं, युगल भी हैं, समुद्र में 'भुज्यु' की रक्षा करनेवाले हैं, अपार जलराशि पर पार तरानेवाले, उषा के भाई हैं और हेलेन उनकी बहिन उषा हैं या वह 'सरमा' देवशुनी ही हैं जो कि दक्षिणा की तरह उषा की शक्ति, लगभग उसकी मूर्ति (प्रतिमा) है। पर इनमेंसे कुछ भी मानें इसके आगे एक और विकासक्रम हुआ है, जिसके द्वारा ये देव या अर्धदेव आध्यात्मिक व्यापारो से युक्त हो गये है, शायद उसी प्रक्रिया द्वारा जिससे ग्रीकधर्म में Athene, उषा, का ज्ञान की देवी के रूप में परिवर्तन तथा Apollo, सूर्य, का दिव्य गायक और द्रष्टा के, भविष्यवाणी और कविता के प्रेरक-देव के रूप में परिवर्तन हो गया।

वेद में यह सभव है कि एक और ही प्रवृत्ति काम कर रही हो—अर्थात् उन प्राचीन रहस्यवादियो के मनो में प्रधानतया विद्यमान, सतत और सर्वत्र पायी जानेवाली प्रतीकवाद की प्रवृत्ति या आदत। हरेक वात, उनके अपने नाम, राजाओ और याजको के नाम, उनके जीवन की साधारण से साधारण परिस्थितिया ये सब प्रतीको के रूप मे ले आयी गयी थी और वे प्रतीक उनके असली गुप्त अभिप्रायो के लिये आवरण का काम देते थे। जैसे कि वे 'गौ' शब्द की द्व्यर्थता का उपयोग करते थे, जिसका कि अर्थ 'किरण' और 'गाय' ये दोनो होते थे, जिससे कि गाय (उनके पशुपाल-जीवनसम्बन्धी सपत्ति के मुख्य रूप) की मूर्त प्रतिमा उसके छिपे हुए अभिप्राय आन्तरिक प्रकाश (जो कि जिसकी वे अपने देवो से प्रार्थना करते थे उस उनकी आध्यात्मिक सपत्ति का मुख्य तत्त्व था) के लिये आवरण वन सके, वैसे ही वे अपने नामो का भी उपयोग करते थे, **गोतम** 'प्रकाश से अधिक-से-अधिक भरा हुआ', **गविष्ठिर** 'प्रकाश में स्थिर', एव ऊपर से देखने मे जो निजी दावा या इच्छा-सी प्रतीत होती है, उसके नीचे वे अपने विचार मे रहनेवाले विस्तृत और व्यापक अभिप्राय को छिपाये होते थे।

इसी प्रकार वे बाह्य तथा आन्तर अनुभूतियों का भी, वे चाहे अपनी हों या दूसरे ऋषियों की, उपयोग करते थे। यज्ञस्तम्भ के साथ बांधे गये शुनःशेप की प्राचीन कथा में यदि कुछ सत्य है तो यह बिलकुल निश्चित है, जैसा कि हम अभी देखेंगे, कि ऋग्वेद में यह घटना या गाथा एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त की गयी है। शुनःशेप है मानवीय आत्मा जो कि पाप के त्रिविध बन्धन से बद्ध है और अग्नि, सूर्य तथा वरुण की दिव्य शक्तियों द्वारा वह इससे उन्मुक्त होता है। इसी प्रकार कुत्स, कण्व, उशना काव्य जैसे ऋषि भी किन्हीं आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा विजयों के प्रतीक या आदर्श बने हैं और उस स्थिति में इन्होंने देवताओं के साथ स्थान प्राप्त किया है। तो फिर इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि मानव अंगिरस् ऋषि भी इस रहस्यमय प्रतीकवाद में, अपने परम्परागत या ऐतिहासिक मानुष स्वरूप का सर्वथा बिना त्याग किये ही, दिव्य शक्तियों और आध्यात्मिक जीवन के जीवन्त बल बन गये हों। तो भी हम यहां इन अटकलों और अनुमानों को एक तरफ छोड़ देंगे और इनकी जगह इस परीक्षा में प्रवृत्त होंगे कि *अंगिरसों के व्यक्तित्व के उपर्युक्त तीन तत्त्वों या पहलुओं का गौओं के तथा सूर्य और उषा के अन्धकार से फिर निकल आने के अलंकार में क्या-क्या भाग रहा है।*

सबसे पहिले हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि वेद में अंगिरस् शब्द विशेषण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है, अधिकतर उषा और गौओं के रूपक के प्रकरण में। दूसरे यह कि अग्नि के नाम के तौर पर यह आया है, इन्द्र को अंगिरस् हो गया कहा गया है और बृहस्पति को अंगिरस् या आंगिरस पुकारा गया है, जो कि स्पष्ट ही केवल भाषालंकार के तौर पर या गाथात्मक तौर पर नहीं कहा गया है किन्तु विशेष अर्थ सूचित करने के लिये और इस शब्द के साथ जो आध्यात्मिक या दूसरे भाव जुड़े हुए हैं उनको लक्षित करने के लिये ऐसा कहा गया है। यहां तक कि अश्विनू देव भी सामूहिक रूप से अंगिरस् करके संबोधित किये गये हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि अंगिरस् शब्द वेद में केवल ऋषियों के एक कुल के नाम के तौर पर नहीं प्रयुक्त हुआ है किन्तु इस शब्द के अन्दर निहित एक विशिष्ट अर्थ को लेकर हुआ है। यह भी बहुत संभव है कि

यह शब्द जब एक सज्ञा, नाम के तौर पर प्रयुक्त हुआ है तब भी इसके अन्तर्निहित भाव को स्पष्ट गृहीत करते हुए हुआ है, बहुत सभव तो यहा तक है कि वेद मे आनेवाले नाम ही सामान्यतया, यदि हमेशा नही, अपने अर्थ पर बलप्रदानपूर्वक प्रयुक्त किये गये है, विशेषतया देवों, ऋषियो और राजाओं के नाम। वेद में इन्द्र शब्द सामान्यतया एक नाम के तौर पर प्रयुक्त हुआ है तो भी हम वेद की शैली की ऐसी झाकिया पाते है जैसे कि उषा का वर्णन करते हुए उसे 'इन्द्रतमा, अगिरस्तमा' कहा गया है। 'सबसे अधिक इन्द्र', 'सबसे अधिक अगिरस्', और पणियो को 'अनिन्द्रा' अर्थात् इन्द्ररहित वर्णित किया गया है। ये स्पष्ट ही ऐसे शब्दप्रयोग है जो कि, इन्द्र या अगिरस् से निर्दिष्ट होनेवाले व्यापारो, शक्तियो या गुणो से युक्त होने या इनसे रहित होने के भाव को सूचित करने के अभिप्राय से किये गये है। तो हमें अब यह देखना है कि वे अभिप्राय क्या है और अगिरस् ऋषियो के गुणो या व्यापारो पर उन द्वारा क्या प्रकाश पडता है।

यह शब्द *अग्नि का सजातीय है, क्योंकि यह जिस धातु 'अगि'* (अग्) से निकला है वह अग्नि की धातु, 'अग्' का केवल सानुनासिक रूप है। इन धातुओं का आन्तरिक अर्थ प्रतीत होता है प्रमुख या प्रबल अवस्था, भाव, गति, क्रिया, प्रकाश[1]। और इनमे यह अन्तिम प्रदीप्त या जलते हुए प्रकाश का अर्थ है जिससे 'अग्नि', आग, 'अगार', दहकता कोयला (अगारा) और 'अगिरस्', जिसका कि अर्थ होना चाहिये ज्वालामय या दीप्त, बने है। वेद मे और ब्राह्मण-ग्रथो की परपरा म भी अगिरस् मूलत अग्नि से निकट सबद्ध माने गये है। ब्राह्मणो म यह कहा गया है कि अग्नि आग है, अगिरस् अगारे है, पर स्वय वेद का निर्देश ऐसा प्रतीत होता है कि वे (अगिरस्) अग्नि की ज्वालाए

[1]प्रमुख या प्रबल अवस्था के लिये शब्द है 'अग्र', जिसका अर्थ होता है अगला या मुख्य और ग्रीक में 'अगन' जिसका अर्थ है 'अधिकता मे'। प्रमुख भाव के लिये ग्रीक 'अगणे' है जिसका अर्थ है प्रेम और शायद सस्कृत 'अगना' अर्थात् स्त्री। इसी तरह प्रमुख गति तथा क्रिया के लिये भी इसी प्रकार के कई सस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन के शब्द है।

है या ज्योतियां हैं। ऋ० १०-६२ में अंगिरस् ऋषियों की एक ऋचा में उनके बारे में कहा गया है कि वे अग्नि के पुत्र हैं और अग्नि से उत्पन्न हुए हैं, ये अग्नि के इर्दगिर्द और विविध रूपवाले होकर सारे द्युलोक के इर्दगिर्द उत्पन्न हुए हैं।* और फिर इससे अगली पंक्ति में इनके विषय में सामुदायिक रूप से एकवचन में बोलते हुए कहा है-'नवग्वो नु दशग्वो अंगिरस्तमः सचा देवेषु मंहते' अर्थात् नौ किरणोंवाला, दश किरणोंवाला सबसे अधिक अंगिरस् (यह अंगिरस्-कुल) देवों के साथ या देवों में समृद्धि को प्राप्त होता है। इन्द्र की सहायता से ये अंगिरस् गौओं और घोड़ों के बाड़े को खोल देते हैं, ये यज्ञ करनेवालों को रहस्यमय आठ कानोंवाला गो-समूह प्रदान करते हैं और उसके द्वारा देवताओं में 'श्रवस्' अर्थात् दिव्य श्रवण या सत्य की अन्तःप्रेरणा को उत्पन्न करते हैं (१०-६२-५, ६, ७)। तो यह काफी स्पष्ट है कि अंगिरस् ऋषि यहां दिव्य अग्नि की प्रसरणशील ज्योतियां हैं जो कि द्युलोक में उत्पन्न होती हैं इसलिये ये दिव्य ज्वाला की ज्योतियां हैं न कि किसी भौतिक आग की। ये प्रकाश की नौ किरणों से और दश किरणों से सन्नद्ध होते हैं, अंगिरस्तम बनते हैं अर्थात् अग्नि की, दिव्य ज्वाला की जाज्वल्यमान अर्चियों से पूर्णतम होते हैं और इसलिये कारागार में बन्द प्रकाश और बल को मुक्त करने में तथा अतिमानस (विज्ञानमय) ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

चाहे यह स्वीकार न किया जाय कि प्रतीकपरक यही अर्थ ठीक है, पर यह तो स्वीकार करना होगा कि यहां पर कोई प्रतीकात्मक अर्थ ही है। ये अंगिरस कोई यज्ञ करनेवाले मनुष्य नहीं हैं, किंतु द्युलोक में उत्पन्न हुए अग्नि के पुत्र हैं, यद्यपि इनका कार्य बिल्कुल मनुष्य अंगिरसों का है जो कि पितर हैं (पितरो मनुष्याः),

---

*ते अंगिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥५॥
ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अंगिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥६॥
इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥७॥

ये विविध रूप लेकर उत्पन्न हुए हैं, (विरूपास)। इस सबका यही अभिप्राय हो सकता है कि ये अग्नि की शक्ति के विविध रूप हैं। प्रश्न होता है कि किस अग्नि के, क्या यज्ञशाला की ज्वाला के, सामान्य अग्नि-तत्त्व के या फिर उस दूसरी पवित्र ज्वाला के जिसका वर्णन किया गया है 'द्रष्टृ-संकल्प से युक्त होता' या 'जो द्रष्टा का कार्य करता है, सत्य है, अन्तःप्रेरणाओं के विविध प्रकाश से समृद्ध है' (अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः)। यदि यह अग्नि-तत्त्व है तो अंगिरस् से सूचित होनेवाली जाज्वल्यमान चमक सूर्य की चमक होनी चाहिये अर्थात् अग्नि-तत्त्व की वह आग जो सूर्यकिरणों के रूप में प्रसृत हो रही है और इन्द्र से, आकाश से संबद्ध होकर वह उषा को उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती, जो अंगिरस् गाथा की परिस्थितियों तथा विवरणों से संगत हो। परंतु यह भौतिक व्याख्या अंगिरस् ऋषियोंसंबंधी अन्य वर्णनों का कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं दे सकती कि वे द्रष्टा हैं, वैदिक सूक्तों के गायक हैं, कि वे जैसे सूर्य की और उषा की वैसे बृहस्पति की भी शक्तियां हैं।

वेद का एक और संदर्भ है, (६-६-३,४,५)[1] जिसमें इन अंगिरस् ऋषियों का अग्नि की ज्वालामय अर्चियों के साथ तादात्म्य बिल्कुल स्पष्टतया और अभ्रान्त रूप से प्रकट हो जाता है। '(शुचे अग्ने) हे पवित्र और चमकीले अग्नि! (ते) तेरे (शुचयः भामासः) पवित्र और चमकीले प्रकाश (वातजूतासः) वायु से प्रेरित हुए-हुए (विष्वक्) चारों तरफ (विचरन्ति) दूर-दूर तक पहुंचते हैं, (तुविम्रक्षासः) प्रबलता से अभिभूत करनेवाले (दिव्याः नवग्वाः) दिव्य[2] नौ

---

[1]वि ते विष्वग्वातजूतासो अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति।
तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः ॥३॥
ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्मः क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः।
अध भ्रमस्त उर्विया वि भाति यातयमानो अधि सानु पृश्नेः ॥४॥
अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना।

[2]नवग्वा का दिव्य विशेषण ध्यान देने योग्य है।

किरणोवाले (वना[1] वनन्ति) वनो का उपभोग करते हैं (धृषता रजन्त) उन्हे बलपूर्वक तोडते-फोडते हुए। ('वना वनन्ति' शब्द बडे अर्थपूर्ण रूप से इस ढके हुए अभिप्राय को दे रहे है कि 'उपभोग-योग्य वस्तुओ का उपभोग करते हैं'।) ।3। (शुचिष्म) ओ पवित्र प्रकाशवाले! (ये ते शुभ्रा शुचय) जो तेरे चमकीले और पवित्र प्रकाश सब (क्षा) पृथ्वी को (वपन्ति)[2] आक्रान्त या अभिभूत करते है, (विपिनास अश्वा) वे तेरे सब दिशाओं मे दौडनेवाले घोडे है। (अध) तब (ते भ्रम) तेरा भ्रमण (उर्विया विभाति) विस्तृत रूप में चमकता है, (पृश्ने) चित्रविचित्र रगवाली (मरुतो की माता, पृश्नि, गौ) की (सानो अधि) उच्चतर भूमि की तरफ (यातयमान) यात्रा का मार्ग दिखलाता हुआ ।4। (अध) तब (जिह्वा) तेरी जीभ (प्रपापतीति) लपलपाती है, (गोषु-युधो वृष्ण सृजाना अशनि न) जैसे कि गौओ के लिये युद्ध करनेवाले वृषा से छोडा हुआ वज्र ।5।' यहा अगिरस् ऋषियो की ज्वालाओ (भामास, शुचय) मे जो स्पष्ट अभिन्नता है उसे सायण 'नवग्वा' का अर्थ 'नवजात किरणें' करके टालना चाहता है। परतु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यहा के 'दिव्या नवग्वा' तथा १०-६२ म वर्णित 'अग्नि क पुत्र, द्युलोक में उत्पन्न होनेवाले, नवग्व' एक है, इनका भिन्न होना सभवित नही है। यह अभिन्नता और भी पुष्ट हो जाती है, यदि किसी पुष्टि की जरूरत है, उपर्युक्त सदर्भ में आये इस कथन से कि नवग्वो की क्रिया द्वारा होनेवाले अग्नि के इस भ्रमण में उसकी जिह्वा, इन्द्र के (गौओ के लिये लडनेवाले और वृषा इन्द्र के) अपने हाथो से छूटे हुए वज्र का रूप धारण करती है और यह तेजी से लपलपाती हुई आगे बढती है, नि सदेह द्युलोक की पहाडी में अधकार की शक्तियो पर आक्रमण करने के लिये, क्योंकि अग्नि और नवग्वा का प्रयाण (भ्रमण) यहा इस रूप में वर्णित किया गया है कि वह पृथ्वी पर घूम चुकने के उपरान्त पहाडी पर (सानु पृश्ने) चढता है।

यह स्पष्ट ही ज्वाला और प्रकाश का प्रतीकात्मक वर्णन है—दिव्य ज्वाला

---

[1] 'वना' का अर्थ सायण ने 'यद्यपि अग्नि के लिये 'काष्ठ' ऐसा किया है।

[2] 'क्षा वपन्ति' का अर्थ सायण ने 'पृथ्वी के बालो को मूडते है' ऐसा किया है।

पृथ्वी को दग्ध करती है और फिर वह द्युलोक की विद्युत् तथा सौर शक्तियों की दीप्ति बनती है, क्योंकि वेद में अग्नि सूर्य की ज्योति तथा विद्युत् भी है जहां यह जल में उपलब्ध होनेवाली तथा पृथ्वी पर चमकनेवाली ज्वाला है। अंगिरस् ऋषि भी, अग्नि की शक्तियां होने के कारण, अग्नि के इस अनेकविध स्वरूप व व्यापार को ग्रहण करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रदीप्त की गयी दिव्य ज्वाला इन्द्र को विद्युत् की सामग्री भी प्रदान करती है, विद्युत् की, वज्र की, 'स्वर्य अश्मा' की जिसके द्वारा वह अंधकार की शक्तियों का विनाश करता है और गौओं को, सौर ज्योतियों को, जीत लेता है।

अग्नि, अंगिरसों का पिता, न केवल इन दिव्य ज्वालाओं का मूल और उद्गम स्थान है किंतु वह स्वयं भी वेद में पहिला अंगिरस् (प्रथमो अंगिरा) अर्थात् परम और आदिम अंगिरा वर्णित किया गया है। इस वर्णन द्वारा वैदिक कवि हमें क्या अभिप्राय जताना चाहते हैं? यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम उनमेंसे कुछ वाक्यों पर जरा दृष्टिपात करें जिनमें कि इस प्रकाशमान और ज्वालायुक्त देवता को 'अंगिरा' विशेषण दिया गया है। पहिले तो यह कि यह दो बार अग्नि के एक अन्य नियत विशेषण 'सहसः सूनुः ऊर्जो नपात्' (बल के पुत्र या शक्ति के पुत्र) के साथ संबद्ध होकर आया है। जैसे ८-६०-२ में संबोधित किया गया है 'हे अंगिर, बल के पुत्र' (सहसः सूनो अंगिर)[1] और ८-८४-४ में 'हे अग्ने! अंगिर! शक्ति के पुत्र!' (अग्ने अंगिर ऊर्जो नपात्।)[2] और ५-११-६[3] में यह कहा गया है "तुझे, हे अग्ने! अंगिरसों ने गुप्त स्थानों में स्थापित को (गुहा हितं) प्राप्त कर लिया, जंगल-जंगल में (वने-वने, अथवा यदि हम उस छिपे हुए अर्थ के संकेत को स्वीकार करें जिसे कि हम 'वना वनन्ति' इस शब्दावलि

---

[1]अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अंगिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्॥ (ऋ० ८.६०.२)

[2]कया ते अग्ने अंगिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्। वराय देव मन्यवे।(ऋ०८.८४.४)

[3]त्वामग्ने अंगिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमंगिरः॥(ऋ० ५-११-६)

में पहिले देख चुके हैं तो 'प्रत्येक उपभोग्य पदार्थ में') भिन्न हुए-हुए को। सो तू मथा जाकर (मथ्यमान) एक महान् शक्ति होकर उत्पन्न होता है, तुझे वे बल का पुत्र कहते हैं, हे अंगिर!" तो इसमें संदेह का अवकाश नहीं कि यह बल का विचार अंगिरस् शब्द की वैदिक धारणा में एक आवश्यक तत्त्व है और, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह इस शब्द के अर्थ का एक भाग ही है। अग्नि, अंगिरस् जिन धातुओं से बने हैं उन 'अग्' 'अंगि (अग्)' में बल का भाव निहित है, अवस्था में, क्रिया में, गति में, प्रकाश में, अनुभव में प्रबलता इन धातुओं का अन्तर्निहित गुण है। बल, पर साथ ही इन शब्दों में प्रकाश भी है। अग्नि, पवित्र ज्वाला, प्रकाश की उत्पन्न शक्ति है और अंगिरस् भी प्रकाश के ज्वलन्त बल हैं।

परन्तु किस प्रकाश के, भौतिक या आलंकारिक? हमें यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये कि वैदिक कवि इतनी अपक्व तथा जड़ बुद्धिवाले थे कि वे स्पष्टता से तथा सभी भाषाओं में पाये जानेवाले सामान्य ऐसे आलंकारिक वर्णन कर सकने में भी असमर्थ थे जिसमें कि भौतिक प्रकाश आलंकारिक रूप से मानसिक तथा आत्मिक प्रकाश का, ज्ञान का, आन्तरिक-प्रकाश-युक्तता का वर्णन करने को प्रयुक्त किया जाता है। वेद बिल्कुल साफ कहता है, 'द्युमन्तो विप्रा' अर्थात् प्रकाशयुक्त ज्ञानी और 'सूरि' शब्द (जिसका कि अर्थ होता है ऋषि) व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार 'सूर्य' से संबद्ध है और इसलिये मूलतः इसका अर्थ अवश्य 'प्रकाश युक्त' ऐसा होना चाहिये। १-३१-१[1] में इस ज्वाला के देव के विषय में कहा गया है, 'हे अग्ने! तू प्रथम अंगिरस् हुआ है, ऋषि, देवों का देव, शुभ सखा है। तेरी क्रिया के नियम में (व्रत में) मरुत् अपने चमकीले भालों के साथ उत्पन्न होते हैं जो क्रान्तदर्शी हैं और ज्ञान के साथ कर्म करनेवाले हैं'। तो स्पष्ट है कि 'अग्नि अंगिरा' में दो भाव विद्यमान हैं, ज्ञान और क्रिया, प्रकाशयुक्त अग्नि और प्रकाशयुक्त मरुत् अपने प्रकाश द्वारा ज्ञान के द्रष्टा, ऋषि, 'कवि' हुए हैं। और ज्ञान के प्रकाश द्वारा शक्तिशाली मरुत् अपना कार्य करते हैं क्योंकि वे अग्नि

---

[1]त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ (ऋ० १-३१-१)

के 'व्रत में'—उसकी क्रिया के नियम में—उत्पन्न हुए हैं या आविर्भूत हुए हैं। क्योंकि स्वयं अग्नि हमारे सम्मुख इस रूप में वर्णित किया गया है कि वह द्रष्टृ-संकल्पवाला है, 'कविक्रतु' है, क्रिया का वह बल है जो कि अन्तःप्रेरित या अतिमानस ज्ञान के (श्रवस् के) अनुसार कार्य करता है, कारण यह वह (अन्तःप्रेरित या अतिमानस) ज्ञान ही है न कि बौद्धिक ज्ञान जो कि कवि शब्द द्वारा अभिप्रेत होता है। तो यह अग्नि अंगिरस् नामक महान् बल, 'सहो महत्', और क्या है सिवाय इसके कि यह दिव्य चेतना का ज्वलन्त बल है, पूर्ण सामंजस्य में कार्य करनेवाले प्रकाश और शक्ति के अपने दोनों युगल गुणों के साथ ठीक ऐसे ही जैसे कि मरुतों का वर्णन किया गया है कि वे 'कवयो विद्मनापस' हैं, क्रान्तदर्शी हैं, ज्ञान के साथ कार्य करनेवाले ? इस परिणाम पर पहुंचने के लिये तो हम युक्तिसंगत हो चुके हैं कि उषा दिव्य प्रभात है न कि केवल भौतिक सूर्योदय, कि उसकी गौएं या उषा तथा सूर्य की किरणें उदय होती हुई दिव्य चेतना की किरण व प्रकाश हैं और कि इसलिये सूर्य ज्ञान के अधिपति के रूप में प्रकाशप्रदाता है और कि 'स्व' द्यावापृथिवी के परे का और लोक, दिव्य सत्य और आनन्द का लोक है, एक शब्द में कहें तो यह कि वेद में प्रकाश व ज्योति ज्ञान का, दिव्य सत्य के प्रकाशन का प्रतीक है। हम अब यह परिणाम निकालने के लिये भी युक्तिसंगत हो रहे हैं कि ज्वाला—जो कि प्रकाश का ही एक दूसरा रूप है—दिव्य चेतना (अतिमानस सत्य) के बल के लिये वैदिक प्रतीक है।

एक दूसरी (६-११-३) ऋचा में आया है, 'वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्र' अर्थात् 'सबसे अधिक सन्त, अंगिरसों में जो विप्र (प्रकाशयुक्त) है।' यह किसकी तरफ निर्देश है यह स्पष्ट नहीं है। सायण 'वेपिष्ठो विप्र' इस विन्यास की तरफ ध्यान नहीं देता, जिससे 'वेपिष्ठ' का अर्थ एकदम स्पष्ट तौर से स्वयमेव निश्चित हो जाता है कि 'विप्रतम, सबसे अधिक सन्त, सबसे अधिक प्रकाश-युक्त'। सायण यह कल्पना करता है कि यहां भारद्वाज, जो कि इस सूक्त का ऋषि है, स्वयं अपने-आप की स्तुति करता हुआ अपने को देवों का 'सबसे बड़ा स्तोता' कहता है। पर यह निर्देश शंकनीय है। यहां यह अग्नि है जो कि 'होता' है, पुरोहित है (देखो पहिले दूसरे मन्त्र में 'यजस्व होत', 'त्वं होता'), अग्नि है जो कि देवों का

यजन कर रहा है, अपने ही तनूभूत देवों का ('तन्वं तव स्वा' दूसरा मन्त्र), मरुतों, मित्र, वरुण, द्यौ और पृथिवी का यजन कर रहा है (पहिला मन्त्र)। क्योंकि इस ऋचा में कहा है—

'तुझमें ही (हि त्वे) बुद्धि (धिषणा) यद्यपि वह धन्या है, धन से पूर्ण है (धन्या चित्) तो भी देवों को चाहती है (देवान् प्रवष्टि), मनगायक के लिये (दिव्य) जन्म चाहती है जिससे कि वह देवों का यजन कर सके (गृणते जन्म यजध्यै),' जब कि, विप्र, अंगिरसों में विप्रतम (सब से अधिक प्रकाशयुक्त) स्तोता (यद्ध विप्र अंगिरसां वेपिष्ठ रेभ) यज्ञ में मधुर छन्द उच्चारण करता है (इष्टौ मधुच्छन्द भनति)।' इससे लगेगा कि अग्नि ही स्वयं विप्र है, अंगिरसों में वेपिष्ठ (विप्रतम) है। या फिर दूसरी तरफ यह वर्णन बृहस्पति के लिये उपयुक्ततम लगेगा।

क्योंकि बृहस्पति भी एक आंगिरस हैं और वह है जो अंगिरस बनता है। जैसा कि, हम देख चुके हैं, वह प्रकाशमान पशुओं के जीतने के कार्य में अंगिरस् ऋषियों के साथ निकटतया संबद्ध है और वह संबद्ध है ब्रह्मणस्पति के तौर पर ब्रह्मन् (पवित्र वाणी या अन्तःप्रेरित वाणी) के पति के तौर पर, क्योंकि उसके शब्द द्वारा (रवेण) बल टुकड़े-टुकड़े हो गया और गौओं ने इच्छा के साथ रंभाते हुए उसकी पुकार का उत्तर दिया। अग्नि की शक्तियों के तौर पर ये अंगिरस् ऋषि उसकी तरह ही वनितनु हैं, वे दिव्य प्रकाश से युक्त हैं और उसके द्वारा दिव्य शक्ति के साथ काम करते हैं, वे केवल ऋषि ही नहीं हैं, किंतु वैदिक युद्ध के वीर हैं 'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः (३-५३-७)' अर्थात् द्यौ के पुत्र हैं, बलाधिपति के वीर हैं, वे हैं (जैसा ६-७५-९[2] में वर्णित है) 'पितर जो माधुर्य (आनन्द के जगत्) में बसते हैं, जो विस्तृत जीवन को स्थापित करते हैं कठिन स्थानों पर

---

[1]धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवान् जन्म गृणते यजध्यै।
वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्र मधुच्छन्दो भनति रेभ इष्टौ॥ (ऋ० ६-११-३)

[2]स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रित शक्तीवन्तो गभीरा।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहा॥ (ऋ० ६-७५-९)

विचरते हैं, दानिवाले हैं, गम्भीर[1] हैं, चित्र सेनावाले हैं, इषुबलवाले हैं, अजेय हैं, अपनी सत्ता में ही वीर हैं, विशाल हैं, शत्रुसमूह का अभिभव करनेवाले हैं', पर साथ ही वे हैं (जैसा कि अगली ऋचा में उनके विषय में कहा गया है) 'ब्राह्मणास पितर सोम्यास' अर्थात् वे दिव्य वाणी (ब्रह्म) वाले हैं और इस वाणी के साथ रहनेवाले अन्न प्रेरित ज्ञान से युक्त हैं[2]। यह दिव्य वाणी है 'सत्य मन्त्र', यह विचार (बुद्धि) है जिसके कि सत्य द्वारा अंगिरस् उषा को जन्म देते हैं और खोये हुए सूर्य को द्युलोक में उदित करते हैं। इस दिव्य वाणी (ब्रह्म) के लिये दूसरा शब्द जो वेद में प्रयुक्त होता है वह है 'अर्क', जिसके कि अर्थ दोनो होते हैं मन्त्र और प्रकाश, और जो कभी-कभी सूर्य का भी वाचक होता है। इसलिये यह है प्रकाश की दिव्य वाणी (ब्रह्म), वह वाणी (ब्रह्म) जो उस सत्य को प्रकाशित करती है जिसका कि सूर्य अधिपति है, और सत्य के गुह्य स्थान से इसका उद्भूत होना सबद्ध है सूर्य द्वारा अपनी गोरूप ज्योतियो की वर्षा करने से, सो हम ७ ३६ १ मे पढते हैं 'सत्य के सदन से ब्रह्म उद्भूत होवे, सूर्य ने अपनी रश्मियो द्वारा गौओं को उन्मुक्त कर दिया है'।

प्र ब्रह्मैतु सदनाद् ऋतस्य, वि रश्मिभि ससृजे सूर्यो गा ।

इस (ब्रह्म) को भी, जैसे कि स्वय सूर्य को, प्राप्त करना, अधिगत करना होता है और इसकी प्राप्ति के लिये भी (अर्कस्य सातौ) देवो को अपनी सहायता देनी होती है, जैसे कि सूर्य की प्राप्ति (सूर्यस्य सातौ) और स्व की प्राप्ति (स्वर्षातौ) के लिये।

इसलिये अङ्गिरा न केवल अग्नि-बल है किन्तु बृहस्पति-बल भी है। बृह-

---

[1]तुलना करो १०-६२ में जो अंगिरसो का वर्णन है कि ये अग्नि के पुत्र है, रूप मे विभिन्न है, पर ज्ञान मे गम्भीर है—'गभीर-वेपस'। (मत्र ५)

[2]वेद में ब्राह्मण शब्द का यही अर्थ प्रतीत होता है। यह तो निश्चित है कि जाति से ब्राह्मण या पेशे से पुरोहित इसका अभिप्राय बिलकुल नही है। यहा पितर योद्धा भी है, जहा विप्र है। चार वर्णों का वर्णन ऋग्वेद में एक ही जगह आया है, उस गभीर पर अपेक्षाकृत पीछे की रचना पुरुषसूक्त म।

स्पति को अनेक बार 'आंगिरस' करके पुकारा गया है, जैसे कि, ६-७३-१ में-

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिरांगिरसो हविष्मान्।

'बृहस्पति, जो पहाड़ी को (पणियों की गुफा को) तोड़नेवाला, प्रथम उत्पन्न हुआ, सत्यवाला, आंगिरस और हविवाला है' और १०-४७-६ में हम बृहस्पति का आंगिरस रूप मे और भी अधिक अर्थपूर्ण वर्णन पाते है।

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।

य आंगिरसो नमसोपसद्यः ....

'विचार (बुद्धि) बृहस्पति की तरफ जाता है, सात किरणोंवाले, सत्य धारणा-वाले, पूर्ण मेधावाले की तरफ, जो आंगिरस है, नमस्कार द्वारा पास पहुचने योग्य।' २-२३-१८ म भी गौओं की उन्मुक्ति और जलों की उन्मुक्ति के प्रकरण में बृहस्पति को 'अंगिर' सबोधित किया गया है।

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।

इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥

'तेरी विभूति के लिये पर्वत जुदा-जुदा फट गया जब कि, हे अंगिरः! तूने गौओं के बाड़े को उपर उन्मुक्त कर दिया, इन्द्र के साथ में, हे बृहस्पति! तूने जलों के पूर को बलपूर्वक खोल दिया जो अन्धकार से सब तरफ से आवृत था।'

हम यहा प्रसगवश इस बात की तरफ भी ध्यान दे सकते हैं कि जलों की उन्मुक्ति जो कि वृत्रगाथा का विषय है कितनी घनिष्ठता के साथ गौओं की उन्मुक्ति के साथ संबद्ध है जो कि अंगिरस् ऋषियों की और पणियों की गाथा का विषय है तथा यह कि वृत्र और पणि दोनों ही अधकार की शक्तिया हैं। गौ सत्य की, सच्चे प्रकाशकर्त्ता सूर्य की (सत्य तत्... सूर्यं) ज्योतियां हैं, और वृत्र के आवरक अधकार से उन्मुक्त हुए जलों को कभी सत्य की धाराए (ऋतस्य धाराः) कहा गया है तो कभी 'स्वर्वती आपः' अर्थात् स्व के, प्रकाशमय सौर लोक के जल।

तो हम देखते हैं कि प्रथम तो अंगिरस् अग्नि की-द्रष्टृसंकल्प की-शक्ति है, वह ऋषि है जो कि प्रकाश द्वारा, ज्ञान द्वारा काम करता है। वह अग्नि के परा-क्रम की ज्वाला है, उस अग्नि के जो महान् शक्ति के रूप म यज्ञ का पुरोहित होने

के लिये और यात्रा का नेता बनने के लिये जगत् में उत्पन्न हुआ है, अग्नि जो कि वह पराक्रम है जिसके विषय मे वामदेव (४.११) देवो से प्रार्थना करता है कि वे उसे यहा मर्त्यों में अमर्त्य के तौर पर स्थापित करे, वह बल जो कि महान् कार्य (अरति) को सपन्न करता है। फिर दूसरे स्थान पर अगिरस् बृहस्पति की शक्ति है या कम-से-कम बृहस्पति की शक्ति से युक्त है, वह बृहस्पति जो कि सत्य विचारनेवाला और सात किरणोवाला है, जिसकी प्रकाशमय सात किरणें उस सत्य को धारण करती है जिसे वह विचारता है (सप्तधीति), और जिसके सात मुख उस शब्द (मन्त्र) को जपते है जो सत्य का प्रकाश करता है, वह देव जिसके विषय में (४.५०.४, ५ म) कहा गया है—

बृहस्पति प्रथम जायमानो महो ज्योतिष. परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमासि ॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वल रुरोज फलिग रवेण। ....

'बृहस्पति जो प्रथम होकर उत्पन्न होता है, महान् प्रकाश मे से उच्चतम आकाश म, बहुत से रूपो म उत्पन्न होनेवाला, सात मुखवाला, सात रश्मिवाला अपने शब्द से अधकार को छिन्न-भिन्न कर देता है। वह अपने ऋक् तथा स्तुभ् (प्रकाश के मत्र तथा देवो के पोषक छद) वाले गण (सेना) द्वारा वल को अपने शब्द से भग्न कर देता है।' इसम सदेह नही किया जा सकता कि बृहस्पति के इस गण या सेना से (सुष्टुभा ऋक्वता गणेन) यहा अभिप्राय अगिरस् ऋषियो म ही है जो कि सत्य मत्र द्वारा इस महान् विजय म सहायता करते है।

इन्द्र के लिए भी वर्णन आता है कि वह अगिरस् बनता है या अगिरस् गुणो से युक्त होता है।* 'वह अगिरसो के साथ अगिरस्तम होवे, वृषो क साथ वृषा (वृषा पुशक्ति है, पुरुष की नृ की शक्ति है रश्मिया और 'अप' जलो की अपेक्षा से जो कि 'गाव' 'धेनव' होते है), सखाओ के साथ सखा होता हुआ, वह ऋक्-वालो के साथ ऋक्वाला, यात्रा करनेवालो (गातुभि—जो आत्माए विशाल और

*सो अगिरोभिरगिरस्तमो भूद् वृषा वृषभि सखिभि सखा सन् ।
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ऋ० १.१००.४

सत्यस्वरूप तक पहुचानेवाले मार्ग पर अग्रसर होती है उनके) के साथ सबसे बडा है, वह इन्द्र हमारे फलने-फूलने के लिये मरुत्वान् (मरुतो से सयुक्त) होवे।' यहा प्रयुक्त किये गये विशेषण सब अगिरस् ऋषियो के अपने निजी विशेषण हैं और यह कल्पना तथा आशा की गयी है कि अगिरस्त्व (अगिरसपने) को बनानेवाले जो सत्त्व या गुण हैं उन्हे इन्द्र अपनेमें धारण कर लेवे। इसी तरह ऋ० ३-३१-७ में कहा है—

अगच्छदु विप्रतम सखीयन् असूदयत् सुकृते गर्भमद्रि ।
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन् अथाभवद् अगिरा सद्यो अर्चन् ॥

'सबसे अधिक ज्ञान-प्रकाशवाला (विप्रतम, यह ६-११-३ के 'विपिष्ठो अगिरसा विप्र' का सवादी प्रयोग है), मित्र होता हुआ (सखीयन्, अगिरस् महान् युद्ध में मित्र या साथी होते हैं) वह चला (अगच्छत्—उस मार्ग पर—गातुभि—जिसे सरमा ने खोज निकाला था), पहाडी ने सुकर्म करनेवाले के लिये अपनी गर्भित वस्तु (गर्भम्) को तुरत प्रस्तुत कर दिया, जवानो सहित उस मर्द ने (मर्यो युवभि—युवा शब्द अजर अक्षीण शक्ति के भाव को भी प्रकट करता है) सपत्ति की पूर्णता को चाहते हुए उसे अधिगत कर लिया (मखस्यन् ससान), इस तरह एकदम स्तोत्र गाते हुए (अर्चन्) वह अगिरस् हो गया।'

यह इन्द्र जो कि अगिरस् के सब गुणो को धारण कर लेता है, हमें स्मरण रखना चाहिये, स्व का (सूर्य या सत्य के विस्तृत लोक का) अधिपति है और यह हमारे पास नीचे उतर आता है अपने दो चमकीले घोडो (हरि) के साथ—जिन घोडो का एक जगह 'सूर्यस्य केतु' पुकारा गया है अर्थात् सूर्य की ज्ञानमयी बोध की या दृष्टि की दो शक्तिया—इसलिये कि यह अधकार के पुत्रो के साथ युद्ध करे और महान् यात्रा में सहायता पहुचावे। वेद के गुह्य अर्थ के सबध मे हम जिन परिणामो पर पहुचे है वे सब यदि ठीक है तो इन्द्र अवश्य ही दिव्य मन की शक्ति (इन्द्र, पराक्रममूर्ति, शक्तिशाली* देव) होना चाहिये, उस दिव्य मन की जो

---

*पर साथ ही शायद 'चमकीला' भी, जैसे इन्दु चन्द्रमा; इन्द्र, तेजस्वी, शुभ्र, इन्धु, प्रदीप्त करना।

कि मनुष्य के अदर जन्म ग्रहण करता है और वहा शब्द (ब्रह्म, मत्र) तथा सोम द्वारा बढता है अपनी पूर्ण दिव्यता तक पहुचने के लिये। यह वृद्धि प्रकाश के जीतने तथा बढने के द्वारा जारी रहती है, बढती जाती है, जबतक कि इन्द्र अपने-आपको पूर्णतया उस सपूर्ण प्रकाशमय गोसमूह के अधिपति के रूप में प्रकट नहीं कर देता जिसे कि वह 'सूर्य की आख' द्वारा देखता है, जबतक कि वह ज्ञान के सपूर्ण प्रकाशो का स्वामी दिव्य मन नही बन जाता।

इन्द्र अंगिरस् बनने मे मरुत्वान् होता है अर्थात् मरुतोवाला या मरुत् है सहचारी जिसके ऐसा बनता है, और ये मरुत्, आधी और विद्युत् के चमकीले तथा रौद्र देव, वायु की अर्थात् प्राण या जीवन के अधिष्ठातृ-देव की जबर्दस्त शक्ति को और अग्नि अर्थात् द्रष्टृ-सकल्प की शक्ति को अपने अदर मिलाते हैं, अतएव ये ऋषि, कवि हैं जो ज्ञान से (अपना) कार्य करते हैं (कवयो विद्मनापस), जब कि ये साथ ही युद्ध करनेवाली शक्तिया भी हैं जो दृढतया स्थापित वस्तुओ का, कृत्रिम बाधाओ को (कृत्रिमाणि रोधासि), जिनमे अन्धकार के पुत्रो ने अपने को सुरक्षित रूप से जमा रखा है, द्युलोक के प्राण की और द्युलोक की विद्युत्की शक्ति के द्वारा, उखाड फेंकती हैं और वृत्र तथा दस्युओ को जीतने मे इन्द्र को सहायता देती हैं। गुह्य वेद के अनुसार ये मरुत् वे जीवन-शक्तिया प्रतीत होती हैं जो कि मर्त्य-चेतना के अपने-आपको सत्य और आनन्द की अमरता मे बढाने या विस्तृत करने के प्रयत्न मे विचार के कार्य को अपनी वातिक या प्राणिक शक्तियो द्वारा पोषण प्रदान करती हैं। कुछ भी हो, उन्हे भी ६ ८९-११ मे अंगिरस के गुणो के साथ काम करते हुए (अंगिरस्वत्) वर्णित किया गया है—हे जवानो और ऋषियो तथा यज्ञ की शक्तियो मरुतो! (दिव्य) शब्द का उच्चारण करते हुए उच्च स्थान पर (या पृथ्वी के वरणीय स्तर पर या पहाडी पर 'अधि सानु पृश्नेः' जो कि बहुत सभवत 'वरस्याम्' का अभिप्राय है) आओ, शक्तिया जो कि बढती हो अंगिरस्* के समान ठीक-ठीक चलती हो (मार्ग पर, गातु) उसको भी जो कि प्रकाश-

*यह ध्यान देने योग्य है कि सायण यहा इस विचार को पेश करने का साहस करता है कि अगिरस् का अर्थ है गतिशील किरणें (अग् गति करना इस धातु से)

युक्त नहीं है (अचित्रम्, वह जिसने कि उषा के चित्र-विचित्र प्रकाश को नहीं पाया है, हमारे साधारण अन्धकार की रात्रि) प्रसन्नता देते हो।" यहां हम अंगिरस्-कार्य की उन्हीं विशेषताओं को देखते हैं, अग्नि की नित्य जवानी और शक्ति (अग्ने यविष्ठ), शब्द को प्राप्त करना और उसका उच्चारण करना, ऋषित्व (द्रष्टृत्व), यज्ञ के कार्य को करना, महान् मार्ग पर ठीक-ठीक चलना जो कि, जैसा कि हम देखेंगे, सत्य के शब्द की ओर, बृहत् और प्रकाशमय आनन्द की ओर ले जाता है। मरुतों को ऐसा भी कहा गया है (१०।७८।५) कि मानो वे वास्तव में "अपने सामसूक्तों सहित अंगिरस् हों, वे जो कि सब रूपों को धारण करते हैं", (**विश्वरूपा अंगिरसो न सामभिः**)।

यह सब कार्य और प्रगति तब संभव बताये गये हैं जब कि उषा आती है। उषा को भी 'अंगिरस्तमा' कहके तथा इसके अतिरिक्त 'इन्द्रतमा' भी कहके वर्णन किया गया है। अग्नि की शक्ति, अंगिरस-शक्ति, अपने-आपको इन्द्र की विद्युत् में तथा उषा की किरणों में भी व्यक्त करती है। दो ऐसे संदर्भ उद्धृत किये जा सकते हैं जो कि अंगिरस-शक्ति के इस पहलू पर प्रकाश डालते हैं। पहला है ७।७९।२,३[2] में—"उषाएं अपनी किरणों को द्युलोक के प्रांतों, छोरों तक चमकने

या अंगिरस् ऋषि। यदि वह महान् पंडित अपने विचारों का और भी अधिक साहस के साथ अनुसरण करता हुआ उनके तात्त्विक परिणाम तक पहुंचने में समर्थ होता, तो वह आधुनिक वाद का उसके मुख्य मूलभूत अंगों में पहले से ही पता पा लेता।

[1]आ युवानः कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्।
अचित्रं चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत्॥
ऋ० ६।४९।११।

[2]व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू॥
अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यंगिरस्तमा सुकृते वसूनि॥ ऋ० ७।७९।२,३

देती है, वे उन लोगो के समान मेहनत करती है जो कि किसी काम पर लगाये गये होते हैं। तेरी किरणें अन्धकार को भगा देती है, वे प्रकाश को ऐसे फैलाती है मानो कि सूर्य अपनी दो बाहुओ को फैला रहा हो। उषा हो गयी है (या उत्पन्न हुई है) इन्द्र-शक्ति से अधिक-से-अधिक पूर्ण (इन्द्रतमा), ऐश्वर्यों से समृद्ध और उसने हमारे कल्याण-जीवन के लिये (या भलाई और आनन्द के लिये) ज्ञान की अन्त प्रेरणाओ, श्रुतियो को जन्म दिया है, देवी, द्युलोक की पुत्री, अङ्गिरस-पने से अधिक से अधिक भरी हुई (अगिरस्तमा) अच्छे कामो को करनेवाले के लिये अपने ऐश्वर्यों का विधान करती है।" वे ऐश्वर्य जिनसे कि उषा समृद्धिशालिनी है प्रकाश के ऐश्वर्य और सत्य की शक्ति के सिवाय और कुछ नही हो सकते, इन्द्र-शक्ति से अर्थात् दिव्य ज्ञानदीप्त मन की शक्ति से परिपूर्ण, वह (उषा) उस दिव्य मन की अन्त प्रेरणाओ, श्रुतियों को (श्रवासि) देती है जो श्रुतिया हमें आनन्द की तरफ ले जाती है, और अपने म विद्यमान ज्वालायुक्त जाज्वल्यमान अगिरस-शक्ति के द्वारा वह अपने खजाना को उनके लिये प्रदान करती और विधान करती है जो कि महान् कार्य को ठीक ढग से करते है और इस प्रकार मार्ग पर ठीक तरीके से चलते है-(इत्या नक्षन्तो अगिरस्वत्)।

दूसरा सदर्भ ७।७५ मे है-"द्युलोक से उत्पन्न हुई उषा ने सत्य के द्वारा (अन्धकार के आवरण को) खोल दिया है और वह विशालता (महिमानम्) को व्यक्त करती हुई आती है, उसने द्रोहो और अधकार (द्रुहस्तम) के आवरण को हटा दिया है, तथा उन सबके जो कि प्रीतिरहित (अजुष्ट) है, अगिरस्-पने से अधिक-से-अधिक परिपूर्ण वह (महान् यात्रा के) मार्गों को दिखलाती है।१। आज हे उष ! हमे महान् आनन्द (महे सुविताय) की यात्रा के लिये जगाओ, सुखभोग की महान् अवस्था के लिये (अपने ऐश्वर्यों को) विस्तारित करो, हममे अन्त प्रेरित ज्ञान मे पूर्ण (श्रवस्युम्) विविध दीप्तिवाले (चित्रम्) धन को धारण कराओ, हे *हम मर्त्यों में मानुषि और देवि ! ।२। ये है दृश्य उषा की दीप्तिया जो कि आयी* है, विविधतया दीप्त (चित्रा) और अमर रूप म, दिव्य कार्यों को जन्म देती हुई वे अपने-आपको प्रसारित करती है, अन्तरिक्ष के कार्यों को उनमे भरती हुई,"-

जनयन्तो दैव्यानि व्रतानि, आपृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थु *।

हम फिर अंगिरस्-शक्ति को यात्रा में सम्बन्धित पाते हैं, अन्धकार को दूर करने द्वारा तथा उषा की ज्योतियों को लाने द्वारा इस यात्रा के मार्गों का प्रकाशित होना पाते हैं। पणि प्रतिनिधि हैं, उन हानियों के (द्रुह्, क्षतिया या वे जो क्षति पहुंचाते हैं) जो दुष्ट शक्तियों द्वारा मनुष्य को पहुंचायी जाती हैं, अन्धकार उनकी गुफा है, यात्रा वह है जो कि प्रकाश और शक्ति और ज्ञान के हमारे बढ़ते हुए धन के द्वारा हमें दिव्य सुख और अमर आनन्द की अवस्था की ओर ले जाती है। उषा की अमर दीप्तियां जो मनुष्य में दिव्य कार्यों (व्रता) को जन्म देती है और पृथ्वी तथा द्यौ के बीच में स्थित अन्तरिक्ष के कार्यों का (अर्थात्, उन प्राणमय स्तरों के व्यापार को जो कि वायु से शासित होते हैं और हमारी भौतिक तथा शुद्ध मानसिक सत्ता को जोड़ते हैं) उनमें (अपने दिव्य कार्यों से) आपूरित कर देती हैं वे ठीक ही अंगिरस शक्तियां हो सकती हैं। क्योंकि वे भी दिव्य कार्यों को अक्षत बनाये रखने के द्वारा (अमर्धन्तो दैव्या व्रतानि) सत्य को प्राप्त करते और उसको बनाये रखते हैं। निश्चय ही यह उनका (अंगिरसों का) व्यापार है कि वे दिव्य उषा को मर्त्य (मानुष) प्रकृति के अन्दर उतार लावें जिससे कि वह दृश्य (प्रकट) देवी अपने एश्वर्यों को उंडेलती हुई वहां उपस्थित हो सके, जो कि एकदम देवी और मानुषी है (देवि मर्तेषु मानुषि), देवी जो मर्त्यों में मानुषी होकर आयी है।

---

*व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाऽऽविष्कृण्वाना महिमानमागात्।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः॥
महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम्॥
एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः॥ (ऋ. ७-७५-१,२,३)

अठारहवा अध्याय

सात-सिरोंवाला विचार, स्वः और दशग्वा ऋषि

तो वैदिक मत्रो की भाषा अगिरस् ऋषियो के द्विविध रूप का प्रतिपादन करती है। एक का सबध वेद के बहिरग से है, इसमे सूर्य, ज्वाला, उषा, गौ, अश्व, सोमसुरा, यज्ञिय मन्त्र ये सब एक-दूसरे से गुथकर एक प्रकृतिवादसुलभ रूपक बनाते है, दूसरे अतरग रूप में इस रूपक म से इसका आन्तरिक आशय निकाला जाता है। अगिरस् ज्वाला के पुत्र है, उषा की ज्योतिया है, सोम-रस को पीनेवाले और देनेवाले है, मत्र के गायक है, सदा युवा रहनेवाले और ऐसे वीर है कि सूर्य को, गौओ को, घोडो को और सारे ही खजानो को अधकार के पुत्रो के पजे से हमारे लिये छीन लाते है। पर साथ ही वे सत्य के द्रष्टा, सत्य के शब्द को पा लेनेवाले और उसके बोलनेवाले है, और सत्य की शक्ति के द्वारा वे प्रकाश और अमरता के उस विशाल लोक को हमारे लिये जीत लाते है जिसका वेद म इस रूप में वर्णन हुआ है कि वह बृहत् है सत्य है ऋत है और उस ज्वाला का स्वकीय घर है जिसके कि वे अगिरस् पुत्र है। यह भौतिक रूपक और ये आध्यात्मिक निर्देश आपस में बड़ी घनिष्ठता के साथ गुथे हुए है और वे एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते।

इसलिये हम सामान्य बुद्धि के आधार पर ही इस परिणाम पर पहुचने के लिये बाध्य होते है कि वह ज्वाला जिसका कि ऋत और सत्य अपना स्वकीय घर है स्वय उस ऋत और सत्य की ही ज्वाला है, कि वह प्रकाश जो कि सत्य से और सत्य विचार की शक्ति से जीतकर प्राप्त किया जाता है सिर्फ भौतिक प्रकाश नहीं है, वे गौए जिन्हें सरमा सत्य के पथ पर चलकर पाती है केवल भौतिक पशु नही है, घोडे केवल वह द्राविड लोगो की भौतिक पशुओ की सपत्ति नही है जिसे आक्राता आर्य-जातियो ने जीतकर अपने अधीन कर लिया था, न ही ये सब केवल-मात्र भौतिक उषा, इसके प्रकाश और इसकी तेजी से गति करती हुई किरणो के ही

रूपकात्मक वर्णन है, और न वह अधकार जिसके कि पणि तथा वृत्र रक्षक हैं केवल भारत की या उत्तरीय ध्रुव की रात्रियों का अधकार मात्र है। हम तो अब यहा तक बढ चुके है कि इस विषय में एक युक्तियुक्त कल्पना प्रस्तुत कर चुके हैं, जिसके कि द्वारा हम इस सब आलकारिक रूपक के असली अभिप्राय को समझ सकते है और इन ज्योतिर्मय देवो तथा इन दिव्य प्रकाशमान ऋषियों की (अर्थात् अगिरसो की) वास्तविक दिव्यता की खोज निकाल सकते है।

अगिरस् ऋषि एक साथ दिव्य और मानव दोनो प्रकार के द्रष्टा है। वेद में ऐसा द्विविध स्वरूप अपने आपमें केवल इन ऋषियो के लिये ही असाधारण या विशिष्ट धर्म नही है। वैदिक देवताओ की भी दो प्रकार की क्रिया होती है, वे दिव्य है और अपने स्वरूप म परिस्थि में विद्यमान है, पर वे मर्त्य स्तर पर अपनी क्रिया करते हुए मानव हो जाते हैं जब कि वे मनुष्य के अदर महान् उत्थान के लिये क्रमश बढ रहे होते है। उषा देवी की स्थिति वर्णन करते हुए यह भाव बडे सुन्दर ढग से व्यक्त किया गया है, 'देवी जो कि मर्त्यो के अदर मानुषी है', (**देवि मर्तेषु मानुषि**); पर अगिरस् ऋषियो के रूपक में यह द्विविध स्वरूप परम्परा के द्वारा और अधिक पचीदा हो गया है, जिस परम्परा के अनुसार कि वे मानव पितर है, प्रकाश के, मार्ग के और लक्ष्य के अन्वेषक है। हमें देखना होगा कि यह पेचीदगी वैदिक सप्रदाय और वैदिक प्रतीकवाद की हमारी कल्पना पर क्या प्रभाव डालती है।

अगिरस ऋषि सामान्यत सख्या में सात वर्णन किये गये है, वे 'सप्त विप्रा' है जो कि पौराणिक परम्परा* द्वारा हम तक सप्तर्षि (सात ऋषि) के रूप में पहुचे है और जिन्हे भारतीय नक्षत्र विद्या ने बृहद् ऋक्ष के तारामण्डल म बैठा दिया है। पर साथ ही उन्हें 'नवग्वा' और 'दशग्वा' रूप में भी वर्णित किया गया है। यद्यपि ऋ० ६ २२ २ में उन प्राचीन पितरो के विषय मे कहा गया है कि सात द्रष्टा जो कि नवग्वा थे, (**पूर्वे पितरो नवग्वा सप्त विप्रास**) तो भी

---

*यह आवश्यक नही है कि सप्तर्षियो के जो नाम पुराण में आते है वे वही हो जो कि वैदिक परम्परा में है।

३.३९.५ में हम नवग्वा तथा दशग्वा इन दो विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख पाते हैं, जिनमें कि दशग्वा संख्या में दस हैं और नवग्वा शायद नौ हैं, यद्यपि इनके नौ होने के बारे में स्पष्ट वर्णन नहीं है—

सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।

सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥

"जहां अपने सखाओं नवग्वाओं के साथ एक सखा इन्द्र ने गौओं का अनुसरण करते हुए दस दशग्वाओं के साथ उस सत्य को पा लिया, सूर्य को भी जो कि अन्धकार में रह रहा था।" दूसरी ओर ऋ ४.५१.४ में हमें अगिरसों के बारे में एक सामूहिक, एकवचनात्मक वर्णन मिलता है कि वे सात चेहरोंवाले या सात मुखोंवाले, नौ किरणोंवाले और दस किरणोंवाले हैं—(नवग्वे अगिरे दशग्वे सप्तास्ये)। १० १०८ ८ में हमें एक दूसरे ऋषि 'अयास्य' का नाम मिलता है जो कि नवग्वा अगिरसों के साथ जुड़ा हुआ है।[1] १०.६७ में इस 'अयास्य' के लिये कहा गया है कि यह हमारा पिता है जिसने सत्य में से उत्पन्न होनेवाले सात सिरों के महान् विचार को पाया है और यह अयास्य इन्द्र के लिये स्तुति-मन्त्रों का गान करता है।[2] इसके अनुसार कि नवग्वा सात या नौ हैं, अयास्य आठवां या दसवां ऋषि होगा।

परम्परा यह बताती है कि अगिरस् ऋषियों की दो श्रेणियों का पृथक् पृथक् अस्तित्व है, एक तो नवग्वा जिन्होंने नौ महीने यज्ञ किया और दूसरे दशग्वा जिनके यज्ञ का कार्यकाल दस महीने रहा। इस व्याख्या के अनुसार हमें नवग्वा और दशग्वा को इस रूप में लेना होगा कि वे 'नौ गौओंवाले' और 'दस गौओंवाले' हैं और प्रत्येक गौ तीस उषाओं की द्योतक है जिनसे मिलकर यज्ञ के वर्ष का एक महीना बनता है। परंतु कम-से-कम एक संदर्भ तो ऋग्वेद का ऐसा है जो कि ऊपर से देखने में इस परम्परागत व्याख्या के सीधा विरोध में जाता है।

---

[1] एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः। (१०-१०८-८)

[2] इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्।(१०-६७-१)

क्योंकि ५.४५ की ७वीं ऋचा में और फिर ११वीं में यह कहा गया है कि वे नवग्वा थे, न कि दशग्वा, जिन्होंने दस महीनों यज्ञ किया या स्तुति-मन्त्रों का गान किया। यह ७वीं ऋचा इस प्रकार है—

अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वाः।

ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार॥

"यहाँ हाथ से हटाये हुए पत्थर ने आवाज की (या वह हिला), जिससे कि नवग्वा दस मास तक मन्त्रपाठ करते रहे। सत्य की ओर यात्रा करती हुई सरमा ने गौओं को पा लिया, अंगिरस् ने सब वस्तुओं को सत्य कर दिया।" और ११वीं ऋचा में इस कथन को फिर दोहराया गया है—

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् दश मासो नवग्वाः।

अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः॥

'मैं तुम्हारे लिये जलों में (अर्थात् सात नदियों में) उस विचार को रखता हूं जो कि स्वर्ग का जीतकर हस्तगत कर लेता है,* (यह एक बार फिर उस सात सिरों के विचार का वर्णन आ गया जो सत्य से उत्पन्न हुआ है और जिसे अयास्य ने पाया है), जिसके द्वारा नवग्वाओं ने दस महीनों को पार किया। इस विचार के द्वारा हम देवों को अपने रक्षक के रूप में पा सकें, इस विचार के द्वारा हम पाप को अतिक्रमण कर सकें।' कथन बिल्कुल स्पष्ट है। सायण ने अवश्य सातवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए एक हल्का सा प्रयत्न यह किया है कि 'दश मास' दस महीनों को उसने विशेषण मान लिया है और फिर उसका अर्थ किया है 'दस महीनों-

---

*सायण ने इसका अर्थ यह लिया है कि 'मैं जलों के निमित्त से स्तुति करता हूं' अर्थात् इसलिये कि वर्षा हो,—'धियं स्तुतिम् अप्सु अप्निमित्तं दधिषे धारयामि।' पर यहां कारक अधिकरण-बहुवचन है और 'दधिषे' का अर्थ है 'मैं रखता हूं या थामता हूं' अथवा अध्यात्मपरक अभिप्राय को लें तो 'विचारता हूं' या 'विचार में थामता हूं, अर्थात् ध्यान करता हूं।' 'धी' की तरह 'धिषणा' का अर्थ है 'विचार', इस प्रकार 'धियं दधिषे' का अर्थ होगा 'मैं विचारता हूं' या 'विचार का ध्यान करता हूं।'

वाले अर्थात् दशग्वा', पर उसने भी इस असंभव में अर्थ को वैकल्पिक रूप में ही ग्रहण किया है और ग्यारहवीं ऋचा में इसे बिल्कुल छोड़ दिया है, वैकल्पिक रूप में भी नहीं लिया है।

तो क्या हम यह अनुमान करें कि इस सूक्त का कवि परम्परा को भूल गया था और इसलिये वह दशग्वा तथा नवग्वा में गड़बड़ कर रहा था? ऐसी कोई कल्पना मानने योग्य नहीं है। कठिनाई हमारे सामने इसलिये उपस्थित होती है कि हम यह समझ बैठते हैं कि वैदिक ऋषियों के मन में नवग्वा तथा दशग्वा ये अंगिरस ऋषियों की दो अलग-अलग श्रेणियां थीं। परन्तु इसकी अपेक्षा प्रतीत यह होता है कि ये दोनों अंगिरस्त्व की (अंगिरसपने की) दो अलग अलग शक्तियां थीं और उस अवस्था में नवग्वा ऋषि ही दशग्वा हो सकते थे, यदि वे अपने यज्ञ के काल को नौ के स्थान पर बढ़ाकर दस महीनें का कर लेते। सूक्त में 'दश मासो अतरन्' इस प्रयोग से यह भाव प्रकट होता है कि पूरे दस महीनें के समय को पार कर लेने में कोई कठिनाई सामने आती थी। प्रतीत होता है कि यही काल था जिसके बीच में अन्धकार के पुत्रों को यज्ञ पर आक्रमण करने का सामर्थ्य या हौसला हो सकता था, क्योंकि यह सूचित किया गया है कि ऋषि दस महीनों को केवल तभी पार कर सकते हैं जब कि वे उस विचार को अपने अंदर धारण कर लेते हैं जो कि 'स्वः' अर्थात् सौर लोक को जीत लानेवाला है, पर एक बार जब वे इस विचार को पा लेते हैं तब निश्चित ही वे देवताओं के रक्षण में हो जाते हैं और तब वे पाप के आक्रमणों से पार हो जाते हैं, पणियों और वृत्रों के द्वारा हो सकनेवाली क्षतियों से परे हो जाते हैं।

यह 'स्वः' को विजय कर लानेवाला विचार (स्वर्षा धीः) निश्चय से वही है जो कि सात-सिरोंवाला विचार (सप्तशीर्ष्णी धीः) है, सात-सिरों-वाला वह विचार जो सत्य में से पैदा हुआ है और जिसे नवग्वाओं के साथी अयास्य ने खोज निकाला है। क्योंकि हमें बताया गया है कि अयास्य इसके द्वारा 'विश्वजन्य' हो गया और सब लोकों के जन्मों का आलिंगन करते हुए उस-ने एक चौथे लोक को या चतुर्व्यूढ लोक को उत्पन्न किया और यह चौथा लोक निचले तीन लोकों—द्यौ अन्तरिक्ष तथा पृथिवी—से परे का अतिमानस लोक ही

होना चाहिये जो कि घोर के पुत्र कण्व के अनुसार वह लोक है जहां मनुष्य वृत्र का वध कर चुकने के बाद द्यावा-पृथिवी को पार कर लेने के द्वारा पहुंचते हैं। इसलिये यह चौथा लोक 'स्व' ही होगा। अयास्य का सात-सिरोंवाला विचार उसे 'विश्वजन्य' बन जाने लायक कर देता है, जिसका संभवतः यह अभिप्राय है कि वह आत्मा के सब लोकों या जन्मों को अधिगत (प्राप्त) कर लेना है, और वह विचार उसे इस योग्य कर देता है कि वह किसी चौथे लोक (स्व) को प्रकट या उत्पन्न कर सके (तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्यः), और वह विचार भी जो कि सात नदियों में स्थापित किया गया है और जिससे नवग्वा ऋषि दस महीनों को पार कर लेने योग्य हो जाते हैं 'स्वर्षा' है अर्थात् वह 'स्व' पर अधिकार करा देता है। ये दोनों स्पष्टतया एक ही हैं। तो क्या इससे हम इस परिणाम पर नहीं पहुंचते कि वह अयास्य ही है जिसके नवग्वा के साथ आ मिलने से नवग्वाओं की संख्या बढ़कर दस हो जाती है, और जो 'स्व' को जीत लेनेवाले सात-सिरोंवाले विचार की अपनी खोज से उन्हें इस योग्य बना देता है कि वे नौ महीने के यज्ञ का लंबा करके दसवें महीने तक ले जा सके ? इस प्रकार वे दस दशग्वा हो जाते हैं। इस प्रकरण में हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि सोम के मद का, जिससे कि इन्द्र 'स्व' की शक्ति (स्वर्णर) को प्रकट करता है या बढ़ाता है, इस रूप में वर्णन हुआ है कि वह दस किरणोंवाला है और प्रकाशक है (दशग्वं वेपयन्तम् ८-१२-२)।

यह परिणाम ३-३९-५ के संदर्भ से, जिसे हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं, पूरी तौर से पुष्ट हो जाता है। क्योंकि वहां हम पाते हैं कि इन्द्र खोयी हुई गौओं के पद चिह्नों का अनुसरण तो नवग्वाओं की सहायता से करता है, पर यह केवल दस दशग्वाओं की मदद से ही हो पाता है कि वह उस अनुसरण का जो उद्देश्य है उसमें सफल होता है और वह उस सत्य को, सत्यं तत् उस सूर्य को जो कि अन्धकार में पड़ा हुआ था, पा लेता है। दूसरे शब्दों में जब नौ महीने का यज्ञ लंबा होकर दसवें महीने में पहुंच जाता है, जब नवग्वा दसवें ऋषि अयास्य के सात-सिरोंवाले विचार के द्वारा दस दशग्वा बन जाते हैं, तभी 'सूर्य' मिल पाता है और 'स्व' का प्रकाशमान लोक खुल जाता है तथा जीत लिया

जाना है। 'स्व.' की यह विजय ही यज्ञ का और अंगिरस ऋषियों से पूर्ण किये जानेवाले महान् कार्य का लक्ष्य है।

पर महीनों के अलंकार का क्या अभिप्राय है? क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह एक अलंकार है, एक रूपक है, इसलिये वर्ष यहां प्रतीकरूप है और महीने भी प्रतीकरूप हैं[1]। यह एक वर्ष के चक्कर में ही पाता है कि खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौएं फिर से प्राप्त होती हैं, क्योंकि १०-६२-२ में हम स्पष्ट वचन पाते हैं–

ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

' 'सत्य के द्वारा, एक वर्ष के चक्कर में', अथवा सायण ने जैसी इसकी व्याख्या की है कि 'उस यज्ञ के द्वारा-जो कि एक वर्ष तक चला', उन्होंने वल का भेदन किया।" यह संदर्भ अवश्य उत्तरीय ध्रुववाली कल्पना का अनुमोदन करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यहां सूर्य के दैनिक नहीं, किंतु वार्षिक प्रत्यावर्तन का उल्लेख है। लेकिन अलंकार के इस बाह्य रूप से हमारा कोई संबंध नहीं, न ही इसका प्रमाणित हो जाना हमारी अपनी कल्पना पर किसी प्रकार से असर डालता है, क्योंकि यह बड़ी अच्छी प्रकार हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुव की लंबी रात्रि, वार्षिक सूर्योदय तथा अविच्छिन्न उषाओं के अद्भुत अनुभव को रहस्यवादियों ने आत्मिक रात्रि तथा इसमेंसे कठिनता से होनेवाले प्रकाशोदय का अलंकार बना लिया हो। पर समय का, महीनों तथा वर्षों का यह विचार प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, यह बात वेद के दूसरे संदर्भों से स्पष्ट होती है, विशेषकर बृहस्पति को कहे गये गृत्समद के सूक्त २-२४ से।

इस सूक्त में बृहस्पति का वर्णन इस रूप में किया गया है कि उसने गौओं को हांका, दिव्य शब्द के द्वारा, ब्रह्मणा, वल को तोड़ डाला अन्धकार को छिपा दिया और 'स्व.' को सुदृश्य कर दिया[2]। इसका पहिला परिणाम यह होता

---

[1]देखो कि पुराणों में युग, पल, मास आदि सब प्रतीकरूप हैं और यह कहा गया है कि मनुष्य का शरीर संवत्सर है।

[2]उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्व । (ऋ. २-२४-३)

होना चाहिये जो कि घोर के पुत्र कण्व के अनुसार वह लोक है जहां मनुष्य वृत्र का वध कर चुकने के बाद द्यावा-पृथिवी को पार कर लेने के द्वारा पहुंचते हैं। इसलिये यह चौथा लोक 'स्व' ही होगा। अयास्य का सात-सिरोंवाला विचार उसे 'विश्वजन्य' बन जाने लायक कर देता है, जिसका संभवतः यह अभिप्राय है कि वह आत्मा के सब लोकों या जन्मों को अधिगत (प्राप्त) कर लेता है, और वह विचार उसे इस योग्य कर देता है कि वह किसी चौथे लोक (स्व) को प्रकट या उत्पन्न कर सके (तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्य), और वह विचार भी जो कि सात नदियों में स्थापित किया गया है और जिससे नवग्वा ऋषि दस महीनों को पार कर लेने योग्य हो जाते हैं 'स्वर्षा' है अर्थात् वह 'स्व' पर अधिकार करा देता है। ये दोनों स्पष्टतया एक ही हैं। तो क्या इससे हम इस परिणाम पर नहीं पहुंचते कि वह अयास्य ही है जिसके नवग्वा के साथ आ मिलने से नवग्वाओं की संख्या बढ़कर दस हो जाती है, और जो 'स्व' को जीत लेनेवाले सात सिरोंवाले विचार की अपनी खोज से उन्हें इस योग्य बना देता है कि वे नौ महीने के यज्ञ को लंबा करके दसवें महीने तक ले जा सकें? इस प्रकार वे दस दशग्वा हो जाते हैं। इस प्रकरण में हम इसपर भी ध्यान दे सकते हैं कि सोम के मद का, जिससे कि इन्द्र 'स्व' की शक्ति (स्वर्णर) को प्रकट करता है या बढ़ाता है, इस रूप में वर्णन हुआ है कि वह दस किरणोंवाला है और प्रकाशक है (दशग्वं वेपयन्तम् ८-१२-२)।

यह परिणाम ३-३९.५ के संदर्भ से, जिसे हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं पूरी तौर से पुष्ट हो जाता है। क्योंकि वहां हम पाते हैं कि इन्द्र खोयी हुई गौओं के पद चिह्नों का अनुसरण तो नवग्वाओं की सहायता से करता है, पर वह केवल दस दशग्वाओं की मदद से ही हो पाता है कि वह उस अनुसरण का जो उद्देश्य है उसमें सफल होता है और वह उस सत्य को, सत्यं तत्, उस सूर्य को जो कि अन्धकार में पड़ा हुआ था, पा लेता है। दूसरे शब्दों में जब नौ महीने का यज्ञ लंबा होकर दसवें महीने में पहुंच जाता है, जब नवग्वा दसवें ऋषि अयास्य के सात-सिरोंवाले विचार के द्वारा दस दशग्वा बन जाते हैं, तभी 'सूर्य' मिल पाता है और 'स्व' का प्रकाशमान लोक खुल जाता है तथा जीत लिया

जाना है। 'स्व' की यह विजय ही यज्ञ का और अंगिरस ऋषियो से पूर्ण किये जानेवाले महान् कार्य का लक्ष्य है।

पर महीनो के अलकार का क्या अभिप्राय है? क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह एक अलकार है, एक रूपक है, इसलिये वर्ष यहा प्रतीकरूप है और महीने भी प्रतीकरूप है[1]। यह एक वर्ष के चक्कर मे हो पाता है कि खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौए फिर से प्राप्त होती है, क्योंकि १०-६२-२ में हम स्पष्ट कथन पाते है—

ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

' 'सत्य के द्वारा, एक वर्ष के चक्कर में', अथवा सायण ने जैसी इसकी व्याख्या की है कि 'उस यज्ञ के द्वारा-जो कि एक वर्ष तक चला', उन्होने वल का भेदन किया।" यह सदर्भ अवश्य उत्तरीय ध्रुववाली कल्पना का अनुमोदन करता हुआ प्रतीत होता है, क्योकि यहा सूर्य के दैनिक नहीं, किंतु वार्षिक प्रत्यावर्तन का उल्लेख है। लेकिन अलकार के इस बाह्य रूप से हमारा कोई सबध नही, न ही इसका प्रमाणित हो जाना हमारी अपनी कल्पना पर किसी प्रकार से असर डालता है, क्योंकि यह बडी अच्छी प्रकार हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुव की लबी रात्रि, वार्षिक सूर्योदय तथा अविच्छिन्न उषाओं के अद्भुत अनुभव को रहस्यवादियो ने आत्मिक रात्रि तथा इसमेंसे कठिनता से होनेवाले प्रकाशोदय का अलकार बना लिया हो। पर समय का, महीनो तथा वर्षों का यह विचार प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, यह बात वेद के दूसरे सदर्भों से स्पष्ट होती है, विशेषकर बृहस्पति को कहे गये गृत्समद के सूक्त २-२४ मे।

इस सूक्त मे बृहस्पति का वर्णन इस रूप में किया गया है कि उसने गौओ को हाका, दिव्य शब्द के द्वारा, ब्रह्मणा वल को तोड डाला, अन्धकार को छिपा दिया और 'स्व' को सुदृश्य कर दिया[2]। इसका पहिला परिणाम यह होता

---

[1]देखो कि पुराणो में युग, पल, भाग आदि सब प्रतीकरूप है और यह कहा गया है कि मनुष्य का शरीर सवत्सर है।

[2]उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्व। (ऋ. २-२४-३)

है कि वह कुआ बलपूर्वक तोड़ा जाकर (समाजसानुणत्) खुल जाता है, जिस के मुह पर चट्टान पड़ी हुई है और जिसकी धाराए शहद की, मधु की, सोम के माधुर्य की है, ('अश्मास्यम् अवत मधुधारम्' २-२४-४)। चट्टान से ढका हुआ, यह शहद का कुआ अवश्य वह आनन्द है या दिव्य मोक्षसुख है, जो आनन्दमय अत्युच्च त्रिगुणित लोक में रहता है, जो त्रिगुणित लोक पौराणिक सम्प्रदाय के सत्य, तपस् और जन-लोक हैं जो कि सत्, चित्-तपस् और आनन्द इन तीन उच्चतम तत्त्वों पर आश्रित है। इन तीन के अधोभाग म चौथा वेद का 'स्व' और उपनिषद् और पुराणो का 'मह' है, जो सत्य का लोक है*। इन चारो से मिलकर चतुर्गुणित चौथा लोक बनता है (तुरीय, नीचे के तीन लोकों की अपेक्षा मे भी चौथा)। ऋग्वेद म इन चार का वर्णन इस रूप म आया है कि ये चार अत्युच्च तथा गुह्य स्थान है और 'उच्चतर चार नदियो' के आदिस्रोत है। तो भी यह ऊपर का चतुर्गुणित लोक कही-कही दो में विभक्त हुआ प्रतीत होता है, 'स्व' जिसका अधोभाग है और 'मय' या दिव्य मोक्षसुख शिखर है जिसमें कि आरोहण करते हुए आत्मा के पाच लोक या जन्म (दो ये और तीन निम्नतर) हो जाते हैं। अन्य तीन नदिया सत्ता की तीन निम्नतर शक्तिया है, जिनसे कि तीन निम्न लोको के तत्त्व निर्मित होते है।

इस रहस्यमय शहद के कुए को वे सब पीते है जो 'स्व' को देखने म समर्थ होत है और वे इसके लहराते हुए माधुर्य के स्रोत को खोलकर एक साथ कई धाराओ में प्रवाहित कर देते हैं—

---

*उपनिषद् तथा पुराणो मे 'स्व' और 'द्यौ' म कोई फर्क नही किया गया है। इसलिये यह आवश्यक हुआ कि 'सत्य के लोक' के लिये एक चौथा नाम ढूढा जाय और यह 'मह' मिल गया है, जिसके विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् में यह कहा है कि महाचमस्य ने इसे चौथी व्याहृति के रूप मे जाना था, जब कि शेष तीन व्याहृतिया थी, स्व, भुव और भू अर्थात् वेद के द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी। (देखो, तै० ५-१—भूर्भुव सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतय। तासामु ह स्मैतां चतुर्थी महाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति।)

तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥ २-२४-४ ॥

एक साथ प्रवाहित की गयी बहुत-सी धाराएं वे ही सात नदियां हैं जो इन्द्र के द्वारा वृत्र का वध कर चुकने के बाद पर्वत से नीचे की ओर बहाई जाती हैं। ये सत्य की धाराएं या नदियां हैं (ऋतस्य धारा), और ये हमारी कल्पना के अनुसार सचेतन सत्ता के उन सात तत्त्वों की द्योतक हैं जो कि सत्य में और आनन्द में अपनी दिव्य परिपूर्णता में होते हैं। यही कारण है कि सात-सिरोंवाले विचार को (सात-सिरोंवाले विचार से अभिप्राय है, दिव्य सत्ता का ज्ञान जिसके कि सात सिर या शक्तियां हैं, या बृहस्पति का वह ज्ञान जो सात किरणोंवाला है 'सप्तगुम्') जलों में, सात नदियों में सुदृढ़ करना या विचार द्वारा स्थापित करना होता है, भाव यह है कि दिव्य चेतना के सात रूपों को दिव्य सत्ता के सात रूपों या गतियों में रखना होता है, (**धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षाम्**) 'मैं स्वर्विजयी विचार को जलों में रखता हूं।'

स्वर्द्रष्टाओं (स्वर्दृश) की आंखों के सामने 'स्व' के सुदृश्य हो जाने से और उनके मधु के कुएं को पीने से तथा उसमेंसे दिव्य जलों को बाहर प्रवाहित करने से यह होता है कि नये लोक या सत्ता की नयी अवस्थाएं प्रकाश में आ जाती हैं, यह बात हमें अगली ऋचा २-२४-५ में स्पष्ट रूप से कही मिलती है—

सना ता काचिद् भुवना भवीत्वा माद्भिः शरद्भिर्दुरो वरन्त वः ।
अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद् या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः ॥

'ये कोई सनातन लोक (सत्ता की अवस्थाएं) हैं जिन्होंने आविर्भूत होना है, महीनों के द्वारा और वर्षों के द्वारा, उनके द्वार तुम्हारे लिये बन्द* हैं (या खुले

---

*सायण का कहना है कि यहां 'वरन्त' का अर्थ है 'खुले हुए' जो कि बिल्कुल सम्भव है। पर आम तौर से 'वृ' का अर्थ भेड़ना, बन्द करना, ढक देना यही होता है, विशेषकर तब जब कि इसका प्रयोग उस पहाड़ी के द्वार के लिये आता है जहांसे कि नदियां निकलकर बहती हैं और गौएं बाहर आती हैं, वृत्र दरवाजों को बन्द करनेवाला है। खोलना अर्थ 'वि-वृ' और 'अप-वृ' का होता है। तो भी यदि यहां 'वरन्त' का अर्थ खोलना ही हो, तो उससे हमारा पक्ष

है), बिना ही प्रयत्न के एक (लोक) दूसरे में चला जाता है, और ये ही हैं जिनको कि ब्रह्मणस्पति ने ज्ञान के लिये व्यक्त किया है।' ये चार (या दो) सनातन लोक हैं जो 'गुहा' में छिपे हुए हैं, सत्ता के वे गुह्य, अनभिव्यक्त या पराचेतन अंश हैं जो यद्यपि अपने-आपमें सत्ता की सनातन रूप में विद्यमान अवस्थाएं (सना भुवना) हैं पर हमारे लिये वे असत् हैं और भविष्य में हैं, उन्हें सद्रूप में लाया जाना है या रचा जाना है। इसलिये वेद में स्व: के लिये कहीं तो यह कहा है कि उसे दृश्य किया गया (जैसे यहां, व्यचक्षयत् स्व:) या ढूंढ लिया गया और हस्तगत कर लिया गया (अविदत्, असनत्), और कहीं यह कहा है कि उसे रचा गया (भू कृ)।

ऋषि कहता है कि ये गुह्य सनातन लोक समय की गति के द्वारा, महीनों और वर्षों द्वारा, हमारे लिये बन्द पड़े हैं, इसलिये स्वभावत: हमें समय की गति द्वारा ही इन्हें अपने अन्दर खोज लेना है, प्रकाशित करना है, जीतना है, रचना है, फिर भी, एक अर्थ में, समय के विरोध में जाकर। एक आन्तरिक या आध्यात्मिक समय में होनेवाला यह विकास, मुझे लगता है, वही है जिसे यज्ञिय वर्ष के और दस महीने के प्रतीक से प्रकट किया गया है, जो वर्ष और महीने कि उससे पहले बिताने होते हैं जब कि आत्मा का प्रकाशक मन्त्र (ब्रह्म) मानसिक-वाले उस स्वर्विजयी विचार को ढूंढ लेने योग्य होता है, जो अन्त में चलकर हमें वृत्र और पणियों की सब क्षतियों से पार कर देता है।

नदियों और लोकों का सम्बन्ध हमें १.६२ में स्पष्ट रूप से मिलता है जहां कि इन्द्र के विषय में यह वर्णन आया है कि वह नवग्वाओं की सहायता से पर्वत का ताड़ना है और दशग्वाओं की सहायता से वल का भेदन करता* है। अङ्गिरस ऋषियों से स्तुति किया गया इन्द्र उषा, सूर्य और गौओं के द्वारा अन्धकार को खोल देता है, वह पार्थिव पर्वत की ऊपर की चौरस भूमि को फैलाकर विस्तृत कर देता

और अधिक प्रकट हो जाता है।

*स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो नवग्वैः ।
सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः ॥ (१।६२।४)

है और द्यौ के उच्चतर लोक को थाम लेता है। क्योंकि चेतना के उच्चतर स्तरों को खोल देने का परिणाम होता है भौतिक स्तर के विस्तार का बढ़ना और मानसिक स्तर की उच्चता का और ऊंचा होना। ऋषि नोधा आगे कहता है, "यह सचमुच उसका सबसे अधिक महान् कार्य है, उस कर्ता का सुन्दरतम कर्म है (दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः) कि चार उच्चतर नदियां मधु की धाराएं बहाती हुई कुटिलता के दो लोकों को पोषण देती हैं।"

उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः। (१-६२-५)

यह फिर वही मधु की धाराओंवाला कुआं आ गया जो अपनी अनेक धाराओं को एक साथ नीचे प्रवाहित करता है, जो धाराएं दिव्य सत्ता, दिव्य चेतनाशक्ति, दिव्य आनन्द, दिव्य सत्य की वे चार उच्चतर नदियां हैं जो अपने माधुर्य के प्रवाह के साथ मन और शरीर के दो लोकों के अन्दर उतरकर उन्हें पालती-पोसती हैं। ये दो लोक, ये रोदसी, साधारणतः कुटिलता के अर्थात् अनृत के लोक हैं—ऋत या सत्य सरल है और अनृत या असत्य कुटिल है—क्योंकि वे लोक अदिव्य शक्तियों, वृत्रों तथा पणियों, अन्धकार तथा विभक्तता के पुत्रों से होनेवाली क्षतियों के लिये खुले होते हैं। ऋषि आगे चलकर अयास्य के उस कर्म के परिणाम को बताता है, जो कि पृथिवी और द्यौ के सत्य सनातन तथा एकीभूत रूप को खोलकर प्रकट कर देता है। "अयास्य ने अपने स्तुतिमंत्रों से सनातन और एक घोंसले में रहनेवाले दो को खोलकर उनके द्विविध रूपों (दिव्य तथा मानवीय?) में प्रकट कर दिया, पूर्ण रूप से कार्यसिद्धि करते हुए उसने पृथिवी और द्यौ को (व्यक्त हुए पराचेतन के, 'परम गुह्यम्' के) सर्वोच्च व्योम में थाम लिया, जैसे भोगी अपनी दो पत्नियों को'।' आत्मिक जीवन के सनातन आह्लाद में भरकर आत्मा का अपनी दिव्य रूप में परिणत हुई मानसिक तथा शारीरिक सत्ता में रस लेने

---

[1] गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः। (१।६२।५)

[2] द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः॥ (१।६२।७)

का इससे अधिक स्पष्ट और सुन्दर आलंकारिक वर्णन नहीं हो सकता था।

ये विचार और इसमें आये कई वाक्यांश बिल्कुल वैसे ही हैं जो गृत्समद के सूक्त में आते हैं। नोधा रात्रि और उषा के, काली भौतिक चेतना तथा चमकीली मानसिक चेतना के संबंध में कहता है कि वे फिर नवीन रूप में जन्म लेकर (पुनर्भवा) द्यौ और पृथिवी के इधर-उधर अपनी स्वकीय गतियों से एक-दूसरे के अन्दर चली जाती हैं,[1] स्वेभिरेवैः..... चरतो अन्यान्या; सनातन मित्रता में आबद्ध होकर जिस मित्रता को उनका पुत्र उच्च कार्यसिद्धि द्वारा करता है और वह उन्हें इस प्रकार थामता है। सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधार शवसा सुदंसा ।९। नोधा के सूक्त की ही तरह गृत्समद के सूक्त में भी अंगिरस सत्य की प्राप्ति के द्वारा और असत्य के अनुसंधान द्वारा 'स्व' को अधिगत करते हैं,—उस सत्य को अधिगत करते हैं जहां से वे मूलतः आये हैं और जो सभी दिव्य 'पुरुषों' का 'स्वकीय घर' है। वे जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं और पणियों की निधि को पा लेते हैं, उस परम निधि को, जो गुहा में छिपी पड़ी थी, वे ज्ञान को अपने अन्दर रखते हुए और अनृतों को देखते हुए फिर उठकर वहां चले जाते हैं जहां से वे आये थे और उस लोक में प्रविष्ट हो जाते हैं। सत्य से युक्त, असत्यों पर दृष्टि डालते हुए, वे द्रष्टा फिर उठकर महान् पथ में आ जाते हैं—[2] महस्पथः, सत्य का पथ या महान् विस्तृत लोक जो कि उपनिषदों का 'मह' है।

अब हम वेद के इस रूपक की गुत्थी को सुलझाना आरम्भ करते हैं। बृहस्पति है सात किरणोंवाला विचारक 'सप्तगु', 'सप्तरश्मि', वह सात चेहरों या सात मुखोंवाला अंगिरस है, जो अनेक रूपों में पैदा हुआ है 'सप्तास्य तुविजात', नौ किरणोंवाला है, दस किरणोंवाला है। सात मुख सात अंगिरस हैं, जो उस दिव्य

---

[1] सनाद् दिवं परि भूमा विरूपे पुनर्भवा युवती स्वेभिरेवैः ।
कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या ।। (१।६२।८)

[2] अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम् ।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन् तदुदीयुराविशम् ।।
ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आ तस्थुः कवयो महस्पथः । (२।२४।६-७)

शब्द (ब्रह्म) को दुहराते हैं जो कि सत्य के स्थान से, 'स्व' से आता है और बृह-स्पति जिस शब्द का स्वामी है, (ब्रह्मणस्पति)। साथ ही प्रत्येक मुख बृहस्पति की सात किरणों में से एक-एक का सूचक है, इसलिये वे सात द्रष्टा, 'सप्त विप्रा', 'सप्त ऋषय' हैं, जो ज्ञान की इन सात किरणों को पृथक् पृथक् शरीरधारी बना देते हैं। फिर ये सात किरणें सूर्य के सात चमकीले घोड़े, 'सप्त हरित' हैं और इनके आपस में मिलकर पूरा-पूरा एक हो जाने से अयास्य का सात-सिरोंवाला विचार बन जाता है, जिसके द्वारा खोया हुआ सूर्य फिर से प्राप्त होता है। फिर वह विचार सात नदियों में, सत्ता के (दिव्य और मानव) सात तत्त्वों में स्थापित किया जाता है, जिनकी कि समष्टि (जोड़) परिपूर्ण आत्मिक सत्ता का आधार बनती है। यदि हम अपनी सत्ता की इन सात नदियों को जीत लेते हैं जिन्हें वृत्र ने रोक रखा है और इन सात किरणों को जीत लेते हैं जिन्हें वल ने रोका हुआ है, अपनी उस पूर्ण दिव्य चेतना को अधिगत कर लेते हैं जो सत्य के स्वतन्त्र अवतरण के द्वारा सारे अनृत से मुक्त हो गयी है, तो इससे 'स्व' का लोक सुरक्षित रूप से हमारे अधिकार में हो जाता है और हमारी मानसिक तथा भौतिक सत्ता हमारे दिव्य तत्त्वों के अन्त प्रवाह द्वारा अन्धकार, असत्य व मृत्यु से ऊपर उठकर दिव्य सत्ता में परिणत हो जाती है और हम उससे मिलनेवाला आनन्द उपलब्ध हो जाता है। यह विजय ऊर्ध्वयात्रा के बारह काल-विभागों में समाप्त होती है, इन बारह काल-विभागों का प्रतिनिधित्व करनेवाले यज्ञिय वर्ष के बारह महीने हैं, यह एक एक काल विभाग एक के बाद एक सत्य की अधिकाधिक बृहत् उषा को लाता हुआ आता है, तबतक जबतक कि दसवें में पहुचकर विजय सुरक्षित तौर से नहीं हो जाती। नौ किरणों का और दस किरणों का बिलकुल ठीक-ठीक अभिप्राय क्या हो सकता है यह अपेक्षाकृत अधिक कठिन प्रश्न है और अबतक हम इस स्थिति में नहीं हैं कि इसे हल कर सकें पर अभी तक जो प्रकाश हमें मिल चुका है, वह भी ऋग्वेद के इस सपूर्ण रूपक के प्रधान भाग को प्रकाशित कर देने के लिये पर्याप्त है।

वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है। प्राचीन रहस्यवादी अपने सूक्तों का विषय मनुष्य के आध्या-

रिक जीवन को बनाते थे, पर उनके अपने लिये ये मूर्त रूप में आ जायें और जो अपात्र हैं उनसे इनका रहस्य छिपा रहे इन दोनों उद्देश्यों से वे इसे कवितामय अलंकारों में चित्रित करते थे और उन अलंकारों को वे अपने युग के बाह्य जीवन में से लिया करते थे। वह जीवन मुख्यतया पशुपालकों और कृषकों का जीवन था, क्योंकि उस समय का जनसमुदाय युद्धों के कारण और जातियों के एक स्थान से उठकर अपने राजाओं के नीचे दूसरे स्थान पर जाते रहने के कारण बदलता रहता था। और इस सारी क्रिया में यज्ञ के द्वारा देवताओं की पूजा सबसे अधिक गंभीर और उज्ज्वल वस्तु हो गयी थी, शेष सब क्रियाएं इसी में आकर इकट्ठी हो गयी थीं। क्योंकि यज्ञ के द्वारा वर्षा होती थी जिससे भूमि उपजाऊ बनती थी, यज्ञ द्वारा पशुओं के रेवड और घोड़े मिलते थे जिनका होना शान्तिकाल में और युद्ध में आवश्यक था, सोना मिलता था, भूमि (क्षेत्र) मिलती थी, नौकर-चाकर मिलते थे, वीर योद्धा लोग मिलते थे जो महत्ता और प्रभुता को कायम करते थे, रण में विजय मिलती थी, स्थल-यात्रा और जल-यात्रा में सुरक्षा मिलती थी, जो यात्रा उस जमाने में बड़ी मुश्किल और खतरनाक होती थी, क्योंकि आवागमन के साधन बहुत कम थे और अन्तर्जातीय संगठन बड़ा ढीला था। उस बाह्य जीवन के सारे मुख्य-मुख्य रूपों को जो उन्हें अपने चारों ओर दिखायी देते थे रहस्यवादी कवियों ने ले लिया और उन्हें आन्तरिक जीवन के सार्थक अलंकारों में परिणत कर दिया। मनुष्य के जीवन को इस रूप में रखा गया है कि वह देवों के प्रति एक यज्ञ है, या इस रूप में कहा गया है कि वह एक यात्रा है और इस यात्रा को कहीं खतरनाक जलों को पार करने के अलंकार से प्रकट किया गया है और कहीं इस रूप में कि वह जीवन की पहाड़ी के एक स्तर से दूसरे स्तर पर आरोहण करना है, और इस मनुष्य-जीवन को तीसरे इस तरह प्रकट किया गया है कि वह शत्रु-राष्ट्रों के विरुद्ध एक संग्राम है। पर इन तीनों अलंकारों को जुदा-जुदा नहीं रखा गया है। यज्ञ भी एक यात्रा है, सचमुच यज्ञ को स्वयं इस रूप में वर्णित किया गया है कि वह दिव्य लक्ष्य की ओर चलना है, यात्रा करना है, इस यात्रा और इस यज्ञ दोनों को लगातार यह कहा गया है कि ये अंधकार-मयी शक्तियों के विरुद्ध एक संग्राम है।

अंगिरसो के कथानक में वैदिक रूपक के ये तीनो प्रधान रूप आ गये है और आकर इकट्ठे जुड़ गये हैं। अंगिरस् 'प्रकाश' के यात्री है। 'नक्षन्त' और 'अभिनक्षन्त' ये दोनो उनकी विशेष स्वाभाविक क्रिया का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किये गये है। वे वो हैं जो लक्ष्य की ओर यात्रा करते हैं और सर्वोच्च लक्ष्य को पा लेते है –

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधि परमम्। (२ २४ ६)

उनकी क्रिया का इसलिये आवाहन किया गया है कि वे मनुष्य के जीवन को उसके लक्ष्य की ओर और अधिक आगे ले चले –

सहस्रसावे प्र तिरन्त आयु। (३.५३ ७)

पर यह यात्रा भी, यदि मुख्यत यह एक खोज है, छिपे हुए प्रकाश की खोज है, तो अधकार की शक्तियो के विरोध के द्वारा एक साहस-कार्य और एक सग्राम बन जाती है। अगिरस् उस सग्राम के वीर और योद्धा है, **'गोषु योधा'**। इन्द्र उनके साथ प्रयाण करता है, उनके इस रूप मे कि वे पथ के यात्री है **'सरण्यु-भि'**, इस रूप म कि वे सखा हैं **'सखिभि'**, इस रूप में कि वे द्रष्टा हैं और पवित्र गान के गायक हैं **'ऋग्मिभि'**, **'कविभि'**, पर साथ ही इस रूप मे कि वे सग्राम के योद्धा है **'सत्वभि'**। जब इन अगिरसो के बारे में कुछ कहना होता है तो इन्हे प्राय 'नृ' या 'वीर' नाम से याद किया जाता है, जैसे इन्द्र के लिये कहा है कि उसने जगमगाती हुई गौओ को **'अस्माकेभि नृभि'**, "हमारे नरो के द्वारा" जीता। उनकी सहायता से शक्तिशाली बनकर इन्द्र यात्रा म विजय पाता है और लक्ष्य तक पहुचता है, **'नक्षद्वाभ ततुरिम्'**। पर यह यात्रा या प्रयाण उस *मार्ग* पर होना है जिस माग को स्वर्ग की कुतिया सरमा ने खोजकर पाया है, जो सत्य का मार्ग है, "ऋतस्य पन्था जो वह महान् पथ, 'महस्पथ' है जो सत्य के लोको की ओर ले जाता है। अर्थात् साथ ही यह यात्रा यज्ञिय यात्रा है, क्योकि उस यात्रा की मजिलें वैसी ही है जैसी नवग्वाओ के यज्ञ के कालविभाग हैं, और यह यात्रा यज्ञ की तरह ही सोमरस तथा पवित्र शब्द' की शक्ति से सपन्न होती है।

शक्ति, विजय और सिद्धि के लिये साधन-रूप से सोम-रस का पान करना वेद

के व्यापक अलंकारों में से एक है। इन्द्र और अश्विन अव्वल दर्जे के सोमपायी है, पर वैसे सभी देवता इसके अमरत्व प्रदान करनेवाले घूंट में हिस्सा लेते है। अंगिरस भी सोम की शक्ति में भरकर विजयी होते है। सरमा पणियों को भय दिखाती है कि देखो, जयास्य और नवग्वा अंगिरस अपने सोम-जनित आनन्द की तीक्ष्ण तीव्रता से युक्त होकर आयेंगे —

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वा। (१०।१०८।८)

यह वह महती शक्ति है जिसमें मनुष्यों में सत्य के मार्ग का अनुसरण करने का बल आ जाता है। "सोम के उस आनंद को हम चाहते है जिससे, ओ इन्द्र! तूने 'स्व' की शक्ति को (या स्व की आत्मा को, स्वर्णरम्) समृद्ध किया है, दस किरणोंवाले और ज्ञान का प्रकाश देनेवाले (दशग्वं वेपयन्तम्) उस आनंद को जिससे तूने समुद्र को पोषित किया है, उस सोम के मद को जिसके द्वारा तू महान् जलों (सात नदियों) को रथों की तरह आगे हांककर समुद्र में पहुंचा देता है—उसे हम चाहते हैं, इसलिये कि हम सत्य के मार्ग पर यात्रा कर सकें।"* पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे। यह सोम की शक्ति में आकर ही होता है कि पहाड़ी टूटकर खुल जाती है, अन्धकार के पुत्र पराजित हो जाते है। यह सोम-रस वह माधुर्य है जो ऊपर के गुह्य लोक की धाराओं में से बहकर आता है, यह वह है जो सात नदियों में प्रवाहित होता है, यह वह है जिसके साथ होने पर घृत, रहस्यमय यज्ञ का घी, सहज प्रेरणा बन जाता है, यह वह मधुमय लहर है जो जीवन-समुद्र से उठती है। ऐसे अलंकारों का केवल एक ही अर्थ हो सकता है, यह (सोम) दिव्य आनंद है, जो सारी सत्ता में छिपा हुआ है, जो यदि एक बार अभिव्यक्त हो जाय, तो यह जीवन की सब ऊंची, उत्कृष्ट क्रियाओं को सहारा देता रहता है और यह वह शक्ति है जो अन्त में मर्त्य को अमर कर देती है, यह 'अमृतम्' है, देवों का अमृत है।

पर वह वस्तु जो अंगिरसों के पास रहती है मुख्यतः शब्द है, उनका द्रष्टा

---

*येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे॥
येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे॥ (८।१२-२,३।)

(ऋषि) होना उनका सबसे अधिक विशिष्ट स्वरूप है। वे हैं—ब्राह्मणासः पितरः सोम्यास....ऋतावृधः (६.७५.१०)

अर्थात् वे पितर हैं जो सोम से भरपूर हैं और जिनके पास शब्द है और इसी कारण जो सत्य को बढानेवाले हैं। इन्द्र उन्हें (अंगिरसों को) मार्ग पर प्रेरित करने की इच्छा रखता हुआ उनके गाकर व्यक्त किये गये विचारों के साथ अपने-आपको जोडता है और उनकी आत्मा के शब्दों को पूर्णता व शक्ति देता है :—

सो अंगिरसामुचथा जुजुष्वान् ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुमिष्णन्। (२.२०.५)

जब इन्द्र अंगिरसों की सहायता से ज्योति में और विचार की शक्ति में समृद्ध हो जाता है तभी वह अपनी विजय-यात्रा को पूर्ण कर पाता है और पर्वत पर स्थित अपने लक्ष्य तक पहुच पाता है, 'उसमें हमारे पूर्व पितर, सात द्रष्टा, नवग्वा, अपनी समृद्धि को बढाते हैं, उसे बढाते हैं जो अपने प्रयाण में विजयी होनेवाला है, जो विघ्न-बाधाओं को तोडफोडकर (अपने लक्ष्य तक) तैर जाता है, पर्वत पर खडा हुआ है, जिसकी वाणी अहिंसित है, जो अपने विचारों में सबसे अधिक ज्योतिष्मान् और बलवान् है।'

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्त।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ ६.२२.२॥

यह 'ऋक्' के, प्रकाश के मन्त्र के गान से होता है कि वे हमारी सत्ता की गुहा में छिपी हुई सौर ज्योतियों को पा लेते हैं, अर्चन्तो गा अविदन्। यह, 'स्तुभ' से, सात द्रष्टाओं के मन्त्रों के आधारभूत छन्द से, नवग्वाओं के कम्पन करते हुए स्वर से होता है कि इन्द्र 'स्व' की शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है, 'स्वरेण स्वर्यः' और दशग्वाओं की आवाज से, 'रव' से होता है कि वह 'वल' के टुकडे-टुकडे कर डालता है (१-६२-४) क्योंकि यह 'रव' उच्चतर लोक की आवाज है, वह वज्र निर्घोष है जो इन्द्र की विद्युत्प्रभा में होता है, अंगिरसों की जो अपने मार्ग पर प्रगति है वह इस लोकों के 'रव' की अग्रगामिनी होती है।

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षत प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु। (७.४२.१)

बृहस्पति की आवाज द्यौ की गर्जना है जो बृहस्पति वह अंगिरस है जो सूर्य को, उषा को, गौ को और शब्द के प्रकाश को खोज लेता है, 'बृहस्पतिरुषसं

सूर्यं गामकं विवेद स्तनयन्निव द्यौ ।' यह सत्य-मंत्र का, उस सत्य विचार का] जो कि सत्य के छन्द में प्रकट होता है, परिणाम है कि छिपी हुई ज्योति मिल जाती है और उषा का जन्म हो जाता है,

गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम् । (७।७६।४)

क्योंकि वे अंगिरस हैं जो यथार्थ वचन बोलते हैं, इत्था वदद्भिः अंगिरोभिः । (६।१८।५)

जो ऋच् के स्वामी हैं, जो पूर्ण रूप से अपने विचारों को रखते हैं,

स्वाधीभिर्ऋक्वभिः । (६।३२।२)

"वे द्यौ के पुत्र हैं, शक्तिशाली देव के वीर सिपाही हैं, जो सत्य कथन करते हैं और सरलता का विचार करते हैं और इस कारण जो इस योग्य हैं कि जग-मगाते हुए ज्ञान के स्थान को धारण कर सकें और यज्ञ के अत्युच्च धाम को मनो-गत कर सकें",

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।

विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ (१०-६७-२)

यह असंभव है कि ये मंत्र इस प्रकार के वर्णन केवल यही अर्थ देनेवाले हों कि कुछ आर्य ऋषियों ने एक देवता और उसके कुत्ते का अनुसरण करके गुफा में रहनेवाले द्राविडियों से चुरायी हुई गौएं फिर प्राप्त कर ली या रात्रि के अंध-कार के बाद उषा का फिर उदय हो गया। उत्तरी ध्रुव की उषा की अद्भुत-ताएं भी स्वयं इनका कुछ स्पष्टीकरण देने में सर्वथा अपर्याप्त हैं। इन अलं-कारों में जो साहचर्य है, इनमें जो शब्द (ब्रह्म), विचार (धी), सत्य, यात्रा और असत्य पर विजय पा लेना आदि का जो विचार है—जो विचार कि हम इन सूक्तों में सर्वत्र मिलता है और जिसपर इन सूक्तों में लगातार जोर दिया गया है—उसका स्पष्टीकरण इस तरह किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता है।

केवल वह ही कल्पना है जिसे कि हम प्रतिपादित कर रहे हैं जो इस बहुविध रूपक को खोल सकती है, इसमें एकता स्थापित कर सकती है और यह जो एक असंगतियों का मिश्रण-सा दिखायी देता है उसमें आसानी से दीख जानेवाली स्पष्टता और संगति को ला सकती है और यह एक ऐसी कल्पना है जो यहां

बाहर से नहीं लायी गयी है बल्कि स्वयं मन्त्रों की ही भाषा तथा निर्देशों से सीधी निकलती है। सचमुच, यदि एक बार हम केंद्रभूत विचार को पकड़ लें और वैदिक ऋषियों की मनोवृत्ति तथा उनके प्रतीकवाद के नियम को समझ लें तो कोई भी असंगति और अव्यवस्था शेष नहीं रहती। वेद में प्रतीकों की एक नियत पद्धति है जिसमें कि, सिवाय बाद के कुछ-एक सूक्तों के, कहीं कोई महत्त्व-पूर्ण फेरफार होना संभव नहीं हुआ है और जिसके प्रकाश में वेद का आन्तरिक अभिप्राय सब जगह अपने-आपको इस तरह तुरत प्रकट कर देता है मानो वह इसके लिये तैयार ही हो। अवश्य ही वेद में भी प्रतीकों के परस्पर मिलाने में, जोड़ने में कुछ सीमित स्वतन्त्रता है, जैसे कि किसी भी नियत कवितामय रूपक में होती है,—उदाहरण के लिये जैसे वैष्णवों की धार्मिक कविताएं हैं, पर इसके पीछे जो सारभूत विचार है वह सदा स्थिर तथा संगत है और परिवर्तित नहीं होता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

मानव पितर

अंगिरस ऋषियों की ये विशेषताएं प्रथम दृष्टि में यह दर्शाती प्रतीत होती हैं कि अंगिरस वैदिक सम्प्रदाय में अर्द्ध-देवताओं की एक श्रेणी हैं, अपने बाह्य रूप में वे प्रकाश और वाणी और ज्वाला के सजीव शरीरधारी रूप हैं या यह कहना चाहिये कि उनके व्यक्तित्व हैं पर अपने आन्तरिक रूप में वे सत्य की शक्तियां हैं जो कि युद्धों में देवताओं की सहायता करती हैं। किंतु दिव्य द्रष्टा के तौर पर भी, द्यौ के पुत्र और देव के वीर योद्धा के तौर पर भी, ये ऋषि अभीप्सायुक्त मानवता को सूचित करते हैं। यह सच है कि मौलिक रूप में वे देवों के पुत्र हैं, 'देवपुत्राः', अग्नि के कुमार हैं अनेक रूपों में पैदा हुए बृहस्पति के रूप हैं और सत्य के लोक के प्रति अपने आरोहण में उनका इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वे फिर से उस स्थान पर आरोहण कर पहुंच जाते हैं जहां से कि वे आये थे, पर अपने इन स्वरूपों तक में वे बड़ी अच्छी प्रकार उस मानवीय आत्मा के द्योतक हो सकते हैं जो स्वयं उस लोक से अवरोहण करके नीचे आया है और अब पुनः उसे आरोहण करके वहां पहुंचना है, क्योंकि अपने उद्गम में यह एक मानसिक सत्ता है, अमरता का पुत्र है (अमृतस्य पुत्रः), द्यौ का कुमार है जो द्यौ में पैदा हुआ है और मर्त्य केवल उन शरीरों में है जिनको यह धारण करता है। और यज्ञ में अंगिरस् ऋषियों का भाग मानवीय भाग है, शब्द को पाना, देवों के प्रति आत्मा की सूक्ति का गायन करना, प्रार्थना के द्वारा, पवित्र भोजन तथा सोमरस द्वारा दिव्य शक्तियों को स्थिर करना और बढ़ाना, अपनी सहायता से दिव्य उषा को जन्म देना, पूर्ण रूप से जगमगाते हुए सत्य के प्रकाशमय रूपों को जीतना और आरोहण करके इसके रहस्य तक, सुदूरवर्ती तथा उच्च स्थान पर स्थित घर तक पहुंचना।

यज्ञ के इस कार्य मे वे द्विविध रूप में प्रकट होते है,[1] एक तो दिव्य अगिरस्, 'ऋषयो दिव्या', जो कि देवो के समान किन्हीं अध्यात्मशक्तियो तथा क्रियाओ के प्रतीक है और उनका अधिष्ठातृत्व करते है, और दूसरे मानव पितर, 'पितरो मनुष्या', जो कि ऋभुओ के समान मानवप्राणियो के रूप म भी वर्णित किये गये है या कम-से-कम इस रूप म कि वे मानवीय शक्तिया है जिन्होने अपने कार्य से अमरता को जीता है, लक्ष्य को प्राप्त किया है और उनका इसलिये आवाहन किया गया है कि वे उसी दिव्यप्राप्ति म बाद में आनेवाली मर्त्य जाति की सहायता करे। दशम मण्डल के बाद के यम-सूक्तो म तो ऋभुओ और अथर्वणो के साथ अगिरसो को भी 'बर्हिषद्' कहा गया है और यह कहा गया है कि वे यज्ञ म अपने निजी विशेष भाग का ग्रहण करते है, पर इसके अतिरिक्त अवशिष्ट वेद में भी यह पाया जाता है कि एक अपेक्षाकृत कम निश्चित पर अधिक व्यापक और अधिक अभिप्रायपूर्ण अलकार में उनका आवाहन किया गया यह महान् मानवीय यात्रा है जिसके लिये कि उनका आवाहन किया गया है, क्योंकि यह मृत्यु से अमरता की ओर, अनृत से सत्य की ओर मानवीय यात्रा ही है जिसे कि इन पूर्व पुरुषो ने पूर्ण किया है और अपने वशजो के लिये मार्ग खोल दिया है।

उनके कार्य के इस स्वरूप को हम ७ ४२ तथा ७ ५२ म पाते है। वसिष्ठ के इन दो सूक्तो म से प्रथम में ठीक इसी महान् यात्रा के लिये, 'अध्वरयज्ञ'[2] के

---

[1] यहा यह ध्यान देने योग्य है कि पुराण विशेष तौर से पितरो की दो श्रेणिया के बीच म भेद करते है, एक तो दिव्य पितर है जो कि देवताओ की एक श्रेणी है, दूसरे है मानव पुरखा इन दोनोंके लिये ही पिण्डदान किया जाता है। पुराणो ने स्पष्ट ही इस विषय म केवल प्रारभिक वैदिक परम्परा को ही जारी रखा है।

[2] सायण 'अध्वर यज्ञ' का अर्थ करता है 'अहिंसित यज्ञ', पर अहिंसित यह कभी भी यज्ञ के लिये पर्यायरूप म प्रयुक्त हुआ नही हो सकता। 'अध्वर' है 'यात्रा', 'गमन', इसका सबध 'अध्वन्' से है, जिसका अर्थ मार्ग या यात्रा है, यह 'अध्' धातु से बना है जो धातु इस समय लुप्त हो चुकी है, जिसका अर्थ था चलना,

लिये देवों का आवाहन किया गया है। 'अध्वर यज्ञ' वह यज्ञ है जो कि दिव्यताओं के घर की ओर यात्रा करता है या जो उस घर तक पहुचने के लिये एक यात्रारूप है और साथ ही जो एक युद्ध है; क्योंकि यह वर्णन आता है कि 'हे अग्ने! तेरे लिये यात्रामार्ग सुगम है और सनातन काल से वह तुझे ज्ञात है। सोम-सवन में तू अपनी उन रोहित (या शीघ्रगामी) घोडियों को जोत जिनपर वीर सवार हुआ-हुआ है। स्थित हुआ-हुआ मैं दिव्य जन्मों का आवाहन करता हू(ऋचा २*)।' यह मार्ग कौनसा है? यह वह मार्ग है जो कि देवताओं के घर तथा हमारी पार्थिव मर्त्यता के बीच में है, जिस मार्ग से देवता अन्तरिक्ष के, प्राण प्रदेशों के, बीच में से होते हुए नीचे पार्थिव यज्ञ में उतरकर आते हैं और जिस मार्ग में यज्ञ तथा यज्ञ द्वारा मनुष्य ऊपर आरोहण करता हुआ देवताओं के घर तक पहुचता है। 'अग्नि' अपनी घोडियों को अर्थात् वह जिस दिव्य बल का द्योतक है उसकी बहुरूप शक्तियों या विविध रगवाली ज्वालाओं को जोतता है, और वे घोडिया 'वीर' को अर्थात् हमारे अदर की उस सग्रामकारिणी शक्ति को वहन करती हैं जो कि यात्रा के कार्य को सफलतापूर्वक चलाती है। और दिव्य जन्म स्वत देव हैं तथा साथ ही मनुष्य में प्रकट होनेवाली दिव्य जीवन की वे अभिव्यक्तिया हैं जो कि वेद में देवत्व करके समझी जाती हैं। यहा पर अभिप्राय यही है, यह बात चौथी ऋचा से स्पष्ट हो जाती है, 'जब सुख में निवास करनेवाला अतिथि उस वीर के, जो कि (आनन्द में) समृद्ध है, द्वारों से युक्त घर में चेतनापूर्ण ज्ञानवाला हो जाता है, जब अग्नि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है और

फैलाना, चौडा होना, घना होना इत्यादि। 'अध्वन्' और 'अध्वर' इन दो शब्दों का सबध हमें इससे पता चल जाता है कि 'अध्व' का अर्थ वायु या आकाश है और 'अध्वर' भी इस अर्थ में आता है। ऐसे सदर्भ वेद में अनेकों हैं, जिनमें कि 'अध्वर' या 'अध्वर यज्ञ' का सबध यात्रा करने, पर्यटन करने, मार्ग पर अग्रसर होने के विचार के साथ है।

*सुगस्ते अग्ने सनवित्तो अध्वा युक्ष्वा सुते हरितो रोहितश्च।
ये वा सद्मन्नरुषा वीरवाहो हुवे देवाना जनिमानि सत्त ॥

घर में स्थिरतापूर्वक निवास करने लगता है, तब वह उस प्राणी के लिये अभीप्सित वर प्रदान करता है, जो कि यात्रा करनेवाला है,* या यह अर्थ हो सकता है कि, उसकी यात्रा के लिये (इयत्यै)।

इसलिये यह सूक्त परम कल्याण की तरफ यात्रा करने के लिये, दिव्य जन्म के लिये, आनन्द के लिये अग्नि का एक आवाहन है। और इसकी प्रारम्भिक ऋचा उस यात्रा के लिये जो आवश्यक शर्तें है उनकी प्रार्थना है, अर्थात् इसमें उन बातों का उल्लेख है जिनसे कि इस यात्रा-यज्ञ का रूप, 'अध्वरस्य पेश', बनता है और इनमें सर्वप्रथम वस्तु आती है अंगिरसों की अग्रगामी गति, "आगे आगे अंगिरस यात्रा करें, जो अंगिरस 'ब्रह्म' (शब्द) के पुरोहित है, आकाश की (या आकाशीय वस्तु बादल या बिजली की) गर्जना आगे आगे जावे, प्रीणयित्री गौएं आगे आगे चलें जो कि अपने जलों को बखेरती है और दो पत्थर, सिलबट्टे—(अपने कार्य में) यात्रामय यज्ञ के रूप को बनाने में—लगाये जायें।"

प्र ब्रह्माणो अंगिरसो नक्षन्त, प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु।

प्र धेनव उदप्रुतो नवन्त, युज्यातामद्री अध्वरस्य पेश ॥७-४२-१॥

प्रथम दिव्य शब्द से युक्त अंगिरस, दूसरे आकाश की गर्जना जो कि ज्योतिष्मान् लोक 'स्व' की तथा शब्द में से वज्रनिर्घोष करके निकलती हुई इसकी बिजलियों की आवाज है, तीसरे दिव्य जल या सात नदियां जो कि प्रवाहित होने के लिये 'स्व' के अधिपति इन्द्र की उस आकाशीय विद्युत् द्वारा मुक्त की गयी है और चौथे दिव्य जलों के निकलकर प्रवाहित होने के साथ-साथ अमरता को देनेवाले सोम का निचोड़ा जाना, ये चीजें है जो कि 'अध्वर यज्ञ' के रूप, 'पेश' को निर्मित करती है। और इसका सामान्य स्वरूप है अग्रगामी गति दिव्य लक्ष्य की ओर सबकी प्रगति, जैसा कि यहां सूचित किया गया है गतिवाची तीन क्रियापद 'नक्षन्त', 'वेतु', 'नवन्त' द्वारा और उनके साथ उनके अर्थ पर बल देने के लिये अग्रवाची 'प्र' उपसर्ग लगाकर, जो कि मन्त्र के प्रत्येक वाक्यांश का प्रारम्भ करता और उसे

***यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।**
सुप्रीतो अग्नि सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै ॥ ऋ॰ ७.४२.४

स्वर प्रदान करता है।

परन्तु ५२वां सूक्त और भी अधिक अर्थपूर्ण तथा निर्देशक है। प्रथम ऋचा इस प्रकार है "हे असीम माता अदिति के पुत्रो (आदित्यास), हम असीम बन जायें (अदितय स्याम), 'वसु' दिव्यता तथा मर्त्यता में हमारी रक्षा करें (देवत्रा मर्त्यत्रा), हे मित्र और वरुण! अधिगत करनेवाले हम तुम्हें अधिगत कर लें, हे द्यौ और पृथिवी! होनवाले हम 'तुम' हो जायें",

सनेम मित्रावरुणा सनन्तो, भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः।७-५२-१।

स्पष्ट ही अभिप्राय यह है कि हमें असीम को या अदिति के पुत्रों को, देवत्वों को अधिगत करना है और स्वयं असीम, अदिति के पुत्र, 'अदितय, आदित्यास', हो जाना है। मित्र और वरुण के विषय में यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि ये प्रकाश तथा सत्य के अधिपति 'सूर्य सविता' की शक्तियां हैं। और तीसरी ऋचा इस प्रकार है, "अंगिरस, जो कि लक्ष्य पर पहुंचने के लिये शीघ्रता करते है, अपनी यात्रा करते हुए, देव सविता के सुख की तरफ गति करें और उस (सुख) को हमारा महान् यज्ञिय पिता और सब देवता एक मनवाले होकर हृदय में स्वीकार करें',

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त रत्नं देवस्य सवितुरियाना।

पिता च तन्नो महान् यजत्रो विश्वे देवाः समनसो जुषन्त॥ (ऋ० ७।५२।३)

इसलिये यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अंगिरस और देवता के उस प्रकाश तथा सत्य के यात्री हैं जिसमेंसे वे जगमगानेवाली गौएं पैदा हुई हैं, जिन गौओं को कि अंगिरस पणियों से छीनकर लाते हैं, और उस सुख के यात्री हैं जो, जैसा कि हम सर्वत्र देखते हैं, उस प्रकाश तथा सत्य पर आश्रित है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह यात्रा देवत्व में, असीम सत्ता में, परिणत होती है (आदित्या स्याम), जिसके लिये इस सूक्त (ऋचा २) में यह कहा गया है कि जो देवत्व तथा मर्त्यत्व में हमारी रक्षा करते हैं ऐसे मित्र, वरुण और वसुओं की अपने अन्दर क्रिया द्वारा दिव्य शांति तथा दिव्य सुख की वृद्धि करने से वह अवस्था आती है।

इन दो सूक्तों में अंगिरस ऋषियों का सामान्यतः उल्लेख हुआ है, पर अन्य सूक्तों में हमें इन मानव पितरों का निश्चित उल्लेख मिलता है जिन्होंने कि

सर्वप्रथम प्रकाश को खोजा था और विचार को और शब्द को अधिगत किया था और प्रकाशमान सुख के गुह्य लोकों की यात्रा की थी। उन परिणामों के प्रकाश में जिनपर कि हम पहुचे हैं, अब हम अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण सदर्भों का अध्ययन कर सकते हैं जो कि गभीर, सुन्दर तथा उज्ज्वल हैं और जिनमें मानवीय पूर्वपुरुषों की इस महान् खोज का गान किया गया है। उनमें हम उस महान् आशा का सारभूत वर्णन पायेंगे जिसे कि वैदिक रहस्यवादी सदा अपनी आखों के सामने रखते थे, वह यात्रा, वह विजय प्राचीन, प्रथम प्राप्ति है जिसे कि प्रकाशयुक्त पितरों ने अपने बाद आनेवाली मर्त्य जाति के लिये एक आदर्श के रूप में किया था। यह विजय थी उन शक्तियों पर जो कि चारों ओर से घेर लेनेवाली रात्रि (रात्रि परितक्म्या) की शक्तिया हैं, वृत्र, शम्बर, वल हैं, ग्रीक गाथाशास्त्र के टाइटन, जायट, पाइथन, (Titans, Giants, Pythons) हैं, अवचेतना की शक्तिया हैं जो कि प्रकाश और बल को अपने अन्दर, अपनी अन्धकार तथा भ्राति की नगरियों के भीतर रोक लेती हैं, पर न तो इसे उचित प्रकार से उपयोग में ला सकती हैं, न ही इन्हें मनुष्य को, मानसिक प्राणी को, देना चाहती हैं। उनके अज्ञान, पाप और ससीमता को न केवल हमें अपने पास से काटकर दूर कर देना है, बल्कि उन्हें भेदन कर डालना है और भेदन करके उनके अन्दर जा घुसना है, तथा उसमेसे प्रकाश, भद्र और असीमता के रहस्य को निकालकर लाना है। इस मृत्यु में से उस अमरता को जीत लाना है। इस अज्ञान के पीछे एक रहस्यमय ज्ञान और सत्य का एक महान् प्रकाश बन्द पडा है। इस पाप ने अन्दर में अपरिमित भद्र को कैद कर रखा है, सीमित करनेवाली इस मत्यु में असीम, अपार अमरता का बीज छिपा पडा है। 'वल', उदाहरण के लिये, ज्योतियों का वल है (वलस्य गोमत. १-११-५), उसका शरीर प्रकाश का बना हुआ है (गोवपुषः वलस्य १०-६८-९), उसका बिल या उसकी गुफा खजानों से भरा हुआ एक नगर है; उस शरीर को तोडना है, उस नगर को भेदन करके खोलना है, उन खजानों को हस्तगत करना है। यह कार्य है, जो कि मानवीयता के लिये नियत किया गया है और पूर्वपुरुषों इस कार्य को मानवजाति के लाभ के लिये एक बार कर

चुके हैं, जिससे कि उसे करने का मार्ग पता लग जाय और फिर उन्हीं उपायों द्वारा तथा उसी प्रकार प्रकाश के देवताओं के साथ मैत्री द्वारा लक्ष्य पर पहुंचा जा सके। "वह पुरातन सत्यभाव तुम देवताओं के तथा हमारे बीच में हो जाय, जैसा कि तब था जब उन अंगिरसों के साथ मिलकर जो कि (शब्द को) ठीक प्रकार से बोलते थे, (हे इन्द्र!), तूने उसे च्युत कर दिया था जो कि अच्युत था, और हे कार्यों को पूर्ण करनेवाले! तूने 'वल' का वध कर दिया था, जब कि वह तुझपर झपटा था और तूने उसके नगर के सब द्वारों को खोल डाला था[1]।" सभी मानवपरम्पराओं के उद्गम में यह प्राचीन स्मृति जुड़ी हुई है। यह इन्द्र तथा वृत्र-सर्प है, यह अपोलो (Apollo) तथा पाइथन (Python) है, ये थॉर (Thor) तथा जायन्ट (Giants) हैं, सिगर्ड (Sigurd) और फाफ्नर (Fafner) हैं, ये कॉल्टिक गाथाशास्त्र (Celtic mythology) के परस्परविरोधी देवता हैं। पर इस रूपक की कुंजी हमें केवल वेद में ही उपलब्ध होती है जिस रूपक में कि प्रागैतिहासिक मानवता की वह आशा या विद्या छिपी रखी है।

प्रथम सूक्त जिसे हम लेंगे, वह महान् ऋषि विश्वामित्र का सूक्त ३-३९ है, क्योंकि वह हमें सीधा हमारे विषय के हृदय में ले जाता है। यह प्रारम्भ होता है 'पित्र्या धी' अर्थात् पितरों के विचार के वर्णन से और यह विचार उस स्व-युक्त ('स्व' वाले) विचार से भिन्न नहीं हो सकता जिसका कि अत्रियों ने गायन किया है, जो वह सात-सिरोंवाला विचार है जिसे अयास्य ने नवग्वाओं के लिये खोजा था, क्योंकि इस सूक्त में भी विचार का वर्णन अंगिरसों, पितरों के साथ जुड़ा हुआ आता है। 'विचार हृदय से प्रकट होता हुआ, स्तोम के रूप में रचा हुआ, अपने अधिपति इन्द्र की ओर जाता है[2]।" इन्द्र, हमारी स्थापना के अनुसार, प्रकाशयुक्त मन की शक्ति है, प्रकाश के तथा इसकी विद्युत् के

---

[1] तन्न प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः।
हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः॥(६।१८।५)

[2] इन्द्रं मतिर्हृद आ वच्यमानाच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति। (३।३९।१)

लोक का स्वामी है, शब्द या विचार सतत रूप से गौओं या स्त्रियों के रूप में कल्पित किये गये है, 'इन्द्र' वृषभ या पति के रूप में, और शब्द उसकी कामना करते हैं और इस रूप में उनका वर्णन भी मिलता है कि वे उसे (इन्द्र को) खोजने के लिये ऊपर जाते है, उदाहरणार्थ देखो १-९-४, गिरः प्रति त्वामुदहासत...वृषभं पतिम्। 'स्व.' के प्रकाश से प्रकाशमय मन है लक्ष्य जो कि वैदिक विचार द्वारा तथा वैदिक वाणी द्वारा चाहा गया है, जो विचार और वाणी प्रकाशों की गौओं को आत्मा से, अवचेतना की गुफा से जिसमें कि वे बन्द पड़ी थी, ऊपर को धकेलकर प्रकट कर देते है, स्व. का अधिपति इन्द्र है वृषभ, गौओं का स्वामी, 'गोपतिः'।

ऋषि इस विचार के वर्णन को जारी रखता हुआ आगे कहता है, यह है, "वह विचार जो कि जब व्यक्त हो जाता है तब ज्ञान मे जागृत होकर रहता है", पणिओं की निद्रा के सुपुर्द अपने-आपको नहीं करता—या जागृवि विदथे शस्यमाना, "वह जो तुझसे (या तेरे लिये) पैदा होता है, हे इन्द्र! उसका तू ज्ञान प्राप्त कर"[1]। यह वेद में सतत रूप से पाया जानेवाला एक सूत्र है। देवता को, देव को उसका ज्ञान रखना होता है जो कि मनुष्य के अदर उसके प्रति उद्बुद्ध होता है, उसे हमारे अदर ज्ञान मे उसके प्रति जागृत होना होना है (विद्धि, चेतय. इत्यादि), नहीं तो यह एक मानवीय वस्तु ही रह जाती है और यह नहीं होता है कि वह "देवों के प्रति जाय", (देवेषु गच्छति)। और उसके बाद ऋषि कहता है "यह प्राचीन (या सनातन) है, यह द्युलोक से पैदा हुआ है, जब यह प्रकट हो जाता है तब यह ज्ञान मे जागृत रहता है, सफेद तथा सुखमय वस्त्रों को पहिने हुए यह हमारे अंदर पितरों का प्राचीन विचार है[2]।" सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः।

और फिर ऋषि इस विचार के विषय में कहता है कि यह "यमो की माता है जो कि यहा यमो को जन्म देती है, जिह्वा के अग्रभाग पर यह उतरती है और

---

[1]इन्द्र यत्ते जायते विद्धि तस्य। (३-३९-१)

[2]दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः॥ (३.३९.२)

खड़ी हो जाती है, युगल शरीर पैदा होकर एक-दूसरेके साथ संयुक्त हो जाते हैं और अन्धकार के घातक होते हैं और जाज्वल्यमान शक्ति के आधार में गति करते हैं[1]।" मैं यहां इसपर विचार-विमर्श नहीं करूंगा कि ये प्रकाशमान युगल क्या है, क्योंकि इससे हम अपने उपस्थित विषय की सीमा से परे चले जायंगे, इतना ही कहना पर्याप्त है कि दूसरे स्थलों में उनका वर्णन अंगिरसों के साथ तथा अंगिरसों की उच्च जन्म की (सत्य के लोक की) स्थापना के साथ संबद्ध आता है और वे इस रूप में कहे गये हैं कि 'वे युगल हैं, जिनमें कि इन्द्र अभिव्यक्त किये जानेवाले शब्द को रचता है' (१।८३।३), और वह जाज्वल्यमान शक्ति जिसके आधार में वे गति करते हैं, स्पष्ट ही सूर्य की शक्ति है, जो (सूर्य) अन्धकार का घातक है और इसलिये यह आधार और वह आधार एक ही है जो कि सर्वोच्च लोक है, सत्य का आधार ऋतस्य बुध्न है, और अन्तिम बात यह है कि यह कठिन है कि इन युगलों का उनके साथ बिल्कुल कुछ भी संबंध न हो जो कि सूर्य के युगल शिशु हैं, यम और यमी,—यम जो कि दशम मण्डल में अंगिरस् ऋषियों के साथ संबद्ध आता है[2]।

इस प्रकार अन्धकार के घातक अपने युगल शिशुओं सहित दिव्य विचार का वर्णन कर चुकने पर आगे विश्वामित्र उन पूर्वपितरों का वर्णन करता है जिन्हों-ने सर्वप्रथम इसे निर्मित किया था और उस महान् विजय का जिसके द्वारा कि उन्होंने "उस सत्य को, अन्धकार में पड़े हुए सूर्य को" खोज निकाला था। "मर्त्यों में कोई ऐसा नहीं है जो हमारे उन पूर्वपितरों की निन्दा कर सके (अथवा जैसा

---

[1]यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात्।
वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता॥(३.३९.३)

[2]इन तथ्यों के प्रकाश में ही हमें दशम मण्डल में आये यम और यमी के संवाद को समझना चाहिये जिसमें कि बहिन अपने भाई से संयोग करना चाहती है और फिर इसे आगामी युग की सन्तति के लिये छोड़ दिया गया है, जहां कि आगामी युगों का अभिप्राय वस्तुतः प्रतीकरूप काल-परिमाण से है, क्योंकि आगामी के लिये जो शब्द 'उत्तर' आया है उसका अर्थ आगामी के बजाय "उच्चतर" अधिक ठीक है।

कि इसकी अपेक्षा मुझे इसका अर्थ प्रतीत होता है कि मर्त्यता की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उन पूर्वपितरों को सीमित या बद्ध कर सके) जो हमारे पितर गौओं के लिये युद्ध करनेवाले हैं; इन्द्र जो कि महिमावाला है, इन्द्र जो कि महा-पराक्रम-कार्य को करनेवाला है, उसने उनके लिये दृढ बाड़ों को ऊपर की तरफ खोल दिया—यहां जहां कि एक सखा ने अपने सखाओं के साथ, योद्धा नवग्वाओं के साथ घुटनों के बल गौओं का अनुसरण करते हुए, दस दशग्वाओं के साथ मिलकर इन्द्र ने उस सत्य को, 'सत्यं तद्', पा लिया, सूर्य को भी जो अधकार में रह रहा था[1]।"

यही है जगमगाती हुई गौओं की विजय का तथा छिपे हुए सूर्य की प्राप्ति का अलंकार जो कि प्रायशः आता है; परन्तु अगली ऋचा में इसके साथ दो इसी प्रकार के अलंकार और जुड़ गये हैं और वे भी वैदिक सूक्तों में प्रायः पाये जाते हैं, वे हैं गौ का चरागाह या खेत तथा मधु जो कि गौ के अंदर पाया जाता है। "*इन्द्र ने मधु को पा लिया जो कि जगमगानेवाली के अंदर इकट्ठा किया हुआ था, गौ के चरागाह[2] में पैरोंवाली तथा खुरोंवाली (दौलत) को[3]।*" जगमगानेवाली 'उस्रिया' (साथ ही 'उस्रा' भी) एक दूसरा शब्द है जो कि 'गो' के समान दोनों अर्थ रखता है, किरण तथा गाय और वेद में 'गो' के पर्यायवाची के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। सतत रूप से यह हमारे सुनने में आता है कि 'घृत' या साफ किया हुआ मक्खन गौ में रखा गया है, वामदेव के अनुसार वह वहां तीन हिस्सों में पणियों द्वारा छिपाया गया है, पर कहीं यह मधुमय घृत है और कहीं

---

[1]नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥
सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ (३.३९.४-५)

[2]नेमे गो.। 'नेम' बना है 'नम्' धातु से, जिसका अर्थ है चलना, घूमना, विचरना, ग्रीक में नेमो (Nemo) धातु है, 'नम' शब्द का अर्थ है घूमने का प्रदेश, चरागाह, जो कि ग्रीक में नैमोस (Namos) है।

[3]इन्द्रो मधु सम्भृतमुस्रियायां पद्वद्विवेद शफवन्नमे गोः॥६॥

केवल मधु है, 'मधुमद् घृतम्' और 'मधु'। हम देख चुके हैं कि गौ की देन घी और सोमरूपा की देन (सोमरस) अन्य सूक्तों में कैसी घनिष्ठता के साथ जुड़े आते हैं और अब जब कि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि गौ का क्या अभिप्राय है तो यह अद्भुत तथा असंगत लगनेवाला संबंध पर्याप्त स्पष्ट और सरल हो जाता है। 'घृत' का अर्थ भी 'चमकदार' यह होता है, यह चमकीली गौ की चमकदार देन है, यह मनोवृत्ति में सचेतन ज्ञान का निर्मित प्रवाह है जो कि प्रकाशमय चेतना के अंदर सम्भृत (रखा हुआ) है और गौ की मुक्ति के साथ यह भी मुक्त हो जाता है, 'सोम' है आह्लाद, दिव्य सुख, दिव्य आनंद जो कि सत्ता की प्रकाशमय अवस्था से भिन्न नहीं किया जा सकता और जैसे कि वेद के अनुसार हमारे अंदर मनोवृत्ति के तीन स्तर हैं वैसे ही घृत के तीन भाग है, जो कि तीन देवताओं सूर्य, इन्द्र और सोम पर आश्रित है और सोम भी तीन हिस्सा में प्रदान किया जाता है, पहाड़ी के तीन स्तरों पर, 'त्रिषु सानुषु'। इन तीनों देवताओं के स्वभाव का ख्याल रखते हुए हम यह कल्पना प्रस्तुत कर सकते हैं कि 'सोम' इन्द्रियाश्रित मनोवृत्ति (Sense mentality) से दिव्य प्रकाश को उन्मुक्त करता है, 'इन्द्र' सक्रिय गतिशील मनोवृत्ति (Dynamic mentality) से, 'सूर्य' विशुद्ध विचारात्मिका मनोवृत्ति (Pure reflective mentality) से। और गौ के चरागाह में तो हम पहले से ही परिचित है, यह वह 'क्षेत्र' है जिसे कि इन्द्र अपने चमकीले सखाओं के लिये 'दस्यु' से जीतता है और जिसमें कि अत्रि ने योद्धा अग्नि को तथा जगमगाती हुई गौओं को देखा था, उन गौओं को जिनमें वे भी जो कि बूढ़ी थीं फिर से जवान हो गयी थीं। यह खेत, 'क्षेत्र' केवल एक दूसरा रूपक है उस प्रकाशमय घर (क्षय) के लिये जिस तक कि देवता यज्ञ द्वारा मानवीय आत्मा को ले जाते है।

आगे विश्वामित्र इस सारे रूपक के वास्तविक रहस्यवादी अभिप्राय को दर्शाना आरंभ करता है। 'दक्षिणा से युक्त उसने (इन्द्र ने) अपने दक्षिण हाथ में (दक्षिणे दक्षिणावान्) उस गुह्य वस्तु को थाम लिया, जो कि गुप्त गुहा में रखी थी और जलों में छिपी हुई थी। पूर्ण रूप से जानता हुआ वह (इन्द्र) अंधकार से ज्योति को पृथक् कर दे, ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्, हम पाप की उपस्थिति

से दूर हो जाय*।' यहां हमें इस देवी दक्षिणा के आशय को बतानेवाला एक सूत्र मिल जाता है, जो दक्षिणा कुछ संदर्भों मे तो यह प्रतीत होती है कि यह उषा का एक रूप या विशेषण है और अन्य संदर्भों में वह यज्ञ में हवियों का संविभाजन करनेवाली के रूप में प्रतीत होती है। उषा है दिव्य आलोक और दक्षिणा है वह विवेचक ज्ञान जो कि 'उषा' के साथ आता है और मन की शक्ति को, इन्द्र को, इस योग्य बना देता है कि वह यथार्थ को जान सके और प्रकाश को अंधकार से, सत्य को अनृत से, सरल को कुटिल से विविक्त करके वरण कर सके, 'वृणीत विजानन्'। इन्द्र के दक्षिण और वाम हाथ ज्ञान में उसकी क्रिया की दो शक्तियां हैं, क्योंकि उसकी दो बाहुओं को कहा गया है 'गभस्ति' और 'गभस्ति' एक ऐसा शब्द है जिसका सामान्यतः तो सूर्य की किरण अर्थ होता है पर साथ ही अग्रबाहु अर्थ भी होता है, और इन्द्र की ये दो शक्तियां अनुरूप हैं उसकी उन दो बोधग्राहक शक्तियों के, उसके दो चमकीले घोड़े 'हरी' के, जो कि इस रूप में वर्णित किये गये हैं कि वे सूर्यचक्षु, 'सूरचक्षसा' हैं और सूर्य की दर्शन-शक्तियां (Vision powers) 'सूर्यस्य केतु' हैं। दक्षिणा दक्षिण हाथ की शक्ति की, 'दक्षिण' की अधिष्ठात्री है, और इसलिये हम यह वर्णन पाते हैं कि 'दक्षिणे दक्षिणावान्'। यही (दक्षिणा) वह विवेकशक्ति है जो यज्ञ की यथातथ क्रिया पर तथा हवियों के यथातथ संविभाग पर अधिष्ठातृत्व करती है और यही है जो इन्द्र को इस योग्य बना देती है कि वह पणियों की झुंड में इकट्ठी हुई दौलत को सुरक्षित रूप से, अपने दाहिने हाथ में, थाम लेता है। और अंत में हम यह बतलाया गया है, कि यह रहस्यमय वस्तु क्या है जो कि हमारे लिये गुफा में रखी गयी थी और जो सत्ता के जलों के अंदर छिपी हुई है, उन जलों के अंदर जिनमें कि पितरों का विचार रखा जाना है, अप्सु धिय धिषे। यह है छिपा हुआ सूर्य, हमारी दिव्य सत्ता का गुप्त प्रकाश, जिसे कि पाना है और जिसे ज्ञान द्वारा उस अंधकार में से निकालना है जिसमें कि यह छिपा पड़ा है। यह प्रकाश भौतिक प्रकाश नहीं है, यह एक तो

---

*"गुहाहितं गुह्यं गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान् ॥६॥"
"ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके ॥७॥"

निखातम् शब्द से पता लग जाता है क्योंकि इस प्रकाश की प्राप्ति होती है यथार्थ ज्ञान द्वारा और दूसरे इसके कि द्वारा परिणाम नैतिक होता है, अर्थात् हम पाप की उपस्थिति से दूर हो जाते हैं, 'दुरितात्', शाब्दिक अर्थ में तो विपरीत गति से, स्खलन से, जो कि हमारी सत्ता की रात्रि में हमें वश में किये रहता है, जबतक कि सूर्य उपलब्ध नहीं हो जाता और जबतक दिव्य उषा उदित नहीं हो जाती।

एक बार यदि हमें वह कुंजी मिल जाती है जिससे गौओं का, सूर्य का, मधु-मदिरा का अर्थ खुल जाए, तो अंगिरसों के कथानक की तथा पितरों के जो कार्य हैं उनकी सभी घटनाएं (जो कि, वेदमन्त्रों की कर्मकाण्डिक या प्रकृतिवादी व्याख्या में ऐसी लगती हैं मानो यहां तहां के टुकड़ों को इकट्ठा जोड़कर एक बिल्कुल असंगत-सी चीज तैयार कर दी गयी हो और जो ऐतिहासिक या आर्य-द्रविडियन व्याख्या में उससे ही निराशाजनक तौर पर दुर्घट प्रतीत होती हैं उनके विपरीत) पूर्णतया स्पष्ट तथा सरल लगने लगती हैं और प्रत्येक दूसरी पर प्रकाश डालती हुई नजर आती हैं। प्रत्येक सूक्त अपनी समग्रता के साथ तथा दूसरे सूक्तों से जो इसका संबंध है उसके साथ हमारी समझ में आ जाता है, वेद की प्रत्येक जुदा-जुदा पंक्ति, प्रत्येक संदर्भ, जहां तहां बिखरा हुआ प्रत्येक संकेत मिलकर अनिवार्य रूप से और समस्वरता के साथ एक सामान्य समग्रता का, समष्टि का अंगभूत दीखने लगता है। यहां यह हम जान चुके हैं कि क्यों मधु का, दिव्य आनन्द का यह कहा जा सकता है कि उसे गौ के अंदर, सत्य के जगमगाते हुए प्रकाश के अंदर रखा गया, मधु की धारा बहानेवाली गौ का प्रकाश के अधिपति तथा उद्गम-स्थान सूर्य के साथ क्या संबंध है; क्यों अन्धकार में पड़े हुए सूर्य की पुनःप्राप्ति का संबंध पणियों की गौओं की उस विजय या पुनःप्राप्ति के साथ है जो अंगिरसों द्वारा की जाती है, क्यों इसे सत्य की पुनःप्राप्ति कहा गया है, पैरोंवाली और खुरोंवाली दौलत का तथा गौ के क्षेत्र या चरागाह का क्या अभिप्राय है। अब हम यह देखने लगे हैं कि पणियों की गुफा क्या वस्तु है और क्यों उसे जो कि 'वल' की गुफा में छिपा हुआ है यह भी कहा गया है कि वह उन जलों के अंदर छिपा हुआ है जिन्हें कि इन्द्र 'वृत्र' के पंजे से छुड़ाता है, उन सात नदियों के अंदर छिपा हुआ है जो नदियां अयास्य के सात-सिरोंवाले स्वर्विजयी विचार से युक्त हैं, क्या गुफा

में से सूर्य के छुटकारे को, अन्धकार में से प्रकाश के पृथक्करण या वरण को यह कहा गया है कि यह सर्वविवेचक ज्ञान द्वारा किया जाता है, 'दक्षिणा' तथा 'सरमा' कौन हैं और इसका क्या अभिप्राय है कि इन्द्र सुरावाली दौलत को अपने दाहिने हाथ में थामता है। और इन परिणामों पर पहुचने के लिये हमें शब्दों का अभिप्राय खींचतान करके नहीं निकालना है, यह नहीं करना है कि एक ही नियत संज्ञा के जहां जैसी सुविधा होती हो उसके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ मान लें, अथवा एक ही वाक्यांश या पंक्ति के भिन्न-भिन्न सूक्तों में भिन्न-भिन्न अर्थ कर लें अथवा असंगति को ही वेद में सही व्याख्या का मानदण्ड मान लें, बल्कि इसके विपरीत ऋचाओं के शब्द तथा रूप के प्रति जितनी ही अधिक सचाई बरती जायगी उतना ही अधिक विशद रूप में वेद का सामान्य तथा ब्योरेवार अभिप्राय एक सतत स्पष्टता और पूर्णता के साथ प्रकट हो जायगा।

इसलिये हमें यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि जो अभिप्राय हमारी खोज से निकला है उसे हम अन्य संदर्भों में भी प्रयुक्त करें, जैसे कि वसिष्ठ के सूक्त ७-७६ में, जिसकी मैं अब परीक्षा करूंगा, यद्यपि जिसमें ऊपर-ऊपर से देखने पर केवल भौतिक उषा का एक आनंद से पुलकित कर देनेवाला चित्र ही प्रतीत होगा पर यह प्रथम छाप मिट जाती है जब कि हम इस सूक्त की परीक्षा करते हैं, हम देखते हैं कि यहां सतत रूप से एक गंभीरतर अर्थ सूचित होता है और जिस क्षण हम उस चाबी का उपयोग करते हैं जो हमें मिली है उसी क्षण वास्तविक अभिप्राय की समस्वरता दिखायी देने लगती है। यह सूक्त प्रारंभ होता है परम उषा के प्रकाश के रूप में सूर्य के उस उदय के वर्णन से जिस उदय को देखना तथा अंगिरस् करते हैं।

*'सविता, जो देव है विराट् नर है उस प्रकाश में ऊपर चढ़ गया है जो प्रकाश कि अमर है और सब जन्मोंवाला है ज्योतिरमृतं विश्वजन्यम्, (यज्ञ के) कर्म द्वारा देवों की आंख पैदा हो गयी है (अथवा, देवों की संकल्पशक्ति द्वारा दर्शन

---

*उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥ (ऋ. ७.७६.१)

(Vision) पैदा हो गया है), उषा ने संपूर्ण लोक को (या उस सबको जो सद्रूप में आता है, सब सत्ताओं को, विश्व भुवनम्) अभिव्यक्त कर दिया है।' यह अमर प्रकाश जिसमें सूर्य उदित होता है, अन्य स्थलों में सच्चा प्रकाश, ऋत ज्योति, कहा गया है, और वेद में सत्य तथा अमरता सतत रूप में संबद्ध पाये जाते हैं। यह है ज्ञान का प्रकाश जो सात-सिरोंवाले विचार के द्वारा दिया गया, जिस विचार को कि अयास्य ने पाया था जब कि वह 'विश्वजन्य' अर्थात् विराट् सत्तावाला हो गया था, इसीलिये इस प्रकाश को भी 'विश्वजन्य' कहा गया है, क्योंकि यह अयास्य के चतुर्थ लोक, 'तुरीय स्विद्' से संबंध रखता है जिस लोक से शेष सब पैदा होते हैं और जिसके सत्य से शेष सब अपने विशाल विराट्रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं, अनृत और कुटिलता की सीमित अवधियों में नहीं रहते। इसीलिये इसे यह भी कहा गया है कि यह देवों की आंख है और दिव्य उषा है जो कि संपूर्ण सत्तामात्र को अभिव्यक्त कर देती है।

दिव्य दर्शन के इस जन्म का परिणाम यह होता है कि मनुष्य का मार्ग उसके लिये अपने-आपको प्रकट कर देता है तथा देवों की या देवों के प्रति की जानेवाली उन यात्राओं (देवयाना) को प्रगट कर देता है, जो यात्राएं दिव्य सत्ता के अनंत विस्तार की ओर ले जाती हैं। 'मेरे सामने देवों की यात्राओं के मार्ग प्रत्यक्ष हो गये हैं, उन यात्राओं के जो कि हिंसा नहीं करती हैं, जिनकी गति वसुओं द्वारा निर्मित की गयी थी। यह सामने उषा की आंख पैदा हो गयी है और वह हमारे घरों के ऊपर (पहुंचती हुई) हमारी तरफ आ गयी है*।' घर वेद में एक स्थिर प्रतीक है उन शरीरों के लिये जो कि आत्मा के निवास-स्थान हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि खेत (क्षेत्र) या आश्रयस्थान (क्षय) से अभिप्राय होता है वे स्तर जिनमें कि आत्मा आरोहण करता है तथा जिनमें वह ठहरता है। मनुष्य का मार्ग वह मार्ग है जिसपर कि वह सर्वोच्च लोक में पहुंचने के लिये यात्रा करता है, और वह वस्तु जिसे कि देवों की यात्राएं हिंसित नहीं करती देवा

---

*प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः॥ (ऋ. ७-७६-२)

की क्रियाएं है, जीवन का दिव्य नियम है, जिसमें आत्मा को बढ़ना होता है, जैसा कि हम पांचवीं ऋचा में देखते हैं जहां कि इसी वाक्यांश को फिर दोहराया गया है।

इसके बाद हम एक विचित्र आलंकारिक वर्णन पाते हैं, जो कि आर्यों के उत्तरीय ध्रुव निवास की कल्पना को पुष्ट करता प्रतीत होता है। "वे दिन बहुत से थे जो सूर्य के उदय से पहले थे (अथवा, जो सूर्य के उदय तक प्राचीन हो गये थे), जिनमें कि हे उषः ! तू दिखायी पड़ी, मानो कि अपने प्रेमी के चारों ओर घूम रही हो और तूने पुनः न आना हो[1]।" सचमुच ही यह ऐसी उषाओं का चित्र है जो कि अविच्छिन्न है, जिनके बीच में रात्रि व्यवधान नहीं डालती, वैसी जैसी कि उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशों में दृष्टिगोचर होती है। अध्यात्मपरक आशय जो इस ऋचा से निकलता है वह तो स्पष्ट ही है।

ये उषाएं क्या थीं ? ये वे थीं जो कि पितरों, प्राचीन अंगिरसों की क्रियाओं द्वारा रची गयी थीं। "वे सचमुच देवों के साथ (सोम का) आनंद लेते थे,[2] वे प्राचीन द्रष्टा थे जो कि सत्य से युक्त थे, उन पितरों ने छिपी हुई ज्योति को पा लिया, सत्य विचार से युक्त हुए-हुए (सत्यमन्त्रा, उस सत्य विचार में जो कि अन्तःप्रेरित वाणी, मंत्र, में अभिव्यक्त हुआ था) उन्होंने उषा को पैदा कर दिया[3]।" और यह उषा, यह मार्ग, यह दिव्य यात्रा, पितरों को कहां ले गयी ? समतल विस्तार में, 'समाने ऊर्वे', जिसे कि अन्य स्थलों में 'निर्बाध विस्तार' नाम दिया गया है, 'उरौ अनिबाधे', जो स्पष्ट वही वस्तु है जो कि वह विशाल सत्ता का विशाल लोक है जिसे कण्व के अनुसार मनुष्य तब रचते हैं जब कि वे

---

[1]तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।
यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ॥ (ऋ० ७-७६-३)

[2]मैं थोड़ी देर के लिये 'सधमाद' के परम्परागत अर्थ को ही स्वीकार किये लेता हूं, यद्यपि मुझे यह निश्चय नहीं कि यह अर्थ शुद्ध ही है।

[3]त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ (ऋ० ७-७६-४)

पूर्ण या वध कर लेते हैं और द्यावापृथिवी के पार चले जाते हैं, यह है बृहत् सत्य तथा 'अदिति' की असीम सत्ता। "समान विस्तार में वे परस्पर संगत होते हैं और अपने ज्ञान को एक करते हैं (अथवा पूर्णतया ज्ञान रखते हैं), और परस्पर मिलकर प्रयत्न नहीं करते, वे देवों के कर्मों को कम नहीं करते (सीमित नहीं करते या क्षत नहीं करते), उनकी हिंसा न करते हुए वे वसुओं (की शक्ति) द्वारा (अपने लक्ष्य की तरफ) गति करते हैं'।" यह स्पष्ट है कि सात अंगिरस्, चाहे वे मानव हों चाहे दिव्य, ज्ञान, विचार या शब्द के, सात सिरोंवाले विचार के, बृहस्पति के सात-मुखोंवाले शब्द के भिन्न-भिन्न सात तत्त्वों को सूचित करते हैं और समस्त विस्तार में आकर वे एक विराट् ज्ञान में समस्वर हो जाते हैं, स्खलन, कुटिलता, असत्य जिनके द्वारा मनुष्य देवों के कर्मों की हिंसा करते हैं तथा जिनके द्वारा उनकी सत्ता, चेतना व ज्ञान के विभिन्न तत्त्व एक दूसरे के साथ अंधे संघर्ष में जुट जाते हैं, दिव्य उषा की आभा या दर्शन (Vision) द्वारा परे हटा दिये जाते हैं।

सूक्त समाप्त होता है वसिष्ठों की इस अभीप्सा के साथ कि उन्हें वह दिव्य तथा सुखमयी उषा प्राप्त हो जो कि गौओं की नेत्री है तथा समृद्धि की पत्नी है और साथ ही जो आनंद तथा सत्यों की (सूनृतानाम्) नेत्री है'। वे उसी महाकार्य को करना चाहते हैं जिसे पूर्व द्रष्टाओं ने, पितरों ने, किया था, और इसमें यह परिणाम निकलेगा कि ये मानवीय अंगिरस् हैं, न कि दिव्य। कुछ भी हो, अंगिरसों के कथानक का अभिप्राय इससे सब अंग-उपांगसहित नियत हो गया है, सिवाय इसके कि स्वर्लत पणि क्या है तथा सरमा कुतिया क्या है, और अब हम इस ओर प्रवृत्त हो सकते हैं कि चतुर्थ मण्डल के प्रारंभ के सूक्तों में जो संदर्भ

'समानं ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ॥ (ऋ. ७-७६-५)
'प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ॥
एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः । (ऋ. ७-७६-६,७)

आते हैं उनपर विचार करें, जिनमें कि मानव पितरों का साफ-साफ उल्लेख हुआ है और उनके महान् कार्य का वर्णन किया गया है। वामदेव के ये सूक्त अंगिरसों के कथानक के इस अंग पर अत्यधिक प्रकाश डालनेवाले तथा इस दृष्टि से अत्यावश्यक हैं और अपने-आपमें भी ये ऋग्वेद के अधिक-से-अधिक रोचक सूक्तों में से हैं।

बीसवां अध्याय

पितरों की विजय

महान् ऋषि वामदेव के द्वारा दिव्य ज्वाला को, द्रष्टृसकल्प (seer-will) को, 'अग्नि' को सबोधित किये गये सूक्त ऋग्वेद के उन सूक्तो म से हैं जो कि अधिक-से-अधिक रहस्यवादी उद्गारवाले हैं और ये सूक्त यद्यपि अपने अभिप्रायो म बिल्कुल सरल है यदि हम ऋषियो द्वारा प्रयुक्त की गयी अर्थपूर्ण अलकारो की पद्धति का दृढतापूर्वक अपने मनो मे बैठा लेवे, तथापि यदि हम ऐसा न कर सके तो ये हमें बेशक एसे प्रतीत होगे मानो ये केवल शब्दरूपको की चमक-दमकवाली एक धुन्धमात्र है, जो कि हमारी समझ को चक्कर में डाल देते हैं। पाठक को प्रतिक्षण उस नियत-सकेत पद्धति को काम में लाना होता है जो कि वेदमत्रो के आशय को खोलने की चाबी है, नही तो वह उतना ही अधिक घाटे में रहेगा, जितना कि वह रहता है जो कि तत्त्वज्ञान-शास्त्र को पढना चाहता है पर तो भी जिसने उन दार्शनिक पारिभाषिक-सज्ञाओ के अभिप्राय को अच्छी प्रकार नही समझा है जो कि उस शास्त्र में सतत रूप से प्रयुक्त होती हैं, अथवा हम यह कहें कि जितना वह रहता है जो कि पाणिनि के सूत्रों को पढने का यत्न करता है पर यह नहीं जानता कि व्याकरणसबधी सकेतो की वह विशेष पद्धति क्या है जिसमे कि वे सूत्र प्रकट किये गये हैं। तो भी आशा है वैदिक रूपकों की इस पद्धति पर पहले ही हम पर्याप्त प्रकाश प्राप्त कर चुके है, जिससे कि वाम-देव हम मानवीय पूर्वपितरो के महाकार्य के विषय म क्या कहना चाहता है इसे हम काफी अच्छी तरह समझ सकते है।

प्रारभ में अपने मनो में इस बात को बैठा लेने के लिये कि वह महाकार्य क्या था, हम उन स्पष्ट तथा पर्याप्त सूत्र-वचनों को अपने सामने रख सकते है जिनमें कि पराशर शाक्त्य ने उन विचारो को प्रकट किया है। 'हमारे पितरो ने अपने शब्दो द्वारा (उक्थै:) अचल तथा दृढ स्थानों को तोडकर खोल दिया, तुम अगि-

रगों ने अपनी आवाज से (रवेण) पहाड़ी को तोड़कर खोल दिया; उन्होंने हमारे अंदर महान् द्यौ के लिये मार्ग बना दिया, उन्होंने दिन को, स्वः को और दर्शन (Vision) को और जगमगानेवाली गौओं को पा लिया।'

चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥ (ऋ. १-७१-२)[1]

यह मार्ग, वह कहना है, वह मार्ग है जो कि अमरता की ओर ले जाता है; 'उन्होंने जो कि उन सब वस्तुओं के अंदर जा घुसे थे जो वस्तुएं यथार्थ फल को देनेवाली हैं, अमरता की तरफ ले जानेवाले मार्ग को बनाया, महत्ता के द्वारा तथा महान् (देवों) के द्वारा पृथिवी उनके लिये विस्तीर्ण होकर खड़ी हो गयी, माता अदिति अपने पुत्रों के साथ उन्हें थामने के लिये आयी (या, उसने अपने-आपको प्रकट किया)' (ऋ० १ ७२ ९[1]) । कहने का अभिप्राय यह है कि भौतिक सत्ता ऊपर के असीम स्तरों की महत्ता से आविष्ट होकर तथा उन महान् देवताओं की शक्ति से आविष्ट होकर जो कि उन स्तरों पर शासन करती हैं, अपनी सीमाओं को तोड़ डालती है, प्रकाश को लेने के लिये खुल जाती है और इस अपनी नवीन विस्तीर्णता में वह असीम चेतना, *'माता अदिति', द्वारा तथा उसके पुत्रों,* परमदेव की दिव्य शक्तियों द्वारा थामी जाती है। यह है वैदिक अमरता।

इस प्राप्ति तथा विस्तीर्णता के उपाय भी अति संक्षेप में पराशर ने अपनी रहस्यमयी, पर फिर भी स्पष्ट और हृदयस्पर्शी शैली में प्रतिपादन कर दिये हैं। 'उन्होंने सत्य को धारण किया, उन्होंने इसके विचार को समृद्ध किया, तभी वस्तुतः उन्होंने, अभीप्सा करती हुई आत्माओं ने (अर्य) इसे विचार में धारण करते हुए, अपनी सारी सत्ता में फैले हुए इसे थामा।'

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः। (ऋ. १-७१-३)

---

[1]यह पूरा मंत्र इस प्रकार है—

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥

[1]आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः॥

'विभृना' में जो अलंकार है वह सत्य के विचार को हमारी सत्ता के सारे तत्त्वों में थामने को सूचित करता है, अथवा यदि इसे सामान्य वैदिक रूपक में रखें, तो इस रूप में कह सकते हैं कि, यह ज्ञान-मिरोवाले विचार को सारे ज्ञान जलों के अन्दर धारण करने को, अप्सु धियं धिषे, सूचित करता है, जैसा कि अन्यत्र इसे हम लगभग ऐसी ही भाषा में प्रकट किया गया देख चुके हैं, यह इस अलंकारमय वर्णन से स्पष्ट हो जाता है जो कि तुरन्त इसके बाद इसी ऋचा के उत्तरार्द्ध में आया है,–'जो कर्म के करनेवाले हैं, वे तृष्णारहित (जलों) की तरफ जाते हैं, जो जल आनन्द की तुष्टि द्वारा दिव्य जन्मों को बढ़ानेवाले हैं,

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्ती ।

तुष्टि पायी हुई सप्तविध सत्य-मना में रहनेवाली सप्तविध सत्य चेतना, आनन्द को पाने के लिये जो आत्मा की भूख है उसे शान्त करने के द्वारा, हमारे अन्दर दिव्य जन्मों को बढ़ाती है, यह है अमरता की वृद्धि। यह है व्यक्तीकरण उस दिव्य मना, दिव्य प्रकाश और दिव्य सुख के त्रैत का जिसे कि बाद में चलकर वेदान्तियों ने सच्चिदानन्द कहा है।

सत्य के इस विराट् फैलाव के तथा हमारे अन्दर सब दिव्यताओं की उत्पत्ति तथा क्रिया के (जो हमारे वर्तमान सीमित मर्त्य जीवन के स्थान पर हमें व्यापक और अमर जीवन प्राप्त हो जाने का आश्वासन दिलानेवाले हैं) अभिप्राय को पराशर ने १-६८ में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'अग्नि', दिव्य द्रष्टा-संकल्प (Seer-will) का वर्णन इस रूप में किया गया है कि वह द्युलोक में आरोहण करता है तथा उस सबमेंसे जो कि स्थिर है और उस सबमेंसे जो कि चंचल है रात्रियों के पर्दे को समेट देता है, 'जब वह ऐसा एक देव हो जाता है कि अपनी सत्ता की महिमा से इन सब दिव्यताओं को चारों ओर से घेर लेता है।'*

"तभी वस्तुतः सब संकल्प को (या कर्म को) स्वीकार करते हैं और उसके

*श्रीणन् उप स्थाद् दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत्।
"परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा"॥ (ऋ० १-६८-१)

साथ समक्त हो जाते हैं, जब कि हे देव ! तू शुष्कता में से (अर्थात् भौतिक सत्ता में से, मरुभूमि में से, जैसा कि कहा गया है, जो कि सत्य की धाराओं से असिञ्चित हैं) एक सजीव आत्माके रूप में पैदा हो जाता है, सब अपनी गतियों द्वारा सत्य तथा अमरता को अधिगत करते हुए दिव्यता का आनन्द लेते हैं।"*

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम, ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः।

"सत्य की प्रेरणा, सत्य का विचार एक व्यापक जीवन हो जाता है (या सारे जीवनको व्याप्त कर लेता है), और इसमें सब अपनी क्रियाओं को पूर्ण करते हैं।"

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीति विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः। (ऋ. १-६८-३)

और वेद की उस दुर्भाग्यपूर्ण भ्रांत व्याख्या के शिकार होकर जिसे कि यूरोपियन पाण्डित्य ने आधुनिक मन पर थोप रखा है, कहीं हम अपने मन में यह विचार न बना लें कि ये पंजाब की ही सात भूमिष्ठ नदियां हैं जो कि मानव पूर्वपितरों के अतिलौकिक महाकार्य में काम आती हैं, इसके लिये हमें ध्यान देना चाहिये कि पराशर अपनी स्पष्ट और प्रकाशकारिणी शैली में इन सात नदियों के बारे में क्या कहता है। "सत्य की प्रीणयित्री गौओं ने ('धेनवः', एक रूपक है जो कि नदियों के लिये प्रयुक्त किया गया है, जब कि 'गावः' या 'उस्रा' शब्द सूर्य की प्रकाशमान गौओं को प्रकट करता है) उसकी पालना की, सुखमय ऊधसों के साथ, रंभाती हुई उन्होंने द्यौ में आनन्द लिया, सुविचार को सर्वोच्च (लोक) से वर रूप में प्राप्त करके नदियां पहाड़ों के ऊपर विस्तीर्ण होकर तथा समता के साथ प्रवाहित हुईं",

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः, स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः।

परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्॥ (ऋ. १.७३.६)

और १-७२-८ में एक ऐसी शब्दावलि में उनका वर्णन करता हुआ जो कि दूसरे सूक्तों में नदियों के लिये प्रयुक्त हुई है, वह कहता है, "विचार को यथार्थ रूप में रखनेवाली, सत्य को जाननेवाली, द्यौ की सात शक्तिशाली (नदियों)

---

*आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद्यद्देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः॥ (ऋ. १-६८-२)

ने आनन्द के द्वारा गौ को ज्ञान मे प्रत्यक्ष किया, 'सरमा' ने जगमगाती गौओं के दृढत्व को, विस्तार को पा लिया, उसके द्वारा मानुषी प्रजा आनन्द भोगती है।'

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी, रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।

विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं, येना नु कं मानुषी भोजते विट् ॥

स्पष्ट ही ये पंजाब की नदियां नहीं हैं, बल्कि आकाश (द्यौ) की नदियां हैं, सत्य की धाराएं हैं,* सरस्वती जैसी देवियां हैं जो कि ज्ञान में सत्य से युक्त हैं और जो इस सत्य के द्वारा मानुषी प्रजा के लिये आनन्द के द्वारों को खोल देती हैं। यहां भी हम वही देखते हैं जिसपर कि मैं पहले ही बल दे चुका हूं, कि गौओं के ढूंढ निकाले जाने में तथा नदियों के बह निकलने मे एक गहरा सम्बन्ध है, ये दोनों एक ही कार्य के, महाकार्य के अंगभूत हैं, और वह है मनुष्यों द्वारा सत्य तथा अमृत की प्राप्ति का महाकार्य, ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः।

अब यह पूर्णतया स्पष्ट है कि अंगिरसों का महाकार्य है सत्य तथा अमरता की विजय, 'स्व' जिसे कि महान् लोक, बृहद् द्यौ, भी कहा गया है सत्य का लोक है जो कि सामान्य द्यौ और पृथिवी से ऊपर है, जो द्यौ तथा पृथिवी इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकते कि ये सामान्य मानसिक तथा भौतिक सत्ता हों, बृहद् द्यौ का मार्ग, सत्य का मार्ग जिस कि अंगिरसा ने रचा है और सरमा ने जिसका अनुसरण किया है वह मार्ग है जो कि अमरता की तरफ ले जाता है, अमृतत्वाय गातुम्, उषा का दर्शन (केतु), अंगिरसों द्वारा जीता गया दिन, वह दर्शन है, जो कि सत्य-चेतना का अपना स्वकीय है, सूर्य तथा उषा की जगमगाती हुई गौएं, जो कि पणियों से जबर्दस्ती छीनी गयी हैं, इसी सत्य-चेतना की ज्योतियां हैं जो कि सत्य के विचार, ऋतस्य धीति को रचने में सहायक होती हैं, जो सत्य का विचार अयास्य के सात सिरों-वाले विचार में पूर्ण होता है, वेद की रात्रि मर्त्य

---

*देखो ऋ १ ३२ ८ में हिरण्यस्तूप आंगिरस 'वृत्र' से मुक्त होकर आये हुए जलों का इस रूप में वर्णन करता है कि वे 'मन को आरोहण करते हैं" मनो रुहाणा, और अन्यत्र वे इस रूप में कहे गये हैं कि मे वे जल हैं जो कि अपने अन्दर ज्ञान को रखते हैं, आपो विचेतस (जैसे १ ८३ १ में)।

सत्ता की अधकारावृत चेतना है जिसमें कि सत्य अवचेतन हुआ-हुआ है, पहाडी की गुफा में छिपा हुआ है, रात्रि के इस अधकार में पडे हुए सोये सूर्य की पुन प्राप्ति का अभिप्राय है अधकारपूर्ण अवचेतन अवस्था में से सत्य के सूर्य की पुन प्राप्ति, और सात नदियों के भूमि की ओर अध प्रवाह होने का मतलब होना चाहिये हमारी सत्ता के सप्तगुण तत्त्व की उस प्रकार की बहि प्रवाही क्रिया जैसी कि वह दिव्य या अमर सत्ता के सत्य में व्यवस्थित की जा चुकी है। इसी प्रकार, फिर पणि होने चाहियें वे शक्तिया जो कि सत्य को अवचेतन अवस्था में से बाहर निकलने से रोकती हैं और जो सतत रूप से इस (सत्य) के प्रकाशों को मनुष्य के पास से चुराने का प्रयत्न करती हैं और मनुष्य को फिर से रात्रि में डाल देती हैं और वृत्र वह शक्ति होनी चाहिये जो कि सत्य की प्रकाशमान नदियों की स्वच्छन्द गति में बाधा डालती है और उसे रोकती है, हमारे अदर सत्य की अन्त प्रेरणा, ऋतस्य प्रेषा में बाधा पहुचाती है, उस ज्योतिर्मयी अन्त प्रेरणा, ज्योतिर्मयीम् इषम् में जो कि हमें रात्रि से पार कराके अमरता प्राप्त करा सकती है। और इसके विपरीत, देवता, 'अदिति' के पुत्र, होने चाहियें वे प्रकाशमयी दिव्यशक्तिया जो कि असीम चेतना 'अदिति' में पैदा होती हैं, जिनकी रचना और क्रिया हमारी मानवीय तथा मर्त्य सत्ता के अदर आवश्यक है, जिससे कि हम विकसित होते-होते दिव्य रूप में देवों की अवस्था (देवत्वम्) में परिणत हो जाय जो कि अमरता की अवस्था है। 'अग्नि' सत्य-चेतनामय द्रष्टृ-सकल्प है, वह प्रधान देवता है जो कि हमें यज्ञ को सफलतापूर्वक करने में समर्थ बना देता है, वह यज्ञ को सत्य के मार्ग पर ले जाता है, वह सग्राम का योद्धा है कर्म का अनुष्ठाता है और अपने अदर अन्य सब दिव्यताओं को ग्रहण किये हुए उस 'अग्नि' की हमारे अदर एकता तथा व्यापकता का होना ही अमरता का आधार है। सत्य का लोक जहा कि हम पहुचते हैं उसका अपना घर है तथा अन्य देवों का अपना घर है और वही मनुष्य के आत्मा का अतिम प्राप्तव्य घर है। और यह अमरता वर्णित की गयी है एक परम सुख के रूप में, असीम आत्मिक सपत्ति तथा समृद्धि की अवस्था रत्न, रयि, राधस् आदि के रूप म, हमारे दिव्य घर के खुलनेवाले द्वार हैं आनद-समृद्धि के द्वार, रायो दुर', वे दिव्य द्वार जो कि उनके लिये खुलते हुए सपाट खुल जाते हैं जो

सत्य को बढ़ानेवाले (ऋतावृध) है, और जिन द्वारों को हमारे लिये सरस्वती ने और उसकी बहिनों ने, सात सग्निओं ने, सरमा ने खोजा है, इन द्वारों की तरफ और उस विशाल चरागाह (क्षेत्र) की तरफ जो कि विस्तीर्ण सत्य की निर्बाध तथा सम निःसीमताओं में है बृहस्पति और इन्द्र समर्थी गौओं को ऊपर की ओर ले जाते हैं।

इन विचारों को यदि हम स्पष्टतया अपने मनों में गड़ा लेवें तो हम इस योग्य हो जायेंगे कि वामदेव की ऋचाओं को समझ सकें, जो कि उसी विचार-सामग्री को प्रतीकमयी भाषा में बार-बार दोहराती हैं जिसे कि पराशर ने अपेक्षाकृत अधिक खुले तौर पर व्यक्त कर दिया है। यह 'अग्नि' है, द्रष्टृ-संकल्प है जिसे वामदेव के प्रारम्भिक सूक्त संबोधित किये गये हैं। उसका इस रूप में स्तुतिगान किया गया है कि वह मनुष्य के यज्ञ का बंधु या निर्माता है, जो कि मनुष्य को दर्शन (Vision) के प्रति, ज्ञान (केतु) के प्रति जागृत करता है, स चेतयन् मनुषो यज्ञबन्धुः (ऋ ४।१।९)। ऐसा करता हुआ, "वह इस मनुष्य के द्वारवाले घर में कार्यसिद्धि के लिये प्रयत्न करता हुआ निवास करता है, वह जो देव है, मर्त्य की कार्यसिद्धि में साधन बनने के लिये आया है।"

स क्षेति अस्य दुर्यासु साधन् देवो मर्तस्य सधनित्वमाप ॥ (४-१-९)

वह क्या है जिसे कि यह सिद्ध करता है? यह अगली ऋचा हमें बताती है। "यह 'अग्नि' जानता हुआ हमें अपने उस आनंद की तरफ ले जाय जिसका देवों ने आस्वादन किया है, जिसे कि सब अमर्त्यों ने विचार द्वारा रचा है और 'द्यौष्पिता', जो कि जनिता है, सत्य का सिञ्चन कर रहा है।"

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य।
धिया यद् विश्वे अमृता अकृण्वन् द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन् ॥ (ऋ ४-१-१०)

यही है पराशर द्वारा वर्णित अमरता का परम सुख जिसे कि अमर्त्य देवताओं की शक्तियों ने सत्य के विचार में तथा इसकी अन्तःप्रेरणा में अपना कार्य करके रचा है, और सत्य का सिञ्चन स्पष्ट ही जलों का सिञ्चन है, जैसा कि 'उक्षन्' शब्द से सूचित होता है, यह वही है जिसे कि पराशर ने पहाड़ी के ऊपर सत्य की सात नदियों का समतायुक्त प्रसार कहा है।

वामदेव अपने वचन को जारी रखता हुआ आगे हमें इस महान्, प्रथम या सर्वोच्च शक्ति, 'अग्नि' के जन्म के बारे में कहता है, जो जन्म सत्य में होता है, इसके जलों में, इसके आदिम घर में होता है। 'प्रथम वह (अग्नि) पैदा हुआ जलों के अंदर, बृहत् लोक (स्व.) के आधार के अंदर, इसके गर्भ (अर्थात् इसके आसन-स्थान और जन्म-स्थान, इसके आदिम घर) के अंदर; वह बिना सिर और पैर के था, अपने दो अंतों को छिपा रहा था, वृषभ की माद में अपने आपको कार्य में लगा रहा था।'' वृषभ है देव या पुरुष, उसकी माद है सत्य का लोक, और अग्नि जो कि 'द्रष्टृ-संकल्प' है, सत्य-चेतना में कार्य करता हुआ, लोकों की रचना है; पर वह अपने दो अंतों को, अपने सिर और पैरों को, छिपाता है; कहने का अभिप्राय यह है कि उसके व्यापार पराचेतन तथा अवचेतन (Superconscient and subconscient) के बीच में क्रिया करते हैं, जिनमें कि उसकी उच्चतम और निम्नतम अवस्थाएं क्रमशः छिपी रहती हैं एक तो पूर्ण प्रकाश में दूसरी पूर्ण अंधकार में। वहांसे फिर वह प्रथम और सर्वोच्च शक्ति के रूप में आगे प्रस्थान करता है और सुख की सात शक्तियों, सात प्रियाओं, की क्रिया के द्वारा वह वृषभ या देव के यहां पैदा हो जाता है। 'प्रकाशमय ज्ञान द्वारा जो कि प्रथमशक्ति के रूप में आया था, वह (अग्नि) आगे गया और सत्य के स्थान में, वृषभ की माद में, वांछनीय, युवा, पूर्ण शरीरवाला, अतिशय जगमगाता हुआ, वह पहुंच गया, सात प्रियाओं ने उसे देव के यहां पैदा कर दिया'।'

इसके बाद ऋषि आता है मानवीय पितरों के महाकार्य की ओर, अस्माकमत्र पितरो मनुष्या, अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः। "यहां हमारे मानव पितर सत्य को खोजना चाहते हुए इसके लिये आगे बढ़े, अपने आवरक कारागार में बन्द पड़ी हुई चमकीली गौओं को, चट्टान के बाड़े में बन्द अच्छी दुधार गौओं को वे

'स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे॥ (ऋ. ४-१-११)

'प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे॥ (ऋ. ४-१-१२)

ऊपर की तरफ (सत्य की ओर) हांक ले गये, उषाओं ने उनकी पुकार का उत्तर दिया[1]।१३। उन्होंने पहाड़ी को विदीर्ण कर दिया और उन्हें (गौओं को) चमका दिया, अन्य जो कि उनके चारों तरफ थे उन सबने उनके इस (सत्य) को खुले तौर पर उद्घोषित कर दिया, पशुओं को हांकनेवाले उन्होंने कर्मों के कर्ता (अग्नि) के प्रति स्तुति-गीतों का गान किया, उन्होंने प्रकाश को पा लिया, वे अपने विचारों में जगमगा उठे (अथवा, उन्होंने अपने विचारों द्वारा कार्य को पूर्ण किया)[2]।१४। उन्होंने उस मन से जो कि प्रकाश की (गौओं की, गव्यता मनसा) खोज करता है, उस दृढ़ और निविड पहाड़ी को तोड़ डाला जिसने कि प्रकाशमयी गौओं को घेर रखा था, इच्छुक आत्माओं ने दिव्य शब्द द्वारा, वचसा दैव्येन, गौओं से भरे हुए दृढ़ बाड़े को खोल दिया[3]।१५।" ये अंगिरसों के कथानक के सामान्य आलंकारिक वर्णन हैं, पर अगली ऋचा में वामदेव अपेक्षाकृत और भी अधिक रहस्यमयी भाषा का प्रयोग करता है। "उन्होंने प्रीणयित्री गौ के प्रथम नाम को मन में धारण किया, उन्होंने माता के त्रिगुणित सात उच्च (स्थानों) को पा लिया, मादा गायों ने उसे जान लिया और उन्होंने इसका अनुसरण किया, प्रकाशरूपी गौ की शानदार प्राप्ति (या शोभा) के द्वारा एक अरुण वस्तु आविर्भूत हुई।"

ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्।
तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः ॥ (ऋ. ४-१-१६)

यहां माता है 'अदिति', असीम चेतना, जो कि 'धेनु' या प्रीणयित्री गौ है, जिसके साथ अपने सप्तगुण प्रवाह के रूप में सात सरिताएं हैं, साथ ही वह प्रकाश की

[1]अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥ (ऋ. ४-१-१३)

[2]ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन् विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः ॥ (ऋ.४-१-१४)

[3]ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम्।
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ (ऋ. ४-१-१५)

'गौ' भी है जिसके माय उषाए है, जो कि उसके शिशुओं के रूप मे है, वह अरुण वस्तु है दिव्य उषा और गायें या किरणें हैं उसके खिलते हुए प्रकाश। जिसके त्रिगुणित सात परम स्थान है जिन्हें कि उषाए या मानसिक प्रकाश जानते हैं और उनकी ओर गति करते हैं, उस माता का प्रथम नाम होना चाहिये परम देव का नाम या देवत्व, जो देव असीम सत्ता है और असीम चेतना है और असीम सुख है, और तीन आसन-स्थान हैं तीन दिव्य लोक जिन्हें कि इसमे पहले इसी सूक्त मे अग्नि के तीन उच्च जन्म कहा[1] है, जो कि पुराणो के 'सत्य', 'तपस्' और 'जन' हैं, जो कि देव की इन तीन असीमताओ के अनुरूप हैं और इनमें से प्रत्येक अपने-अपने तरीके से हमारी सत्ता के सप्तगुण तत्त्व को पूर्ण करता है, इस प्रकार हम अदिति के त्रिगुणित सात स्थानो की श्रेणिया पाते है जो कि सत्य की दिव्य उषा में से गुल्कर अपनी सपूर्ण शोभा मे प्रकट हो गयी हैं[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय पितरो द्वारा की गयी प्रकाश तथा सत्य की उपलब्धि भी एक आरोहण है, जो कि परम तथा दिव्य पद की अमरता की तरफ होना है, सर्वस्रष्ट्री असीम माता के प्रथम नाम की ओर होता है, इस आरोहण करनेवाली सत्ता के लिये उस (माता) के जो त्रिगुणित सात उच्च पद हैं उनकी ओर होना है और सनातन पहाड़ी (अद्रि) के सर्वोच्च सम-प्रदेशो (सानु) की ओर होता है।

यह अमरता वह आनद है जिसका देवो ने आस्वादन किया है, जिसके विषय मे वामदेव हमें पहले ही बतला चुका है कि यह वह वस्तु है जिसे कि 'अग्नि' को यज्ञ द्वारा सिद्ध करना है, यह वह सर्वोच्च सुख है जो ऋ १ २० ७ के अनुसार अपने त्रिगुणित सात आनन्दो से युक्त है। क्योकि आगे वह कहता है "अन्ध-

---

[1]देखो मन्त्र ७,—"त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्ने ।"

[2]इसी विचार को मेधातिथि काण्व ने (ऋ १ २० ७ म) दिव्य सुख के त्रिगुणित सात आनदो, रत्नानि त्रि साप्तानि, के रूप मे व्यक्त किया है, अथवा यदि और अधिक शाब्दिक अनुवाद को ले, तो इस रूप मे कि आनद जो अपनी सात-सात की तीन श्रेणियो मे हैं, जिनमे से प्रत्येक को ऋभु अपने पृथक्-पृथक् तथा पूर्ण रूप मे प्रकट कर देते है, एकमेक सुशस्तिभि ।

नगर नष्ट हो गया, जिसका आधार हिल चुका था; द्यौ चमक उठा (रोचत द्यौः, अभिप्राय प्रतीत होता है स्वः के तीन प्रकाशमय लोकों, दिवो रोचनानि, की अभिव्यक्ति से); दिव्य उषा का प्रकाश ऊपर उठा, सूर्य (सत्य के) विस्तीर्ण क्षेत्रों में प्रविष्ट हुआ, मर्त्यों के अन्दर सरल तथा कुटिल वस्तुओं को देखता हुआ[1]। १७। इसके पश्चात् सचमुच वे जाग गये और वे (सूर्य द्वारा किये गये कुटिल से सरल के, अनृत से सत्य के पार्थक्य द्वारा) विशेष रूप से देखने लगे, तभी वस्तुतः उन्होंने उनके अन्दर उस सुख को थामा जो कि द्युलोक में आस्वादन किया गया है, रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्। (हम चाहते हैं कि) सबके सब देव हमारे सब घरों में होवें, हे मित्र, हे वरुण, वहां हमारे विचार के लिये सत्य होवें[2]।" विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु ॥१८॥ यह स्पष्ट वही बात है जो कि पराशर शाक्त्य द्वारा इसकी अपेक्षा भिन्न भाषा में व्यक्त की जा चुकी है, अर्थात् सत्य के विचार और प्रेरणा द्वारा सारी सत्ता की अभिव्याप्ति हो जाना और उस विचार तथा प्रेरणा से सब देवत्वों का व्यापार होने लगना जिससे कि हमारी सत्ता के अंग-अंग में दिव्य सुख और अमरता का सृजन हो जावे।

सूक्त समाप्त इस प्रकार होता है, 'मैं अग्नि के प्रति शब्द को बोल सकूं, जो अग्नि विशुद्ध रूप में चमक रहा है, जो हवियों का पुरोहित (होता) है, जो यज्ञ में सब से बड़ा है, जो सब कुछ हमारे पास लानेवाला है, वह दोनों को हमारे लिये निचोड़ देवे, प्रकाश की गौओं के पवित्र ऊधस् को और आनन्द के पौदे (सोम) के पवित्रीकृत भोजन को जो कि सर्वत्र परिषिक्त हुआ-हुआ है[3]। १९।

---

[1]नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौरुद् देव्या उषसो भानुरर्त।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्॥ (ऋ.४.१.१७)

[2]आदित् पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद् रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु॥ (ऋ.४.१.१८)

[3]अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः॥ (ऋ.४.१.१९)

वह यज्ञ के सब अधिपतियों की (देवों की) असीम सत्ता (अदिति) है और सब मनुष्यों का अतिथि है, (हम चाहते हैं कि) अग्नि जो अपने अन्दर देवों की वृद्धिशील अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है, जन्मों को जाननेवाला है, सुख का देनेवाला होवे'। २०।'

चतुर्थ मण्डल के दूसरे सूक्त में हम बहुत ही स्पष्ट तौर पर और अर्थसूचक रूप में मानव ऋषियों की समरूपता को पाते हैं जो ऋषि कि दिव्य अंगिरस हैं तथा मानवीय पितर हैं। उस संदर्भ से पहले, ४-२-११ से १४ तक ये चार ऋचाएं आती हैं जिनमें कि सत्य तथा दिव्य सुख की अन्वेषणा का वर्णन है। 'जो ज्ञाता है वह ज्ञान तथा अज्ञान का, विस्तृत पृष्ठों का तथा कुटिल पृष्ठों का जो मर्त्यों को अन्दर बन्द करते हैं, पूर्णतया विवेक कर सके, और हे देव, संतान में सुफल होनेवाले सुख के लिये 'दिति' को हमें दे डाल और 'अदिति' की रक्षा कर'। यह ग्यारहवीं ऋचा अपने अर्थ में बड़ी ही अद्भुत है। यहां हम ज्ञान तथा अज्ञान की विरोधिता पाते हैं जो कि वेदान्त में मिलती है, और ज्ञान की समता दिखायी गयी है विशाल खुले पृष्ठों से जिनका कि वेद में बहुधा संकेत आता है, ये वे विशाल पृष्ठ हैं जिनपर कि वे आरोहण करते हैं जो कि यज्ञ में श्रम करते हैं और वे वहां अग्नि को 'आत्मानन्दमय' (स्वजेन्य) रूप में बैठा हुआ पाते हैं (५-७-५), वे हैं विशाल अस्तित्व जिस को कि वह अपने निजी शरीर के लिये रचता है (५-४-६), वे सम-विस्तार हैं, निर्बाध बृहत् हैं।

इसलिये यह देव की असीम सत्ता है जिसे कि हम सत्य के लोक पर पहुंचकर पाते हैं, और यह अदिति माता के त्रिगुणित सात उच्च स्थानों से युक्त है, 'अग्नि' के तीन जन्मों से युक्त है, जो अग्नि असीम के अंदर रहता है अनंते अंत (४ १ ७)। दूसरी तरफ अज्ञान की तद्रूपता दिखायी गयी है कुटिल या विषम

'विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः॥ ४।१।२०

'चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य॥ ४।२।११

पृष्ठों' में जो कि मर्त्यों को अंदर बन्द करते हैं और इसीलिये यह सीमित विभक्त मर्त्य सत्ता है। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि यह अज्ञान ही अगले मन्त्रार्ध का दिति है, दितिं च रास्व अदितिम् उरुष्य, और ज्ञान है अदिति। 'दिति' का, जिसे कि 'दानु' भी कहा गया है, अर्थ है विभाग और बाधक शक्तियां या 'वृत्र' हैं उसकी सतानें जिन्हें कि दानव, दानवा', दैत्या' कहा गया है जब कि अदिति है वह सत्ता जो अपनी असीमता में रहती है और देवों की माता है। ऋषि एक ऐसे सुख की कामना कर रहा है जो कि सतान में सुफल हो, अर्थात् दिव्य कार्यों और उनके फलों में; और यह सुख प्राप्त किया जाता है एक तो इस प्रकार कि उन सब ऐश्वर्यों को जीता जाय जिन्हें कि हमारी विभक्त मर्त्य सत्ता ने अपने अंदर रखा हुआ है पर 'वृत्र' तथा 'पणियों' ने जिन्हें हमसे छीन लिया है, और दूसरे इस प्रकार कि इन्हें असीम दिव्य सत्ता में धारित किया जाय। उन ऐश्वर्यों के धारण को हमें अपनी मानवीय सत्ता की सामान्य प्रवृत्ति से, 'दनु' या 'दिति' के पुत्रों की अधीनता से बचाना होगा, रक्षित रखना होगा। यह विचार स्पष्ट ही ईश उपनिषद् के उस विचार से मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि ज्ञान (विद्या) और अज्ञान (अविद्या), एकता और बहुरूपता ये दोनों एक ब्रह्म में निहित हैं और इनका इस प्रकार धारण करना अमरता की प्राप्ति की शर्त है।[2]

इसके बाद हम सात दिव्य द्रष्टाओं पर आते हैं। "अपराजित द्रष्टाओं ने द्रष्टा को (देव को, अग्नि को) कहा, उसे अंदर मानव सत्ता के घरों में धारण करते हुए, यहांसे (इस शरीरधारी मानव सत्ता से) हे अग्ने! कर्म द्वारा अभीप्सा

---

[1]'वृजिना' का अर्थ है कुटिल, और यह वेद में अनृत की कुटिलता को सूचित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि सत्य की सरलता (ऋजुता) से विपरीत है, पर यहां कवि स्पष्ट ही अपने मन के अन्दर 'वृज्' के धात्वर्थ को रखे हुए है, अर्थात् पृथक् करना, पर्दा डालकर विभक्त करना और इससे बने विशेषण-शब्द 'वृजिन' का यही स्वाभाविक अर्थ है जो 'मर्तान्' को विशेषित करता है।

[2]विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ईश. ११

करता हुआ (अर्यः), तू अपनी उन्नतिशील गतियों से उन्हें देख सके जिनसे कि तुझे दर्शन (Vision) प्राप्त करना चाहिये, जो कि सबमें अतिक्रान्त, अद्‌भुत हैं, (देव के देवत्व हैं)।"

कविं शशासुः कवयोऽदब्धाः, निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।

अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्‌भुताँ अर्य एवैः ॥(४.२.१२)

अब यह पुनः देवत्व के दर्शन (Vision) की यात्रा है। "तू, हे अग्ने! सर्वाधिक युवा शक्तिवाले! उसके लिये जो कि शब्द का गान करता है और सोम की हवि देता है और यज्ञ का आदेश देता है, (उस यात्रा में) पूर्ण पथ-प्रदर्शक है; उस आरोचमान के लिये जो कि कर्म को पूर्ण करता है, तू सुख को ला, जो सुख उसके आगे बढ़ने के लिये बृहत् आनंद से युक्त हो, कर्म के कर्त्ता को (या, मनुष्य को, चर्षणिप्राः) तुष्टि देनेवाला हो।[1] अब, ओ अग्ने! उस सबको जिसे कि हमने अपने हाथों से और अपने पैरों से और अपने शरीरों से रचा है, सच्चे विचारक (अंगिरस्) इस रूप में कर देते हैं, मानो कि, यह तेरा रथ है, जो कि दो भुजाओं के (द्यौ और पृथिवी के, भुरिजोः) व्यापार द्वारा बना है; सत्य को अधिगत करना चाहते हुए उन्होंने इसके प्रति अपने मार्ग को बना लिया है, (या इस सत्य पर बल प्राप्त किया है) ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः ॥१४॥[2] अब उषा माता के सात द्रष्टा, (यज्ञ के) सर्वोत्कृष्ट विनियोक्ता, हम पैदा हो जाय, जो अपने-आपमें देव हैं; हम अंगिरस्, द्यौ के पुत्र, बन जाय, पवित्र रूप में चमकते हुए धन-दौलत से भरपूर पहाड़ी को तोड़ डालें।[3]॥१५॥" यहां हम बहुत ही स्पष्ट रूप में सात दिव्य द्रष्टाओं को इस रूप में पाते हैं कि वे विश्व-यज्ञ के सर्वोत्तम

---

[1] त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधते यविष्ठ।
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथुश्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः ॥(४.२.१३)

[2] अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥ (४.२.१४)

[3] अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥ (४.२.१५)

विधायक है और इस विचार को पाते हैं कि मनुष्य ये सात द्रष्टा "बन जाता है", अर्थात् वह उन द्रष्टाओं को अपने अंदर रचता है और स्वयं उनके रूप में परिणत हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह द्यौ और पृथिवी तथा अन्य देव बन जाता है, अथवा जैसा कि इसे दूसरे रूप में यों प्रतिपादित किया गया है कि, वह अपनी स्वकीय सत्ता में दिव्य जन्मों को पैदा कर लेता है, रच लेता है या निर्मित कर लेता है, (जन, कृ, तन्)।

आगे इस रूप में मानवीय पितरों का उदाहरण दिया गया है कि उन्होंने इस महान् "बन जाने" के और इस महाप्राप्ति व महाकार्य के आदिम आदर्श (नमूने) को उपस्थित किया है। "जब भी, हे अग्ने !, जैसे कि हमारे उत्कृष्ट पूर्व पितरों ने, सत्य को अधिगत करना चाहते हुए, शब्द का अभिव्यक्त करते हुए, पवित्रता और प्रकाश की ओर यात्रा की थी, उन्होंने पृथिवी को (भौतिक सत्ता को) तोड़कर उनको जो कि अरुण थी (उषाओं को, गौओं को) खोल दिया।१६।[1] पूर्ण कर्मोंवाले तथा पूर्ण प्रकाशवाले, दिव्यताओं को पाना चाहते हुए, वे देव, जन्मों को लोहे के समान घड़ते हुए (या दिव्य जन्मों को लोहे के समान घड़ते हुए), 'अग्नि' का एक विशुद्ध ज्वाला बनाते हुए 'इन्द्र' को बढ़ाते हुए, वे प्रकाश के विस्तार को (गौओं के विस्तार को, गव्यम् ऊर्वम्) पहुंच गये और उन्होंने उसे पा लिया।१७।[2] जो कि अंदर देवों के जन्म हैं वे दर्शन (Vision) में अभिव्यक्त हो गये, मानो ऐश्वर्यों के खेत में गौओं के झुण्ड हो, ओ शक्तिशालिन्, (उन देवों ने दोनों कार्य किये) मर्त्यों के विशाल सुखभोगों को (या उनकी इच्छाओं को) पूर्ण किया और उच्चतर सत्ता की वृद्धि के लिए भी अभीप्सु के तौर पर कार्य किया"

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्र।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्, वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ (ऋ ४ २ १८)

---

[1] अधा यथा न पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ (४.२.१६)

[2] सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन्॥(ऋ. ४.२.१७)

स्पष्ट ही यह इस द्विविध विचार की पुनरुक्ति है, जो कि दूसरे शब्दो में रख दी गयी है, कि दिति के ऐश्वर्यों को धारण करना, तो भी अदिति को सुरक्षित रखना। "हमने तेरे लिये कर्म किया है, हम कर्मों म पूर्ण हो गये है, खुली चमकती हुई उपाओ ने सत्य म अपना घर कर लिया है, (या सत्य के चोगे मे अपने आपको आच्छादित कर लिया है), अग्नि की परिपूर्णता म और उसके बहुगुणित आनद म, अपनी सपूर्ण चमक से युक्त जो देव की चमकती हुई आग है, उसमे (उन्होंने अपना घर बना लिया है)* ।१९।"

४ ३ ११ ऋचा में फिर अगिरसो का उल्लेख आया है, और जो वर्णन इस ऋचा तक हम ले जाते है उनमसे कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योकि इस बात को जितना दोहराया जाय उतना थोडा है कि वेद की कोई भी ऋचा तबतक भली प्रकार नही समझी जा सकती जबतक कि इसका प्रकरण न मालूम हो, सूक्त के विचार म उसका क्या स्थान है यह न मालूम हो, उसके पहले और पीछे जो कुछ वर्णन आता है वह सब न मालूम हो। सूक्त इस प्रकार प्रारभ होता है कि मनुष्यो को पुकारकर कहा गया है कि वे उस 'अग्नि' को रचे जो कि सत्य मे यत्न करता है, उसे उसके सुनहरी प्रकाश के रूप मे रचे, (हिरण्यरूपम्, हिरण्य सर्वत्र सत्य के गौर प्रकाश, ऋत ज्योति, के लिये प्रतीक के तौर पर आया है) इससे पहले कि अज्ञान अपने-आपको रच सके, पुरा तनयित्नोरचित्तात् (४-३-१)। इस अग्निदेव को कहा गया है कि वह मनुष्य के कर्म के प्रति और इसके अदर जो सत्य है उसके प्रति जागृत हो क्योकि वह स्वय 'ऋतचित' है सत्य-चेतनामय है विचार को यथार्थ रूप मे धारण करनेवाला है ऋतस्य बोधि ऋतचित् स्वाधी (४-३-४)—क्योकि सारा अनृत केवल सत्य का एक अयथार्थ धारण ही है। उसे मनुष्य के अदर के सब दोष और पाप और न्यूनताओ को विभिन्न देवत्वो या परम देव की दिव्य शक्तियो को सौंपना होता है जिससे कि उन्हे दूर किया जा सके ताकि अतत मनुष्य को असीम माता के सम्मुख निर्दोष घोषित किया जा सके—

---

*अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभाती ।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षु ॥ (ऋ ४ २ १९)

अदितये अनागस, अथवा 'असीम सत्ता' के लिये, जैसा कि इसे अन्यत्र प्रकट किया गया है।

इसके बाद नौवीं तथा दसवीं ऋचा में हम, अनेकविध सूक्तों में प्रकट किये गये, संयुक्त मानवीय तथा दिव्य सत्ता के, 'दिति' और 'अदिति' के विचार को पाते हैं जिनमेंसे पिछली अर्थात् अदिति अपने साथ पहली अर्थात् दिति को स्थित करती है, नियन्त्रित करती है और अपने प्रवाह से आपूरित करती है। 'सत्य जो कि सत्य से नियमित है, उसे मैं चाहता हूं (अभिप्राय है, मानवीय सत्य जो कि दिव्य सत्य से नियमित है), गौ की अपक्व वस्तुएं और उसकी परिपक्व तथा मधुमय देन (पुनः, अभिप्राय यह होता है कि अपूर्ण मानवीय फल तथा विराट् चेतना व सत्ता के पूर्ण और आनन्दमय दिव्य फल) एक साथ हों, वह (गौ) काली (अंधेरी और विभक्त सत्ता दिति) होती हुई आधार के चमकीले जल द्वारा, सहचरी धाराओं के जल द्वारा (जामर्येण पयसा) पालित होती है।९[1]। सत्य के द्वारा 'अग्नि' वृषभ, नर, अपने पृष्ठों के जल से सिक्त हुआ-हुआ, न कांपता हुआ, विस्तार को (विशाल स्थान या अभिव्यक्ति को) स्थापित करता हुआ विचरता है, चितकबरा बैल विशुद्ध चमकीले स्तन को दुहता है।१०[2]।' इस एक की जो कि स्रोत है आसन-स्थान है, आधार है, चमकीली सुफेद पवित्रता और त्रिविध लोक में अभिव्यक्त हुए जीवन की चितकबरी रंगत–इन दोनों के बीच प्रतीकरूप में विरोधवर्णन वेद में जगह-जगह आता है, इसलिये चितकबरे बैल का और विशुद्ध चमकीले ऊधस या जलों के स्रोत का यह अलंकार, अन्य अलंकारों की तरह, केवल मानवीय जीवन के बहुरूप अनेकविध अभिव्यक्तीकरण के विचार को ही दोहराता है,–मानवीय जीवन के जो कि पवित्र, अपनी क्रियाओं में शान्ति-युक्त एवं सत्य और असीमता के जलों से परिपुष्ट है।

---

[1]ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥ (ऋ. ४।३।९)

[2]ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः॥ (ऋ. ४.३.१०)

अन में ऋषि प्रकाशमय गौओं और जलों का इकट्ठा जोड़कर वर्णन (जैसा वर्णन वेद में बार-बार और जगह-जगह हुआ है) करने लगता है, "सत्य के द्वारा अंगिरसों ने पहाड़ी को तोड़कर खोल दिया और उछालकर अलग फेंक दिया और गौओं के साथ वे सयुक्त हो गये, उन मानवीय आत्माओं ने सुखमयी उषा में अपना निवास बनाया, 'स्व' अभिव्यक्त हो गया जब कि अग्नि पैदा हुआ।११[1]। सत्य के द्वारा दिव्य अमर जल, जो कि मृदित नहीं थे, अपनी मधुमय बाढ से युक्त, हे अग्ने, एक शाश्वत प्रवाह में प्रवाहित हो पड़े, जैसे कि अपनी सरपट चाल में तेजी से दौड़ता हुआ घोड़ा[2]।१२।" ये चार (९ १० ११ १२) ऋचाएं वास्तव में अमरता-प्राप्ति के महाकार्य की प्रारंभिक शर्तों को बताने के लिये अभिप्रेत हैं। ये महान् गाथा के प्रतीक हैं, रहस्यवादियों की उस गाथा के जिसके अंदर उन्होंने अपने अ.तुच्च आध्यात्मिक अनुभव को अधार्मिकों से छिपाकर रखा था, पर जो, खेद से कहना पड़ता है, उनकी सतति से भी काफी अच्छी तरह से छिपा रहा। ये रहस्यमय प्रतीक थे, अलकार थे, जिनसे कि उस सत्य को व्यक्त करना अभिप्रेत था जिसकी उन्होंने अन्य सबसे रक्षा की थी और केवल दीक्षित को, ज्ञानी को, द्रष्टा को देना चाहते थे, इस बात को वामदेव स्वय इसी सूक्त की अन्तिम ऋचा म अत्यधिक सरल और जोरदार भाषा में हमें कहता ह—"ये सब रहस्यमय शब्द हैं जिनको कि मैंने तेरे प्रति उच्चारण किया है, जो तू ज्ञानी है हे अग्ने ! ह विनियोजक ! जो आगे ले जानेवाले शब्द हैं, द्रष्टा-ज्ञानके शब्द हैं जो कि द्रष्टा के लिये अपने अभिप्राय को प्रकट करते हैं,—मैंने उन्हे अपने शब्दों और अपने विचारों म प्रकाशित होकर बोला है।'

एता विश्वा विदुषे तुभ्य वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि ।
निवचना कवये काव्यान्यशंसिष मतिभि विप्र उक्थैः ॥ (ऋ ४ ३ १६)

---

[1] ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्त समङ्गिरसो नवन्त गोभि ।
शुन नर परि षदन्नुषासमावि स्वरभवज्जाते अग्नौ ॥ (ऋ. ४.३.११)

[2] ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने ।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभान प्र सदमित् स्रवितवे दधन्यु ॥ (ऋ. ४.३.१२)

ये रहस्यमय शब्द हैं, जिन्होंने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अंदर रखा हुआ है, जो रहस्यार्थ पुरोहित, कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पंडित, ऐतिहासिक, गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है, जिनके लिये कि वे शब्द अन्धकार के शब्द सिद्ध हुए हैं या अस्तव्यस्तता की मुहरें साबित हुई हैं, न कि वैसे जैसे कि वे महान् प्राचीन पूर्वपितरों और उनकी प्रकाशपूर्ण सन्तति के लिये थे, निण्या वचांसि नीथानि निवचना काव्यानि (अर्थात् रहस्यमय शब्द जो कि आगे ले जानेवाले हैं, अपने अभिप्राय को प्रकट कर देनेवाले, द्रष्टा-ज्ञान से युक्त शब्द)।

इक्कीसवां अध्याय

देवशुनी सरमा

अब भी अंगिरसों के कथानक के दो स्थिरभूत अंग अवशिष्ट हैं जिनके कि सम्बन्ध में हमें थोडा और अधिक प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता है, जिससे कि हम सत्य के, और प्राचीन पितरों के द्वारा उषा की ज्योतियों की पुन-प्राप्ति के इस वैदिक विचार को पूर्णतया प्रवीणतापूर्वक समझ सकें, अर्थात् हमें सरमा के स्वरूप को और पणियों के ठीक-ठीक व्यापार को नियत करना है, जो दो वैदिक व्याख्या की ऐसी समस्याएं हैं जो कि घनिष्ठता के साथ परस्पर-सम्बद्ध हैं। यह कि सरमा प्रकाश की और सभवत उषा की कोई शक्ति है बहुत ही स्पष्ट है, क्योंकि एक बार जब हम यह जान लेते हैं कि वह सघर्ष जिसमें इन्द्र तथा आदिम आर्य-ऋषि एक तरफ थे और 'गुफा' के पुत्र दूसरी तरफ थे कोई आदिकालीन भारतीय इतिहास का अनोखा विकृत-रूप नहीं है बल्कि यह प्रकाश और अधकार की शक्तियों के बीच होनेवाला एक आलकारिक युद्ध है, तो सरमा जो कि जगमगानेवाली गौओं की खोज में आगे-आगे जाती है और मार्ग तथा पर्वत का गुप्त दुर्ग इन दोनों को खोज लेती है अवश्यमेव मानवीय मन के अन्दर सत्य की उषा की अग्रदूती होनी चाहिये। और यदि हम अपने-आपसे पूछें कि सत्यान्वेषिणी कार्यशक्तियों में से वह कौनसी शक्ति है जो कि इस प्रकार हमारी सत्ता में अज्ञान के अन्धकार में छिपे पड़े हुए सत्य को वहां से खोज लाती है तो तुरन्त हम अन्तर्ज्ञान (Intuition) का स्मरण आयेगा। क्योंकि 'सरमा' सरस्वती नहीं है वह अन्तःप्रेरणा (Inspiration) नहीं है, यद्यपि ये दोनों नाम है सजातीय से। सरस्वती देती है ज्ञान के पूर्ण प्रवाह को, वह महती धारा, महो अर्ण है या महती धारा को जगानेवाली है और वह प्रचुरता के साथ सब विचारों को प्रकाशित कर देती है 'विश्वा धियो विराजति।' 'सरस्वती' सत्य के प्रवाह से युक्त है और स्वयं सत्य का

प्रवाह है, 'सरमा' है सत्य के मार्ग पर यात्रा करनेवाली और इसे खोजनेवाली, जो कि स्वयं उससे युक्त नहीं है बल्कि जो खोया हुआ है उसे ढूंढकर पानेवाली है। नाही वह 'इळा' देवी के समान, स्वतःप्रकाश ज्ञान (Revelation) की सम्पूर्ण वाणी, मनुष्य की शिक्षिका है, क्योंकि जिसे वह खोजना चाहती है उसका पता पा लेने के बाद भी वह उसे अधिगत नहीं कर लेती, बल्कि सिर्फ यह खबर ऋषियों को तथा उनके दिव्य सहायकों को पहुंचा देती है, जिन्ह कि उस प्रकाश को जिसका कि पता लग गया है अधिगत करने के लिये फिर भी युद्ध करना पड़ता है।

तो भी हम देखते हैं कि वेद स्वयं सरमा के बारे में क्या कहता है ? सूक्त १-१०४ में एक ऋचा (५वीं) है जिसमें कि सरमा के नाम का उल्लेख नहीं है, नाही वह सूक्त स्वयं अंगिरसों या पणियों के विषय में है, तो भी वह पंक्ति ठीक उसी बात का वर्णन कर रही है जो कि वेद में सरमा का कार्य बताया गया है— "जब कि यह पथप्रदर्शक प्रत्यक्ष हो गया, वह, जानती हुई, उस सदन की तरफ गयी जो कि मानो 'दस्यु' का घर था।"

प्रति यत् स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं जानती गात्।

सरमा के ये दो स्वरूप हैं (१) ज्ञान उसे प्रथम ही, दर्शन से पहिले हो जाता है, न्यूनतम संकेतमात्र पर सहज रूप से वह उसे उद्भासित हो जाता है, तथा (२) उस ज्ञान से वह यात्री की कार्यशक्तियों का और दिव्य शक्तियों का जो कि उस ज्ञान को खोजने में लगी होती हैं पथप्रदर्शन करती है। और वह उस स्थान 'सदनम्' को, विनाशकों के घर को ले जाती है जो कि सत्य के स्थान, 'सदनम् ऋतस्य', की अपेक्षा सत्ता के दूसरे ध्रुव (Pole) पर है जो अन्धकार की गुफा या गुह्यस्थान में—गुहायाम्—है, ठीक वैसे ही जैसे कि देवों का घर प्रकाश की गुफा या गुह्यता में है। दूसरे शब्दों में, वह एक शक्ति है जो कि पराचेतन सत्य (Superconscient Truth) से अवतीर्ण होकर आयी है, जो कि हमें उस प्रकाश तक ले जाती है जो हमारे अन्दर अवचेतन (Subconscient) में छिपा पड़ा है। ये सब विशेषगुण अन्तर्ज्ञान (Intuition) पर बिल्कुल घटते हैं।

सरमा नाम लेकर वेद के बहुत थोड़े सूक्तों में उल्लिखित हुई है और वह नियत रूप से अंगिरसों के महाकार्य के या सत्ता के सर्वोच्च स्तरों की विजय के साथ सम्बद्ध होकर आयी है। इन सूक्तों में सबसे अधिक आवश्यक सूक्त है अत्रियों का सूक्त ५-४५, जिसके विषय में हम नवग्वा तथा दशग्वा अंगिरसों की अपनी परीक्षा के प्रसंग में पहले भी ध्यान दे चुके हैं। प्रथम तीन ऋचाएं उस महाकार्य को संक्षेप में वर्णित करती हैं—"शब्दों के द्वारा द्यौ की पहाड़ी का भेदन करके उसने उन्हें पा लिया, हां, आती हुई उषा की चमकीली (ज्योतियां) खुलकर फैल गयीं, उसने उन्हें खोल दिया जो कि बाड़े के अन्दर थीं, स्व: ऊपर उठ गया, एक देव ने मानवीय द्वारों को खोल दिया'[1] ॥१॥ सूर्य ने बल और शोभा को प्रचुर रूप में पा लिया, गौओं की माता (उषा) जानती हुई विस्तीर्णता (के स्थान) से आयी, नदियां तीव्र प्रवाह हो गयीं, वे प्रवाह जिन्होंने कि (अपनी प्रणाली को) काटकर बना लिया, द्यौ एक सुघड़ स्तम्भ के समान दृढ़ हो गया[2] ॥२॥ इस शब्द के प्रति गर्भिणी पहाड़ी के गर्भ महतियों के (नदियों के या अपेक्षाकृत कम संभव है कि उषाओं के) उच्च जन्म के लिये (बाहर निकल पड़े)। पहाड़ी पृथक्-पृथक् विभक्त हो गयी, द्यौ पूर्ण हो गया (या उसने अपने-आपको सिद्ध कर लिया), वे (पृथिवी पर) बस गये और उन्होंने विशालता को बांट दिया[3] ॥३॥' ये इन्द्र तथा अंगिरस् हैं जिनके संबंध में ऋषि कह रहा है, जैसा कि बाकी सारा सूक्त दर्शाता है और जैसा कि वस्तुत: ही प्रयोग किये गये मुहावरों से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि ये आंगिरस गाथा में आम तौर से प्रयुक्त होनेवाले सूत्र हैं और ये ठीक उन्हीं मुहावरों को दोहरा

---

[1]विदा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गुः।
अपावृत व्रजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आव ॥ ५.४५.१ ॥

[2]वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात्।
धन्वर्णसो नद्यः खादोअर्णा स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौः ॥ ५.४५.२ ॥

[3]अस्मा उक्थाय पर्वतस्य गर्भो महीनां जनुषे पूर्व्याय।
वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम ॥ ५.४५.३ ॥

रहे हैं, जो मुहावरे उन सूक्तों में सतत रूप से प्रयुक्त हुए हैं जो कि उषा, गौओं और सूर्य की मुक्ति के सूक्त हैं।

इनका अभिप्राय क्या है, यह हम पहले से ही जानते हैं। हमारी पहले से बनी हुई त्रिगुण (मन प्राणशरीरात्मक) सत्ता की पहाड़ी, जो कि अपने शिखरों से आकाश (द्यौ) में उठी हुई है, इन्द्र द्वारा विदीर्ण कर दी जाती है और उसमें छिपी हुई ज्योतियां खुली फैल जाती हैं; 'स्व', पराचेतना का उच्चतर लोक, चमकीली गौओं (ज्योतियों) के ऊर्ध्वमुख प्रवाह के द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। सत्य का सूर्य अपने प्रकाश की संपूर्ण शक्ति और शोभा को प्रसृत कर देता है, आन्तरिक उषा ज्ञान से भरी हुई प्रकाशमान विस्तीर्णता से उदित होती है,—'जानती गात्' यह वही वाक्यांश है जो कि, १.१०४.५ में उसके लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि 'दस्यु' के घर को ले जाती है, और ३.३१.६ में सरमा के लिये,—सत्य की नदियां जो कि इसकी सत्ता तथा इसकी गति के बहि:प्रवाह (ऋतस्य प्रेषा) को सूचित करती हैं अपनी द्रुत धाराओं में नीचे उतरती हैं और अपने जलों के लिये यहां एक प्रणाली का निर्माण करती हैं, द्यौ, मानसिक सत्ता, पूर्ण बन जाती है और एक सुघड़ स्तम्भ की न्याईं सुदृढ़ हो जाती है जिससे कि वह उस उच्चतर या अमर जीवन के बृहत् सत्य को थाम सके जो कि अब अभिव्यक्त कर दिया गया है और उस सत्य की विशालता यहां सारी भौतिक सत्ता के अंदर बस गयी है। पहाड़ी के गर्भों, 'पर्वतस्य गर्भः' का जन्म, उन ज्योतियों का जन्म जो कि सात-सिरोंवाले विचार, 'ऋतस्य धीति' को निर्मित करती हैं और जो कि अन्तःप्रेरित शब्द के प्रत्युत्तर में निकलती हैं, उन सात महान् नदियों के उच्च जन्म को प्राप्त कराता है जो नदियां क्रियाशील गति में वर्तमान सत्य के सारतत्त्व, 'ऋतस्य प्रेषा' को निर्मित करती हैं।

फिर इन्द्र और अग्नि का आवाहन करके 'पूर्ण वाणी के उन शब्दों द्वारा जो कि देवों को प्रिय हैं'—क्योंकि इन्हीं शब्दों द्वारा मरुत्* यज्ञों को करते हैं, उन द्रष्टाओं के रूप में जो कि अपने द्रष्टृ-ज्ञान द्वारा यज्ञिय कर्म को सुचारु रूप से करते हैं

*जीवन की विचार-साधक शक्तियां, जैसा कि आगे चलकर प्रकट हो जायगा।

(इत्थाभिर्हि ष्मा वचय सुक्ता मनो यजन्ति ।४।)—ऋषि इसके बाद मनुष्यों के मुख से एक उद्बोधन और पारस्परिक प्रोत्साहन के वचन कहलाता है कि वे भी क्यों न पितरों के समान कार्य करें और उन्हीं दिव्य फलों को प्राप्त कर लें। 'अब आ जाओ, आज हम विचार में पूर्ण हो जायं, कष्ट और असुविधा को नष्ट कर डालें, उच्चतर सुख अपनायें',

एतो न्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः ।

'सब प्रतिकूल वस्तुओं का (उन सब वस्तुओं को जो कि आक्रमण करती और विभक्त कर देती हैं, द्वेषांसि) अपनेसे सदा बहुत दूर रखें, हम यज्ञ के पति की तरफ आगे बढ़ें ॥५॥[1] आओ, मित्रो, हम विचार को रचें (स्पष्ट ही जो कि सात-सिरोंवाला अंगिरसों का विचार है), जो कि माता (अदिति या उषा) है और जो कि गौ के आवरण करनेवाले बाड़े को हटा देता है[2]।' अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट है, यह ऐसे ही संदर्भों में होता है जैसे कि ये हैं कि वेद का आन्तरिक आशय अपने-आपको प्रतीक के आवरण से आधा मुक्त कर लेता है।

इसके बाद ऋषि उस महान् और प्राचीन उदाहरण का उल्लेख करता है जिसके लिये मनुष्यों को पुकारा गया है कि वे उसे दोहरायें, वह है अंगिरसों का उदाहरण, सरमा का महापराक्रमकार्य। "यहां पत्थर गतिमय किया गया, जिसके द्वारा नवग्वा दस महीनों तक मंत्र का गान करते रहे, सरमा ने सत्य के पास जाकर गौओं को पा लिया, अंगिरसों ने सब वस्तुओं को सत्य कर दिया[3] ॥७॥ जब कि इस एक महती (उषा जो कि असीम अदिति को सूचित करती है, माता गवामदिते-रनीकम्) के उदय में सब अंगिरस् गौओं के साथ (अथवा इसकी अपेक्षा शायद यह ठीक हो कि 'प्रकाशों के द्वारा', जो प्रकाश कि गौओं या किरणों के प्रतीक से सूचित होते हैं) मिलकर इकट्ठे हो गये, इन (प्रकाशों) का स्रोत उच्च लोक में

---

[1]आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम, अयाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥५॥

[2]एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः ॥६॥

[3]अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वाः ।
ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ॥ ५.४५.७ ॥

था, सत्य के मार्ग द्वारा सरमा ने गौओं को पा लिया* ॥८॥" यहां हम देखते हैं कि सरमा की गति द्वारा, जो सरमा सत्य के मार्ग द्वारा सीधी सत्य को पहुंच जाती है, यह हुआ है कि सात ऋषि, जो कि अयास्य और बृहस्पति के सात-सिरोंवाले या सात-गौओंवाले विचार के द्योतक हैं, सब छिपे हुए प्रकाशों को पा लेते हैं और इन प्रकाशों के बल से वे सब इकट्ठे मिल जाते हैं, जैसा कि हमें पहले ही वसिष्ठ कह चुका है कि, वे समविस्तार में, 'समाने ऊर्वे' इकट्ठे होते हैं, जहांसे कि उषा ज्ञान के साथ उतरकर आयी है, (अर्वाद् जानती गात्, ऋचा २) या जैसा कि यहां इस रूप में प्रकट किया गया है कि, इस एक महती के उदय में अर्थात् 'असीम चेतना' में। वहां, जैसा कि वसिष्ठ कहता है, वे संयुक्त हुए-हुए ज्ञान में सम्मत हो जाते हैं (इकट्ठे जानते हैं) और परस्पर प्रयत्न नहीं करते, 'सगतास सजानत न यतन्ते मियस्ते', अभिप्राय यह है कि वे मानो एक हो जाते हैं, जैसा कि एक दूसरी ऋचा में सूचित किया गया है; वे सात-मुखोंवाला एक अगिरस् हो जाते हैं—यह ऐसा रूपक है जो कि सात सिरोंवाले विचार के रूपक के अनुसारी है—और यही अकेला संयुक्त अगिरस् है जो कि सरमा की खोज के परिणामस्वरूप सब वस्तुओं को सत्य कर देता है (ऋचा ७)। समस्वर हुआ-हुआ, संयुक्त, पूर्ण हुआ-हुआ द्रष्टा-संकल्प सब मिथ्यात्व और कुटिलता को दूर कर देता है, और सब विचार जीवन, क्रिया को सत्य के नियमों में परिणत कर देता है। इस सूक्त में भी सरमा का कार्य ठीक वही है जो कि अन्तर्ज्ञान (Intuition) का होता है, जो कि सीधा सत्य पर पहुंचता है, सत्य के सरल मार्ग द्वारा न कि संशय और भ्रान्ति के कुटिल मार्गों द्वारा और जो अधकार तथा मिथ्या प्रतीतियों के आवरण के अदर से सत्य को निकालकर मुक्त कर देता है, यह उस (सरमा) से खोजे और पाये गये प्रकाशों द्वारा ही होता है कि द्रष्टा-मन सत्य के पूर्ण स्वत प्रकाश ज्ञान (Revelation) को पाने में समर्थ होता है।

सूक्त का अवशिष्ट-अश वर्णन करता है सात-घोड़ोंवाले सूर्य के अपने उच्चतम

---

*विदद्यं अस्या व्युषि माहिनायाः रा यद् गोभिरङ्गिरसो नवन्त।
उत्स आसा परमे सधस्थ ऋतस्य पथा सरमा विदद् गाः ॥ ५.४५.८॥

की ओर उदय होने का "जो खेत लम्बी यात्रा की समाप्ति पर उसके लिये विशाल होकर फैल जाता है", वेगवान् पक्षी (श्येन) की सोम-प्राप्ति का, और युवा द्रष्टा के द्वारा देदीप्यमान गौओंवाले उस खेत को पा लिये जाने का, सूर्य के "प्रकाशमय समुद्र" पर आरोहण का, "विचारकों द्वारा नीयमान जहाज की तरह" सूर्य के इस समुद्र को पार कर लेने का और अपनी पुकार के प्रत्युत्तर में उस समुद्र के जलों का मनुष्य में अवतरण होने का। उन जलों में अंगिरस् का सप्त-गुणित विचार मनुष्य द्रष्टा द्वारा स्थापित किया गया है। यदि हम यह याद रखें कि सूर्य द्योतक है पराचेतना या सत्यचेतनामय ज्ञान के प्रकाश का और 'प्रकाशमय समुद्र' द्योतक है माता अदिति के अपने त्रिगुणित सात स्थानों के साथ पराचेतन के लोकों का, तो इन प्रतीकात्मक[1] उक्तियों का अभिप्राय समझ लेना मुश्किल नहीं होगा। यह उच्चतम प्राप्ति है उस परम लक्ष्य की जो कि अंगिरसों की पूर्ण कार्यसिद्धि के बाद, सत्य के लोक पर उनके संयुक्त आरोहण के बाद प्राप्त होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह कार्यसिद्धि सरमा के द्वारा गौओं का पता पा लिये जाने के बाद प्राप्त होती है।

एक और सूक्त जो कि इस संबंध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है तृतीय मण्डल का ३१वां सूक्त है, जिसका ऋषि विश्वामित्र है। "अग्नि (दिव्य-शक्ति) पैदा हो गया है, जो कि अरुष (आरोचमान, देव, रुद्र) के महान् पुत्रों के प्रति यज्ञ करने के लिये जो हवि दी गयी है उससे उठती हुई अपनी ज्वाला से कम्पायमान हो रहा है उनका शिशु बड़ा महान् है, एक व्यापक जन्म हुआ है, चमकीले घोड़ों को हांकनेवाले की (इन्द्र की, दिव्य मन की) यज्ञों के द्वारा बड़ी महान् गति हो रही है" ॥३॥[2]

---

[1] यही आशय है जिसमें कि हम सुगमता से वेद की अन्य अनेक अबतक धुंधली दीखनेवाली उक्तियों को समझ सकते हैं, उदाहरणार्थ ८.६८.९ "हम अपने युद्धों में तेरी सहायता से उस महान् दौलत को जीत लेवें जो कि जलों में और सूर्य में रखी है—अप्सु सूर्ये महद् धनम्"।

[2] अग्निर्जज्ञे जुह्वा३ रेजमानो महस्पुत्रौं अरुषस्य प्रयक्षे।
महान् गर्भो मह्या जातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः ॥ ३.३१.३ ॥

निर्जेत्री (उषाएं) स्पर्धा में उनके साथ मगरत हो गयी, वे ज्ञान द्वारा अधकार में से एक महान् प्रकाश को छुडा लाती हैं, जानती हुई उषाएं उनके प्रति उद्गत हो रही है, इन्द्र जगमगाती गौओं का एकमात्र स्वामी बन गया है¹।४। 'उन गौओं को जो कि (पणियों में) दृढ स्थान के अदर थी, विचारक विदीर्ण करके बाहर निकाल लाये, मन के द्वारा सात द्रष्टाओं ने आगे की ओर (या ऊपर उच्च लक्ष्य की ओर) उन्हें गति दी, उन्होंने सत्य के संपूर्ण मार्ग (यात्रा के लक्ष्य-क्षेत्र) को पा लिया, उस (सत्य के परम स्थानो) को जानता हुआ इन्द्र नमन द्वारा उनके अदर प्रविष्ट हो गया।"

वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्रा ।
विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ॥ (ऋ ३ ३१ ५)

यह, जैसा कि सर्वत्र पाते हैं, महान् जन्म, महान् प्रकाश, सत्य ज्ञान की महान् दिव्यगति का वर्णन है, जिसके साथ लक्ष्य-प्राप्ति और देवो तथा द्रष्टाओं (ऋषियो) का ऊपर के उच्च स्तरो में प्रवेश भी वर्णित है। आगे हम इस कार्य म जो सरमा का भाग है उसका उल्लेख पाते है। "जब सरमा ने पहाडी के भग्न स्थान को ढूढकर पा लिया, तब उस इन्द्र ने (या सभव है, उस सरमा ने) महान् तथा उच्च लक्ष्य को सतत बना दिया। वह सुन्दर पैरोवाली सरमा उसे (इन्द्र को) अविनाश्य गौओ (उषा की अवध्य गौओ) के आगे ले गयी, प्रथम जानती हुई वह, उन गौओं के शब्द की तरफ गयी² ॥६॥" यह पुन अन्तर्ज्ञान (Intuition) है जो इस प्रकार पथप्रदर्शन करता है, जानती हुई वह तुरन्त और सबके सामने आ पहुचती है बन्द पडे हुए प्रकाशो के शब्द की ओर—उस स्थान की ओर जहा कि खूब मजबूत बनी हुई और अभेद्य प्रतीत होनेवाली (वीळु दृढ) पहाडी टूटी हुई है और जहा से अन्वेषक उसके अदर घुस सकते है।

¹अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधान महि ज्योतिस्तमसो निरजानन् ।
त जानती प्रत्युदायन्नुषास पतिर्गवामभवदेक इन्द्र ॥ ३ ३१ ४ ॥
²विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रे महि पाथ पूर्व्यं सध्र्यक्क ।
अग्र नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रव प्रथमा जानती गात् ॥ ३ ३१ ६ ॥

सूक्त का शेष भाग अग्नि और इन्द्र के इस पराक्रम-कार्य के वर्णन को जारी रखता है। "वह (इन्द्र) जो कि उन सबमें सबसे अधिक महान् द्रष्टा था, उनसे मित्रता करता हुआ गया, गर्भिणी पहाड़ी ने अपने गर्भों को पूर्ण कर्मों के कर्ता के लिये बाहर की ओर प्रेरित कर दिया; मनुष्यत्व के बल से, युवा (अंगिरसों) के साथ ऐश्वर्यों की समृद्धि को चाहते हुए उसने (इन्द्र ने) उसे अधिगत कर लिया, तब प्रकाश के मन्त्र (अर्क) का गान करता हुआ वह तुरत अंगिरस हो गया[1] ॥७॥ हमारे सामने प्रत्येक सत् वस्तु का रूप और माप होता हुआ, वह सारे जन्मों को जान लेता है, वह शुष्ण का वध कर देता है।[2]" अभिप्राय यह है कि दिव्य मन (इन्द्र) एक ऐसा रूप धारण करता है जो संसार की प्रत्येक सत् वस्तु के अनुरूप होता है और उसके सच्चे दिव्य रूप को तथा अभिप्राय को प्रकट करता है और उस मिथ्या-भ्रान्ति को नष्ट कर देता है जो कि ज्ञान तथा क्रिया को विरूप, विकृत करनेवाली है। "गौओं का अन्वेष्टा, द्यौ के स्थान (पद) का यात्री, मन्त्रों का गान करता हुआ, वह सखा अपने सखाओं को (सच्ची आत्माभिव्यक्ति की) सारी कमियों से मुक्त कर देता है[3] ॥८॥ उस मन के साथ जिसने कि प्रकाश को (गौओं को) खोजा था, वे प्रकाशक शब्दों द्वारा अपने स्थानों पर स्थित हो गये, अमरता की ओर मार्ग बनाते हुए (नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्)। यह है उनका वह विशाल स्थान, वह सत्य, जिसके द्वारा उन्होंने महीनों को (दशग्वाओं के दश मासों को) अधिगत किया था[4] ॥९॥ दर्शन (Vision) में समस्वर हुए (या पूर्णतया देखते हुए) वे अपने स्वकीय (घर, स्व) में आनन्दित

---

[1]अगच्छदु विप्रतमः सखीयन्नसूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः।
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन् ॥ ३.३१.७ ॥

[2]सतः सतः प्रतिमानं पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्।

[3]प्र णो दिवः पदवीर्गव्युरर्चन् सखा सखीँरमुञ्चन्निरवद्यात् ॥ ३.३१.८ ॥

[4]नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
इदं चिन्नु सदनं भूर्येषां येन मासाँ असिषासन्नृतेन ॥ ३.३१.९ ॥

हुए, (वस्तुओं के) पुरातन बीज के दूध को दुहते हुए। उनके (शब्द की) आवाज ने सारे द्यावापृथिवी को तपा दिया (अभिप्राय है तपती हुई निर्मलता को, 'घर्म, तप्तं घृतं', रच दिया, जो कि सूर्य की गौओं की देन है); उसमें जो कि पैदा हो गया था, उन्होंने उसे रखा जो दृढस्थित था और गौओं में वीरों को (अभिप्राय है कि युद्ध शक्ति ज्ञान के प्रकाश के अन्दर रखी गयी)[1] ॥१०॥

"वृत्रहा इन्द्र ने, उनके द्वारा जो कि पैदा हुए थे (यज्ञ के पुत्रों के द्वारा), हवियों के द्वारा, प्रकाश के मन्त्रों द्वारा, चमकीली गौओं को ऊपर की ओर मुक्त कर दिया, विस्तीर्ण और आनन्दमयी गौ (अदिति रूपी गौ, बृहत् तथा सुखमय उच्चतर चेतना) ने उसके लिये मधुर अन्न को, घृत-मिश्रित मधु को लाते हुए, अपने दूध के रूप में उसे प्रदान किया[2] ॥११॥ इस पिता के लिये (द्यौ के लिये) भी उन्होंने विस्तीर्ण तथा चमकीले स्थान को रचा, पूर्ण कर्मों के करनेवाले उन्होंने इसका सम्पूर्ण दर्शन (Vision) पा लिया। अपने अवलम्बन से मातापिताओं (पृथिवी और द्यौ) को खुला सहारा देते हुए वे उस उच्चलोक में स्थित हो गये और इसके सारे आनन्द से सराबोर हो गये[3] ॥१२॥ "जब (पाप और अनृत को) हटाने के लिये महान् विचार पृथिवी तथा द्यौ को व्याप्त करने के अपने कार्य में गुरुदम बढते हुए उसको थामता है, धारण करता है—तब इन्द्र के लिये, जिसमें कि सम तथा निर्दोष वाणियां रहती हैं,

---

[1] संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः।
वि रोदसी अतपद् घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान् ॥३.३१.१०॥

[2] स जातेभिर्वृत्रहा सेदु हव्यैरुदुस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कैः।
उरूच्यस्मै घृतवद् भरन्ती मधु स्वाद्म दुदुहे जेन्या गौः ॥३.३१.११॥

[3] पित्रे चिच्चक्रुः सदनं समस्मै महि त्विषीमत् सुकृतो वि हि ख्यन्।
विष्कभ्नन्तः स्कम्भनेना जनित्री आसीना ऊर्ध्वं रभसं वि मिन्वन् ॥३.३१.१२॥

[4] मही यदि धिषणा शिश्नथे धात् सद्योवृधं विभ्वं रोदस्योः।
गिरो यस्मिन्ननवद्याः समीचीर्विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ताः ॥३.३१.१३॥

सब अपृष्य शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं ॥१३॥ उसने महान्, बहु-रूप और सुखमय खेत को (गौओं के विशाल खेत को, स्व. को) पा लिया है, और उसने एक साथ सारे गतिमय गोव्रज को अपने सखाओं के लिये प्रेरित कर दिया है। इन्द्र ने मानवीय आत्माओं (अंगिरसों) द्वारा देदीप्यमान होकर एक साथ सूर्य को, उषा को, मार्ग को और ज्वाला को पैदा कर दिया है ॥१५॥'[1]

अवशिष्ट ऋचाओं में यही अलंकार जारी है, केवल वर्षा का वह सुप्रसिद्ध रूपक और बीच में आ गया है जो कि इतना अधिक गलत तौर पर समझा जाता रहा है। "प्राचीन पैदा हुए-हुए का मैं नवीन बनाता हूं जिससे कि मैं विजयी हो सकूं। तू अवश्य हमारे अनेक अदिव्य घातकों को हटा दे और स्व को हमारे अधिगत करने के लिये धारण कर ॥१९॥'[2] पवित्र करनेवाली वर्षाएं हमारे सामने (जलों के रूप में) फैल गयी हैं, हम सुख की अवस्था को तू ले जा जो कि उनका परला किनारा है। हे इन्द्र! अपने रथ में बैठकर युद्ध करता हुआ तू शत्रु से हमारी रक्षा कर, शीघ्रातिशीघ्र हमें गौओं का विजेता बना दे ॥२०॥'[3] वृत्र के वधकर्ता, गौओं के स्वामी ने (मनुष्यों को) गौओं का दर्शन करा दिया, अपने चमकते हुए नियमों (या दीप्तियों) के साथ वह उनके अन्दर जा घुसा है जो कि काले हैं (प्रकाश से खाली हैं, जैसे कि पणि), सत्यों का (सत्य की गौओं को) दिखाकर सत्य के द्वारा उसने अपने सारे द्वारों को खोल दिया है[4]

---

[1]महि क्षेत्रं पुरु श्चन्द्रं विविद्वानादित् सखिभ्यश्चरथं समैरत्।
इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम् ॥३.३१.१५॥

[2]तमङ्गिरस्वन्नमसा सपर्यन् नव्यं कृणोमि सन्यसे पुराजाम्।
द्रुहो वि याहि बहुला अदेवीः स्वश्च नो मघवन् त्सातये धाः ॥३.३१.१९॥

[3]मिहः पावकाः प्रतता अभूवन् त्स्वस्ति नः पिपृहि पारमासाम्।
इन्द्र त्वं रथिरः पाहि नो रिषो मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो नः ॥३.३१.२०॥

[4]अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णाँ अरुषैर्धामभिर्गात्।
प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥३.३१.२१॥

अवृणोदप स्वाः ॥२१॥" अभिप्राय यह है कि वह अपने निज लोक, स्वः के द्वारों को खोल देता है, उसके बाद जब कि हमारे अन्धकार के अन्दर उसके प्रवेश द्वारा (अन्तः कृष्णान् गात्) 'मानवीय द्वार' जिन्हें कि पणियों ने बन्द कर रखा था टूटकर खुल पड़ते हैं।

सो यह है वर्णन इस अद्भुत सूक्त का, जिसके कि अधिकांश का मैंने अनुवाद कर दिया है क्योंकि यह वैदिक कविता के रहस्यवादी तथा पूर्णतया आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के स्वरूप को चामत्कारिक रूप से खोलकर सामने रख देता है और ऐसा करते हुए यह उस रूपक के स्वरूप को भी स्पष्टतया प्रकट कर देता है जिसके बीच में सरमा का अलंकार आया है। सरमा के विषय में ऋग्वेद में जो अन्य उल्लेख आते हैं वे इस विचार में कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं जोड़ते। एक संक्षिप्त उल्लेख हम ४-१६-८ में पाते हैं, 'जब तू हे इन्द्र (पुरुहूत) पहाड़ी को विदारण करके उसके अन्दर से जलों को निकाल लाया तब तेरे सामने सरमा आविर्भूत हुई, इसी प्रकार हमारा नेता बनकर अंगिरसों से स्तुति किया जाता हुआ तू बाड़ों को तोड़कर हमारे लिये बहुतसी दौलत को निकाल ला'*। यह अन्तर्ज्ञान (Intuition) है जो कि दिव्य मन के सामने इसके अग्रदूत के रूप में आविर्भूत होता है, जब कि जलों का, सत्य की उन प्रवाहरूप नदियों का प्रादुर्भाव होता है जो कि इस पहाड़ी को तोड़कर निकली हैं जिसमें कि वे वृत्र द्वारा दृढ़ता से बन्द की हुई थीं (ऋचा ७), और यह इस अन्तर्ज्ञान द्वारा ही होता है कि यह देव (दिव्य मन, इन्द्र) हमारा नेता बनता है, इसके लिये कि वह प्रकाश को मुक्त करावे और उस बहुत सी दौलत को अधिगत करावे जो कि पणियों के दुर्गद्वार के पीछे चट्टान के अन्दर छिपी पड़ी है।

सरमा का एक और उल्लेख हम पराशर शाक्त्य के एक सूक्त, ऋ० १.७२ में पाते हैं। यह सूक्त उन सूक्तों में से है जो कि वैदिक कल्पना के आशय को अत्यधिक स्पष्टता के साथ प्रकट कर देते हैं, निःसंदेह पराशर के अन्य बहुत से सूक्तों की ही

---

*अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥४.१६.८॥

भाति, जो पराशर कि बहुत-विग्रह-प्रशंसा-युक्त कवि है और जिसे यह सदा प्रिय है कि रहस्यवादी के पर्दे से एक कोने को ही नहीं किंतु कुछ अधिक को हटाकर वर्णन करे। यह सूक्त छोटा-सा है और मैं इस पूरे का ही अनुवाद करूंगा।

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।

अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ॥(ऋ० १.७२.१)

उसने, अपने अंदर, वस्तुओं के शाश्वत विधाता के द्रष्टा-ज्ञानों को रखा है, अपने हाथ में अनेक शक्तियों को, दिव्य पुरुषों की शक्तियों को, (नर्या पुरूणि) धारण करते हुए; अग्नि अपने साथ सारी अमरताओं को रखता हुआ (दिव्य) ऐश्वर्यों का स्वामी हो जाता है॥ १ ॥

अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः।

श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ॥ २ ॥

सब अमर्त्यों ने, उन्होंने जो कि (अज्ञान द्वारा) सीमित नहीं हैं, इच्छा करते हुए, उसे हमारे अंदर पा लिया, मानो कि (अदिति रूपी गौ का) बछड़ा हो, जो सर्वत्र विद्यमान है, श्रम करते हुए, स्थान की ओर यात्रा करते हुए, विचार को धारण करते हुए उन्होंने परम स्थान में 'अग्नि' की जगमगाती हुई (शोभा) को अधिगत कर लिया॥ २ ॥

. तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान्।

नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः सुजाताः ॥ ३ ॥

हे अग्ने! जब तीन वर्षों (तीन प्रतीकरूप ऋतुओं या काल-विभागों जो कि संभवतः तीन मानसिक लोकों में से गुजरने के काल के अनुसार हैं) तक उन पवित्रों ने तुझ पवित्र की 'घृत' से सेवा की, तब उन्होंने यज्ञिय नामों को धारण किया और सुजात रूपों को (उच्च लोक की ओर) गति दी॥ ३ ॥

आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियासः।

विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् ॥ ४ ॥

वे महान् द्यावापृथिवी का ज्ञान रखते थे और उन रुद्र के पुत्रों, यज्ञ के अधिपतियों ने उन्हें आगे की ओर धारण किया, मर्त्य दर्शन (Vision) के प्रति जाग गया और उसने अग्नि को पा लिया, जो अग्नि परम स्थान में स्थित था॥४॥

सजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्य नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः ॥५॥

पूर्णतया (या समन्वरता के साथ) जानते हुए उन्होंने उसके प्रति घुटने टेक दिये, उन्होंने अपनी पत्नियों (देवों की स्त्रीलिंगी शक्तियों) सहित उस नमस्य को नमस्कार किया, अपने आपको पवित्र करते हुए (या संभव है यह अर्थ हो कि द्यौ और पृथ्वी की सीमाओं को अतिक्रमण करते हुए) उन्होंने अपने निज (अपने असली या दिव्य) रूपों की रचना की, निर्निमेष दृष्टि में रक्षा की, इस प्रकार कि प्रत्येक सखा ने सखा की ॥५॥

त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत्पदाविदन्निहिता यज्ञियासः ।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातॄञ्चरथं च पाहि ॥६॥

तेरे अंदर यज्ञके देवों ने अंदर छिपे हुए त्रिगुणित सात गुह्य स्थानों को पा लिया, वे एक हृदयवाले होकर उनके द्वारा अमरता की रक्षा करते हैं। रक्षा कर तू उन पशुओं की जो स्थिर हैं और उसकी जो कि गतिमय है ॥६॥

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः ।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् ॥७॥

हे अग्ने! लोकों में सब अभिव्यक्तियों (या जन्मों) के ज्ञान को रखता हुआ (अथवा मनुष्यों के सारे ज्ञान को जानता हुआ) तू अपनी शक्तियों को सतत रूप में जीवन के लिये धारण कर। अंदर, देवों की यात्रा के मार्गों को जानता हुआ, तू उनका अतन्द्र दूत और हवियों का वाहक हो जाता है ॥७॥

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट् ॥८॥

विचार को यथार्थ रूप से धारण करती हुई सत्य को जानती हुई द्युलोक की सात शक्तिशाली (नदियों) ने आनंद (सम्पत्) के द्वार को जान लिया, सरमा ने गौओं की दृढ़ता को विस्तीर्णता को पा लिया, जिसके द्वारा अब मानुषी प्रजा (उच्च ऐश्वर्यों का) आनंद लेती है ॥८॥

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ॥९॥

उन्होंने जो कि इन सब वस्तुओं पर आसीन हुए थे जो कि यथार्थ फल (अपत्य) यानी हैं, अमरता की ओर मार्ग बनाया, महान् (देवों) के द्वारा और महत्ता के द्वारा पृथिवी विस्तृत रूप में स्थित हुई, माता अदिति, अपने पुत्रों के साथ, धारण करने के लिये आयी ॥ ९ ॥

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्।

अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन् ॥१०॥

अमर्त्यों ने उसके अंदर चमकती हुई शोभा को निहित किया, जब कि उन्होंने द्यौ की दो आंखों को (जो कि भगवान सूर्य की दो दर्शन-शक्तियां, इन्द्र के दो घोड़ों के तद्रूप हैं) बनाया, नदियां, मानों वे मुक्त हुई हुई हों, नीचे को प्रवाहित हुईं, आरोचमान (गौओं) ने, जो यहां नीचे थीं, जान लिया हे अग्ने ! ॥ १० ॥

यह है पराशर का सूक्त जिसका कि मैंने यथासंभव अधिक-से-अधिक शब्दशः अनुवाद किया है, यहां तक कि इसके लिये भाषा में कुछ थोड़े से असौष्ठव को भी सहन करना पड़ा है। प्रथम दृष्टि में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सारे-के-सारे सूक्त में ज्ञान का, सत्य का दिव्य ज्वाला का प्रतिपादन है, जो (ज्वाला) मुश्किल से ही सर्वोच्च देव से भिन्न हो सकती है, उसमें अमरता का, और इस बात का प्रतिपादन है कि देव (अर्थात् दिव्य शक्तियां) यज्ञ द्वारा आरोहण करके अपने देवत्व को, अपने परम नामों को, अपने वास्तविक रूपों को, दिव्यता के अपने त्रिगुणित सात स्थानों सहित परमावस्था की जो जगमगाती हुई शोभा है उसको पहुंच जाते हैं। इस प्रकार के आरोहण का सिवाय इसके कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता कि यह मनुष्य के अंदर की दिव्य शक्तियों का, जगत् में उनके जो सामान्यतया रूप दिखायी देते हैं उनसे उठकर परे जगमगाते हुए सत्य की तरफ आरोहण है, जैसा कि सचमुच पराशर स्वयं ही हमें कहता है कि देवों की इस क्रिया द्वारा मर्त्य मनुष्य ज्ञान के प्रति जागृत हो जाता है और परम पद में स्थित अग्नि को पा लेता है,

विदन् मर्तो नेमधिता चिकित्वान् अग्निम् पदे परमे तस्थिवांसम्।

इस प्रकार के सूक्त में सरमा का और क्या मतलब है, यदि वह सत्य की कोई शक्ति नहीं है, यदि उसकी गौएं प्रकाश की दिव्य उषा की किरणें नहीं

कहा गया है, जहां अजस्र ज्योति है, जहां स्व: स्थित है, 'यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।' मू १०-१८ वास्तव में उतना मृत्यु का सूक्त नहीं है जितना कि जीवन और अमरता का सूक्त है। यम ने और पूर्वपितरों ने मार्ग को ढूंढ लिया है जो मार्ग उस लोक को जाता है जो लोक गौओं का चरागाह है, जहां से कि शत्रु उन चमकती हुई गौओं को हरण नहीं कर सकता–

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ, यत्रा न: पूर्वे पितर: परेयु:।
(१०-१४-२)

द्यौ के प्रति आरोहण करते हुए मर्त्य के आत्मा को आदेश दिया गया है कि "चार आंखोंवाले, चितकबरे दो सारमेय कुत्तों को उत्तम (या, कार्यसाधक) मार्ग पर दौड़कर अतिक्रमण कर जा"। द्यौ को जानेवाले उस मार्ग के वे चार आंखोंवाले संरक्षक हैं, वे अपने दिव्य दर्शन द्वारा उस मार्ग पर मनुष्यों की रक्षा करते हैं,

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। (१०.१४.११)

और यम को कहा गया है कि वह इन्हें अपने मार्ग पर जाते हुए आत्मा के लिये रक्षक के तौर पर देवे। ये कुत्ते हैं "विशाल गतिवाले, आसानी से तृप्त न होनेवाले" और नियम के देवता (यम) के दूतों के तौर पर ये मनुष्यों के अन्दर विचरते हैं[1]। और सूक्त में प्रार्थना है कि 'वे (कुत्ते) हम यहां असुर मय (लोक) में फिर से सुख प्राप्त करा देवें जिससे कि हम सूर्य को देख सकें[1]।'

यहां फिर हम प्राचीन वैदिक विचारों के मर्म को पाते हैं, प्रकाश और सुख और अमरता, और ये सारमेय कुत्ते सरमा के प्रधानभूत गुणों को रखते हैं, अर्थात् दिव्य दर्शन, विशाल रूप से विचरण करनेवाली गति, जिस मार्ग द्वारा लक्ष्य पर पहुंचा जाता है उस मार्ग पर यात्रा करने की शक्ति। सरमा गौओं के विस्तार की तरफ ले जाती है, ये कुत्ते आत्मा की रक्षा करते हैं जब कि वह

---

[1]अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। (१०.१४.१०)
[1]उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। (१०.१४.१२) (क)
[1]तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ (१०.१४.१२) (ख)

चमकीली और अनश्वर गौओं के दुर्जेय चरागाह, खेत (क्षेत्र) की यात्रा कर रहा होता है। सरमा हमें सत्य को प्राप्त कराती है, सूर्य के दर्शन को प्राप्त कराती है जो कि गुहा को पाने का मार्ग है, ये कुत्ते दु:खपीड़ा के इस लोक में पड़े हुए मनुष्य के लिये चैन लाते हैं ताकि वह सूर्य के दर्शन को पा ले। चाहे सरमा इस रूप में चित्रित की जाय कि वह सुन्दर पैरोंवाली देवी है जो मार्ग पर तेजी से जाती है और सफलता प्राप्त कराती है, चाहे इस रूप में कि वह देवशुनी है जो मार्ग के इन विशाल गतिवाले सरक्षकों (सारमेयों) की माता है, विचार एक ही है कि वह सत्य की एक शक्ति है, जो खोजती है और पता पा लेती है, जो अन्तर्दृष्टि की एक दिव्य शक्ति द्वारा छिपे हुए प्रकाश का और अप्राप्य अमरता का पता लगा देती है। पर यह खोजना और पता पा लेना ही है जिसतक कि उसका व्यापार सीमित है।

है ? प्राचीन लड़ाकू जातियों की गाथा था तथा हमारे आर्य और द्रविड़ी पूर्वजों के अपनी पारस्परिक लूट और पशुहरण पर किये जानेवाले रक्तपातमय कलहों का वैमनस्य तथा वैरत्व थे इस जगमगाते हुए स्वतःप्रकाश ज्ञान से क्या सबध हो सकता है ? अथवा सरमा क्या होगी जो विचार करती है और सत्य को जानती है और छिपे हुए द्वारों का पता लगा लेती है ? या क्या अब भी हम यही कहें कि ये पजाब की नदियाँ थीं जिन्हें द्रविड़ियों ने बाँध लगाकर रोक दिया था या जो अनावृष्टि के कारण रुक गयी थीं और सरमा आर्यों के दूत-कर्म के लिये एक गाथा की पात्री थी या केवल भौतिक उषा थी ?

दशम मण्डल में एक सूक्त पूरा का-पूरा सरमा के इस "दूत-कर्म" का वर्णन करता है, यह सरमा और पणियों का सवाद है, परन्तु सरमा के विषय में जितना हम पहले से जानते हैं उसमें यह कुछ और विशेष नयी बात नहीं जोड़ता और इस सूक्त का महत्त्व इसमें है कि यह गुफा के खजाने के जो स्वामी हैं उनके बारे में विचार बनाने में हमें सहायता देता है। तो भी, हम यह देख सकते हैं कि न तो इस सूक्त में, न ही दूसरे सूक्तों में जिन्हें कि हम देख चुके हैं, सरमा के देवशुनी (द्युलोक की कुतिया) रूप के चित्रण का जरा भी निर्देश हमें मिलता है, जो कि सभव है कि वैदिक कल्पना के बाद में होनेवाले विकास में सरमा के साथ सबद्ध हो गया होगा। यह निश्चित ही चमकीली सुन्दर-पैरों-वाली देवी है, जिसकी ओर पणि आकृष्ट हुए हैं और जिसे वे अपनी बहिन बना लेना चाहते हैं—इस रूप में नहीं कि वह एक कुतिया है जो अनेक पशुओं की रखवाली करेगी, बल्कि एक ऐसी देवी के रूप में जो उनके ऐश्वर्यों की प्राप्ति में हिस्सा लेगी। तो भी इसका द्युलोक की कुतिया के रूपक द्वारा वर्णन अत्यधिक उपयुक्त और चित्ताकर्षक है और कथानक में से उसका विकसित हो जाना अनिवार्य था।

प्राचीनतर सूक्तों में से एक में सचमुच हम एक पुत्र का उल्लेख पाते हैं जिसके लिये सरमा ने 'भोजन प्राप्त कर लिया था'—यह अर्थ उस एक प्राचीन व्याख्या के अनुसार है जो इस शब्दावली की व्याख्या के लिये एक कहानी प्रस्तुत करती है कि सरमा ने कहा था कि मैं खोयी हुई गौओं को तो ढूँढ लूँगी पर शर्त यह है कि यज्ञ में मेरी सन्तान को भोजन मिलना चाहिये। पर यह स्पष्ट ही कल्पना मात्र है

जो कि इस व्याख्या को प्रमाणित करने के लिये गढ ली गयी है और जिसका स्वय ऋग्वेद में किसी स्थान पर उल्लेख नही आता। जिसमे उपर्युक्त शब्दावली आयी है वह ऋचा इस प्रकार है–

इन्द्रस्याङ्गिरसा चेष्टौ विदत् सरमा तनयाय धासिम्। (ऋ. १-६२-३)

इसमे वेद कहता है "यज्ञ मे–या अधिक सभवत इसका यह अर्थ है कि इन्द्र और अगिरसो की (गौओ के लिये की जानेवाली) खोज मे–सरमा ने पुत्र के लिये एक आधारको ढढ लिया", (**विदद् सरमा तनयाय धासिम्**), क्योकि यहा 'धासिम्' शब्द का आशय अधिक सभवत. 'आधार' ही प्रतीत होता है। यह पुन, पूरी सभावना है कि, वह पुत्र है जो यज्ञ से पैदा हुआ है, जो कि वैदिक कल्पना का एक स्थिर तत्त्व है, न कि यह कि पुत्र से अभिप्राय यहा सरमा से पैदा हुई कुत्तो की सतति हो। वेद म इस जैसे वाक्याश और भी आते है, जैसे ऋ १ ९६ ४ मे **'स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातु तनयाय स्वर्वित्।** मातरिश्वा (प्राण के देवता, वायु) ने बहुत से वरणीय पदार्थों को (जीवन क उच्चतर विषयो को) बढाते हुए, पुत्र के लिये मार्ग को ढूढ लिया, स्व को ढूढ लिया।" यहा विषय स्पष्ट ही वही है, पर पुत्र का किसी पिल्लो की सन्तति से कुछ सम्बन्ध नही है।

दशम मण्डल म एक बाद के सूक्त मे यम के दूतो के रूप म दो सारमेय कुत्तो का उल्लेख आता है, पर उनकी माता के रूप मे सरमा का वहा कोई सकेत नही है। यह आता है प्रसिद्ध अन्त्येष्टिसूक्त' (१०-१४) म और यहा पर ध्यान देने योग्य है कि 'यम का तथा उसके दो कुत्तो का ऋग्वेद म वास्तविक स्वरूप क्या है? बाद के विचारो म यम 'मृत्यु का देवता है और उसका एक अपना विशेष लोक है, पर ऋग्वेद म प्रारभत यह सूय का एक रूप रहा प्रतीत होता है, यहातक कि इतनी पीछे जाकर भी जब कि ईशोपनिषद् की रचना हुई, इस नाम को हम सूर्यवाची नाम के रूप मे प्रयुक्त किया गया पाते है–और फिर सत्य के अतिरोचमान देव व युगल शिशुओ (यम-यमी) म से एक। वह धर्म का सरक्षक है, उस सत्य के नियम, सत्यधर्म का जो कि अमरता की शर्त है और इसलिये वह स्वय अमरता का ही सरक्षक है। उसका लोक है स्व जो अमरता का लोक है, 'अमृते लोके अक्षिते', जैसा कि हम ९-११३-७ मे

बाईसवां अध्याय

अन्धकार के पुत्र

एक ५.८ नहीं बल्कि बार-बार हम यह देख चुके हैं कि यह सम्भव ही नहीं है कि अंगिरसों, इन्द्र और सरमा की कहानी में हम पणियों की गुफा से उषा, सूर्य व गौओं की विजय करने का यह अर्थ लगावें कि यह आर्य आक्रान्ताओं तथा गुफा-निवासी द्रविडियों के बीच होनेवाले राजनैतिक व सैनिक संघर्ष का वर्णन है। यह तो वह संघर्ष है जो प्रकाश के अन्वेष्टाओं और अंधकार की शक्तियों के बीच होता है, गौएं हैं सूर्य तथा उषा की ज्योतियां, वे भौतिक गायें नहीं हो सकतीं, गौओं का विशाल भयरहित खेत जिसे इन्द्र ने आर्यों के लिये जीता 'स्व' का विशाल लोक है, और प्रकाश का लोक है, द्यौ का त्रिगुण प्रकाशमय प्रदेश है। इसलिये इसके अनुरूप ही पणियों को इस रूप में लेना चाहिये कि वे अन्धकार-गुहा की शक्तियां हैं। यह बिल्कुल सच है कि पणि 'दस्यु' या 'दास' हैं, इस नाम से उनका वर्णन सतत रूप से देखने में आता है, उनके लिये यह वर्णन मिलता है कि वे आर्य-वर्ण के प्रतिकूल दास-वर्ण हैं, और रंगवाची 'वर्ण' शब्द ब्राह्मणग्रन्थों में तथा पीछे के लेखों में जाति या श्रेणी के लिये प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि ऋग्वेद में इसका यह अर्थ है। दस्यु हैं पवित्र वाणी से घृणा करनेवाले; ये वे हैं जो हवि को या सोमरस को देवों के लिये अर्पित नहीं करते, जो गौओं व घोडों की दौलत को तथा अन्य खजानों को अपने ही लिये रख लेते हैं और उन चीजों को द्रष्टाओं (ऋषियों) के लिये नहीं देते, ये वे हैं जो यज्ञ नहीं करते। यदि हम चाहें तो यह भी कल्पना कर सकते हैं कि भारत में दो ऐसे विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एक संघर्ष हुआ करता था और इन सम्प्रदायों के मानवीय प्रतिनिधियों के बीच होनेवाले इस भौतिक संघर्ष को देखकर उसमें से ही ऋषियों ने अपने प्रतीकों को लिया तथा उन्हें आध्यात्मिक संघर्ष में प्रयुक्त कर दिया, वैसे ही जैसे उन्होंने अपने भौतिक

जीवन के अन्य अंग-उपांगों को आध्यात्मिक यज्ञ, आध्यात्मिक दौलत और आध्यात्मिक युद्ध व यात्रा के लिये प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया। यह कल्पना ठीक हो या न हो, इतना तो पूर्णतया निश्चित है कि ऋग्वेद में कम-से-कम जिस युद्ध और विजय का वर्णन हुआ है वह कोई भौतिक युद्ध और लूटमार नहीं है बल्कि एक आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है।

यदि हम इक्के-दुक्के संदर्भों को लेकर उनका कोई-सा एक विशेष अर्थ दे डालें जो केवल उसी जगह ठीक लग सके जब कि हम उन बहुत से अन्य संदर्भों की उपेक्षा कर देते हों जिनमें वह अर्थ स्पष्ट ही अनुपपन्न ठहरता है तो अर्थ करने की यह प्रणाली या तो विचारतुला पर ठीक न उतरनेवाली होगी या एक कपट-पूर्ण प्रणाली होगी। हम इकट्ठे रूप से वेद में उन सभी उल्लेखों को लेना चाहिये जिनमें पणियों का, उनकी दौलत का, उनके विशेष गुणों का और उन पणियों पर प्राप्त की गयी देवों, द्रष्टाओं तथा आर्यों की विजय का वर्णन है और इस प्रकार उन सभी संदर्भों को इकट्ठा लेकर देखने से जो परिणाम निकले उसे एकविध रूप से स्वीकार करना चाहिये। जब हम इस प्रणाली का अनुसरण करते हैं तो हम देखते हैं कि इन संदर्भों में से कई संदर्भ ऐसे हैं जिनमें पणियों के सम्बन्ध में यह विचार कि ये मानवप्राणी हैं पूर्णतया असम्भव लगता है और उन सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि पणि या तो भौतिक अन्धकार की या आध्यात्मिक अन्धकार की शक्तियां हैं, दूसरे कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जिनमें पणि भौतिक अन्धकार की शक्तियां सर्वथा नहीं हो सकते, या तो वे देवान्वेषकों और यज्ञकर्ताओं के मानवीय शत्रु हो सकते हैं या आध्यात्मिक प्रकाश के शत्रु, फिर अन्य कुछ संदर्भ हमें ऐसे मिलते हैं जिनमें वे न तो मानवीय शत्रु हो सकते हैं न भौतिक प्रकाश के शत्रु, बल्कि निश्चित तौर पर वे आध्यात्मिक प्रकाश, दिव्य सत्य और दिव्य विचार के शत्रु हैं। इन तथ्यों से केवल एक ही परिणाम निकल सकता है कि पणि वेद में सदा आध्यात्मिक प्रकाश के और केवल आध्यात्मिक प्रकाश के शत्रु हैं।

इन दस्युओं के सामान्य स्वरूप को बतलानेवाले मूलसूत्र के तौर पर हम ऋक् ५.१४.४ को ले सकते हैं, 'अग्नि पैदा होकर चमका, ज्योति से दस्युओं को, अध-

मार को हनन करता हुआ, उसने गौओं को, जलों को, स्व को पा लिया।"

अग्निर्जातो अरोचत, घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तम ।

अविन्दद् गा अप स्व.॥ (५-१४-४)

दस्युओं के दो बड़े विभाग हैं, एक तो 'पणि' जो गौओं तथा जलों दोनों को अवरुद्ध करते हैं पर मुख्यत जिनका सबध गौओं के रुन्धन से है, दूसरे 'वृत्र' जो जलों को और प्रकाश को अवरुद्ध करते हैं पर मुख्य रूप से जलों के रुन्धन से जिनका सबध है, सभी दस्यु निरपवाद रूप से 'स्व' को आरोहण करने के मार्ग म आड़े खड़े हो जाते हैं और वे आर्य द्रष्टाओं द्वारा की जानेवाली दौलत की प्राप्ति का विरोध करते हैं। प्रकाश के रुन्धन से अभिप्राय है उन द्वारा 'स्व' के दर्शन, स्वर्दृश् और सूर्य के दर्शन का, ज्ञान के उच्च दर्शन, उपमा केतु (५-३४-९ तथा ७-३०-३) का विरोध, जलों के रुन्धन से अभिप्राय है उन द्वारा 'स्व' की विपुल गति 'स्वर्वती अप' का, सत्य की गति या प्रवाहों, ऋतस्य प्रेषा, ऋतस्य धारा, का विरोध, दौलत प्राप्ति से विरोध का अभिप्राय है 'स्व' के विपुल सारपदार्थ वसु धन, वाज, हिरण्य का उन द्वारा रुन्धन, उस महान् सपत्ति का रुन्धन जो सपत्ति सूर्य में और जलों में निहित है, (अप्सु सूर्ये महद् धनम्)। तो भी क्योंकि सारी लड़ाई प्रकाश और अधकार के बीच, सत्य और अनृत के बीच, दिव्य माया और अदिव्य माया के बीच है, इसलिये सभी दस्यु यहा एकसमान अधकार से अभिन्नरूप मान लिये गये हैं, और यह अग्नि के पैदा होने और चमकने लगने पर होता है कि ज्योति उत्पन्न हो जाती है जिसके कि द्वारा वह दस्युओं का और अधकार का हनन करता है। ऐतिहासिक व्याख्या से यहा बिल्कुल भी काम नहीं चलेगा, यद्यपि प्रकृतिवादी व्याख्या को रास्ता मिल सकता है यदि हम इस सदर्भ को अन्य वर्णन से जुदा रूप में ही देखें और यह मान लें कि यज्ञिय अग्नि को प्रज्वलित करना दैनिक सूर्योदय का कारण होता है, पर हमें वेद के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निर्णय पर पहुचना है न कि जुदा-जुदा सदर्भों के बल पर।

आर्यों और पणियों या दस्युओं के बीच का विरोध पाचवें मण्डल के एक अन्य सूक्त (५।३४) में स्पष्ट हो गया है, और ३।३४ में हमें आर्यवर्ण यह प्रयोग मिलता है। यह हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि 'दस्यु' अधकार से अभिन-

रूप बनाये गये हैं, इसलिये आर्यों का संबंध प्रकाश से होना चाहिये, और वस्तुतः ही हम पाते हैं कि स्पष्टतया दास-अंधकार की कल्पना के मुकाबले में सूर्य के प्रकाश को वेद में आर्य-प्रकाश कहा गया है। वसिष्ठ भी तीन आर्यजनों का वर्णन करता है जो कि "ज्योतिरग्रा" अर्थात् प्रकाश को अपना नेता बनानेवाले हैं, प्रकाश को जो अपने आगे-आगे रखते हैं (७-३३-७)। आर्य-दस्यु प्रश्न पर यथोचित रूप से तभी विचार हो सकता है यदि एक व्यापक विवाद चलाया जाय जिसमें सभी प्रसंगप्राप्त संदर्भों की परीक्षा की जाय और जो कठिनाइयां आवें उनका मुकाबला किया जाय। परंतु मेरे वर्तमान प्रयोजन के लिये यह प्रारंभिक-बिन्दु पर्याप्त है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेद में हमें 'ऋत ज्योति', 'हिरण्य ज्योति', 'सत्य प्रकाश', 'सुनहला प्रकाश' ये मुहाविरे मिलते हैं जो हमारे हाथ में एक और सूत्र पकड़ाते हैं। अब सौर प्रकाश के ये तीन विशेषण, आर्य, ऋत, हिरण्य मेरी राय में परस्पर एक दूसरे के अर्थद्योतक हैं और लगभग समानार्थक हैं। सूर्य सत्य का देवता है, इसलिये इसका प्रकाश 'ऋत ज्योति' है, यह सत्य का प्रकाश वह है जिसे आर्य, वह देव हो या मनुष्य, धारण करता है और जिससे उसका आर्यत्व बनता है, फिर 'सूर्य' के लिये 'सुनहला' यह विशेषण सतत रूप से प्रयुक्त हुआ है और 'सोना' वेद में संभवतः सत्य के सार का प्रतीक है, क्योंकि सत्य का सार है प्रकाश, जो वह सुनहली दौलत है जो सूर्य में और 'स्व' के जलों में (अप्सु सूर्ये) पायी गयी है,—इसलिये हम 'हिरण्य ज्योति' यह विशेषण पाते हैं। यह सुनहला या चमकीला प्रकाश सत्य का रंग 'वर्ण' है, साथ ही यह उन विचारों का भी रंग है जो विचार उस प्रकाश से परिपूर्ण हैं जिसे आर्यों ने जीता था, वे गौएं जो रंग में चमकीली शुभ्र, श्वेत हैं वैसी जैसा कि प्रकाश का रंग होता है, जब कि दस्यु क्योंकि वह अंधकार की एक शक्ति है, रंग में काला है। मेरी सम्मति में सत्य के प्रकाश का आर्यज्योति का, चमकीलापन ही आर्यवर्ण है अर्थात् उन आर्यों का वर्ण जो 'ज्योतिरग्रा' हैं, अज्ञान की रात्रि का कालापन पणियों का रंग है दासवर्ण। इस प्रकार प्रायः 'वर्ण' का अर्थ होगा 'स्वभाव' अथवा वे सब जो उस विशेष स्वभाववाले हैं क्योंकि रंग स्वभाव का द्योतक है, और यह बात कि यह विचार प्राचीन आर्यों के अंदर एक प्रचलित

विचार था मुझे इसमें पुष्ट होती प्रतीत होती है कि बाद के काल में भिन्न-भिन्न रंग—सफ़ेद, लाल, पीला, काला—चार जातियों (वर्णों) में भेद करने के लिये व्यवहृत हुए हैं।

ऋ. ५।३४ का सदर्भ निम्न प्रकार है—

"वह (इन्द्र) पाच के साथ और दस के साथ आरोहण करने की इच्छा नहीं करता, वह उसके साथ सयुक्त नहीं होता जो सोम की हवि नहीं देता है, चाहे वह वृद्धि को ही क्यों न प्राप्त हो रहा हो, वह उसे पराजित कर देता है या वह अपनी वेगयुक्त गति से उसका वध कर देता है, वह देवत्व के अभिलाषी (देवयु:) को उसके सुखभोग के लिये गौओं से परिपूर्ण बाड़े को देता है।" (मन्त्र ५)

"युद्ध-सघट्ट में (शत्रु का) विदारण करनेवाला, चक्र (या पहिये) को दृढ़ता से थामनेवाला, जो सोमरस अर्पित नहीं करता उससे पराङ्मुख, पर सोमरस अर्पित करनेवाले को बढ़ानेवाला, वह इन्द्र बड़ा भीषण है और सबको दमन करनेवाला है, वह 'आर्य' इन्द्र 'दास' को पूर्णतया अपने वश में कर लेता है।" (मन्त्र ६)

"पणि के इस सुखभोग को चलित करता हुआ, अपहरण करता हुआ वह (इन्द्र) आता है और वह देनेवाले को (दाशुषे) उसके सुख के लिये 'सूनर वसु' बाटता है अर्थात् वह दौलत बाटता है जो कि वीर-शक्तियो से (शब्दार्थ में, मनुष्यों से) समृद्ध है (यहा 'सूनर' का अर्थ 'वीर-शक्तियों से समृद्ध' यह लिया है, क्योंकि 'वीर' और 'नृ' बहुधा पर्यायरूप में प्रयुक्त होते हैं)। वह मनुष्य जो इन्द्र के बल को क्रुद्ध करता है एक दुर्गम यात्रा में अनेकरूप से रुकावटों को पाता है।" ('दुर्गे चन धियते आ पुरु) (मन्त्र ७)।

"जब मघवा (इन्द्र) ने चमकीली गौओं के अंदर इन दो (जनों) को जान लिया जो भरपूर दौलतवाले (सुधनौ) और सब बलो से युक्त (विश्वशर्धसौ)

---

[1]ऋषि देवों से सदा यह प्रार्थना करते हैं कि वे 'सर्वोच्च सुख' की ओर उनका मार्ग बना देवें जो मार्ग सुगम और अकष्टक 'सुग' हो, 'दुर्ग' इस सुगम का उल्टा है, यह वह मार्ग है जो अनेकविध (पुरु) आपत्तियों और कष्टों व कठिनाइयों से भरा पड़ा है।

है, तब वह ज्ञान में बढ़ता हुआ एक तीसरे (जन) को अपना सहायक बनाता है और तेजी से गति करता हुआ अपने योद्धाओं की सहायता से गौओं के समुदाय को (गव्यम्) ऊपर की तरफ हांक देता है।" (मन्त्र ८)[1]

और इस सूक्त की अंतिम ऋचा आर्य (चाहे वह देव हो या मनुष्य) के विषय में यह वर्णन करती है कि वह आर्य सर्वोच्च ज्ञानदर्शन पर पहुंच जाता है (उपमा केतुः अर्यः), जल अपने संगमों में उसे पालित करते हैं और उसके अंदर बलवती तथा जाज्वल्यमान संग्राम-शक्ति (क्षत्रम् अमवत् त्वेषम्) रहती है[2]।

जितना कुछ इन प्रतीकों के बारे में हम पहले से ही जानते हैं उतनेसे हम इस सूक्त के आन्तरिक आशय को सुगमता से समझ सकते हैं। इन्द्र, जो दिव्य मन-शक्ति है, अज्ञान की शक्तियों के पास से उनकी छिपाकर रखी हुई दौलत को ले लेता है और तब भी जब कि ये अज्ञान शक्तियां प्रचुर और पुष्टियुक्त होती हैं वह उनसे संबंध स्थापित करने को तैयार नहीं होता, वह प्रकाशमयी उषा की बन्द पड़ी गौओं को उस यज्ञ करनेवाले को दे देता है जो देवत्व का अभिलाषी है। वह (इन्द्र) स्वयं आर्य है जो अज्ञान के जीवन को पूर्ण तौर से उच्चतर जीवन के वश में कर देता है, जिससे कि यह अज्ञान का जीवन उस सारी दौलत को जो इसके कब्जे में थी इस उच्चतर जीवन के हाथ में सौंप देता है। देवों को निरूपित

---

[1] न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥ ५ ॥
वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः ।
इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावशं नयति दासमार्यः ॥ ६ ॥
समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ॥ ७ ॥
स यज्जनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्यन्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्वभिर्धुनिः ॥ ८ ॥ (ऋ ५।३४)

[2] सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः ।
तस्मा आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु ॥ ९ ॥ (ऋ. ५ ३४)

करने के लिये 'आर्य' तथा 'अर्य' शब्दों का प्रयोग, न केवल यहीं पर बल्कि अन्य सदर्भों मे भी, अपने-आपमें यह दर्शाने की प्रवृत्ति रखता है कि आर्य तथा दस्यु का विरोध एक राष्ट्रीय या जातिगत अथवा केवलमात्र मानवीय भेद नहीं है, बल्कि इसका एक गभीरतर अर्थ है।

योद्धा यहां निश्चित ही सात अगिरस् हैं, क्योंकि वे ही, न कि 'मरुत्' जैसा कि सायण ने 'सखभि' का अर्थ लिया है, गौओं की मुक्ति में इन्द्र के सहायक होते हैं। पर जिनको इन्द्र चमकीली गौओं के अदर प्रविष्ट होकर अर्थात् विचार के पुञ्जीभूत प्रकाशों को अधिगत करके पाता है या जानता है, वे तीन जन यहां कौन हैं निश्चय कर सकना अधिक कठिन है। बहुत अधिक सभव यह है कि ये वे तीन हैं जिनके द्वारा अगिरस् ज्ञान की सात किरणें बढ़कर दस हो जाती हैं, जिससे कि अगिरस् सफलतापूर्वक दस महीनों को पार कर लेते हैं और सूर्य तथा गौओं को मुक्त करा लेते हैं, क्योंकि यहां भी दो (जनों) को पा लेने या जान लेने और तीसरे (जन) की मदद पा लेने के बाद ही यह होता है कि इन्द्र पणियों के पास से गौओं को छुड़ा पाता है। इन तीन जनों का सम्बन्ध प्रकाश को नेता बनानेवाले (ज्योतिरग्रा) तीन आर्यजनों (७ ३३-७) के प्रतीकवाद के साथ तथा 'स्व' के तीन प्रकाशमान लोकों के प्रतीकवाद के साथ भी जुड़ सकता है, क्योंकि सर्वोच्च ज्ञान-दर्शन (उपमा केतु) की उपलब्धि उनकी क्रिया का अन्तिम परिणाम है और यह सर्वोच्च ज्ञान वह है जो 'स्व' के दर्शन से युक्त है तथा अपने तीन प्रकाशमान लोकों (रोचनानि) में स्थित है जैसा कि हम ३-२-१४ में पाते हैं, स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्, "वह ज्ञान-दर्शन जो 'स्व' को देखता है, जो प्रकाशमान लोकों में स्थित है, जो उषा में जागृत होता है।"

ऋ ३-३४ में विश्वामित्र ने 'आर्यवर्ण' यह पदप्रयोग किया है और साथ ही वहां उसने इसके अध्यात्मपरक अर्थ की कुञ्जी भी हमें दे दी है। इस सूक्त की (८ से १० तक) तीन ऋचाएं निम्न प्रकार से हैं–

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदा ससवांसं स्वरपश्च देवीः ।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्र मदन्त्यनु धीरणासः ॥ ८ ॥

"(वे स्तुति करते हैं) अतिशय वाञ्छनीय, सदा अभिभव करनेवाले, बल के देनेवाले, 'स्व' तथा दिव्य जलों को जीतकर अधिगत करनेवाले (इन्द्र) की, विचारक लोग इन्द्र के आनन्द में आनन्दित होते हैं, जो इन्द्र पृथिवी तथा द्यौ को अधिकृत कर लेनेवाला है" ॥८॥

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।

हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥ ९ ॥

"इन्द्र घोड़ों को अधिगत कर लेता है, सूर्य को अधिगत कर लेता है, अनेक सुख-भोगोंवाली गौ को अधिगत कर लेता है, वह सुनहले सुख भोगों को जीत लेता है, दस्युओं का वध करके वह 'आर्य वर्ण' की पालना करता है (या रक्षा करता है)" ॥९॥

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतींरसनोदन्तरिक्षम्।

बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥ १० ॥

"इन्द्र ओषधियों को और दिनों को जीत लेता है, वनस्पतियों को और अन्तरिक्ष को जीत लेता है, वह 'वल' का भेदन कर डालता है और वाणियों के वक्ता को आगे की तरफ प्रेरणा दे देता है, इस प्रकार वह उनका दमन-कर्ता बन जाता है जो उसके विरुद्ध कर्मों के करने का सकल्प रखनेवाले हैं (अभि-क्रतूनाम्)" ॥१०॥

यहा हम देखते हैं कि उस सारी दौलत के प्रतीकमय तत्त्व आ गये हैं जिसे कि इन्द्र ने आर्य के लिये जीता है और उस दौलत में सम्मिलित हैं सूर्य, दिन, पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, घोड़े, पार्थिव उपचय, ओषधिया और वनस्पतिया ('वनस्पतीन्' यहा द्व्यर्थक रूप में है, वन के अधिपति और सुखभोग के अधिपति), और 'वल' तथा उसके सहायक दस्युओं के विरोधी रूप में यहा हम 'आर्यवर्ण' को पाते हैं।

परन्तु इससे पूर्ववर्ती ऋचाओं में (८-९ में) पहले ही 'वर्ण' शब्द इस अर्थ में आ चुका है कि यह आर्य के विचारों का रंग है उन विचारों का जो सच्चे तथा प्रकाश से परिपूर्ण हैं। 'स्व' के विजेता इन्द्र ने, दिनों को पैदा करके, इच्छुकों (अंगिरसों) को साथ लेकर (दस्युओं की) इन सेनाओं पर आक्रमण किया

यों) के साथ, (वस्तुओं के) सब रूपों को चारों ओर से घेरता है।' (ऋचा १)

'तू, हे सोम ! पणियों की उस दौलत को पा लेता है, तू अपने आपको 'माताओं' के द्वारा (अर्थात् पणियों की गौओं के द्वारा, क्योंकि दूसरे सूक्तों में पणियों की गौओं को 'माता' यह नाम कई जगह दिया गया है) अपने स्वकीय घर (स्व) में चमका लेता है, 'सत्य के विचारों' के द्वारा अपने घर में (चमका लेता है), **समातृभिर्मर्जयसि, स्व आ दमे, ऋतस्य धीतिभिर्दमे।** मानो उच्चतर लोक का (परावत) 'साम' (समतापूर्ण निष्पत्ति या सिद्धि, [समाने ऊर्वे], समतल विस्तार में) वह (स्व) है जहा (सत्य के) विचार आनद लेते हैं। त्रिगुण लोक में रहनेवाली (या तीन मूलतत्त्वोवाली) उन आरोचमान (गौओं) द्वारा वह (ज्ञान की) विशाल अभिव्यक्ति को धारण करता है, वह जगमगाता हुआ विशाल अभिव्यक्तियों को धारण करता है'। (ऋचा २)'

यहा हम देखते हैं कि पणियों की गौएं वे विचार हैं जो सत्य को प्राप्त कर लेते हैं। पणियों की जिन गौओं के विषय में यहा यह कहा गया है कि इनके द्वारा सोम अपने निज घर में [अर्थात् उस घर में जो 'अग्नि' तथा अन्य देवों का घर है और जिस घर से हम इस रूप में परिचित हैं कि वह 'स्व' का बृहत् सत्य (ऋत बृहत्) है] साफ और चमकीला हो जाता है और यह कहा गया है कि ये जगमगानेवाली गौएं अपने अदर सर्वोच्च लोक के त्रिगुण स्वभाव को रखती हैं (त्रिधातुभिः अरुषीभि) और जिनके द्वारा सोम उस सत्य के जन्म को या उसकी

'अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः
सूरो न स्वयुग्वभिः।
धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥१॥
त्वं त्यत् पणीनां विदो वसु स मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम
ऋतस्य धीतिभिर्दमे।
परावतो न साम तद् यत्रा रणन्ति धीतय।
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥२॥ (ऋ. ९।१११)

विशाल अभिव्यक्ति* को धारण करता है, उन गौओं से अभिप्रेत वे विचार हैं जो सत्य को प्राप्त कर लेते हैं। यह 'स्व', जो उन तीन प्रकाशमान लोकोंवाला है जिनकी विशालता में "त्रिधातु" की समतापूर्ण निष्पन्नता रहती है ('त्रिधातु' यह मुहावरा प्राय उस त्रिविध परम तत्त्व के लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे त्रिगुणित सर्वोच्च लोक, तिस्र परावत· बना है), अन्यत्र इस रूप में वर्णित किया गया है कि यह विशाल तथा भयरहित चरागाह है जिसमें **गौए** इच्छानुसार विचरण करती हैं और आनद लेती हैं (रण्यति) और यहा भी यह (स्व) वह प्रदेश है जहा सत्य के विचार आनद लेते हैं (**यत्र रणन्ति धीतय·**)। और अगली (तीसरी) ऋचा में यह कहा गया है कि 'सोम' का दिव्य रथ ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, प्रकृष्ट (परम) दिशा का अनुसरण करता है और दर्शन (Vision) से युक्त होकर किरणों द्वारा आगे बढने का यत्न करता है, (**पूर्वामनु प्रदिशं याति चेकितत् सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथ.**)। यह परम दिशा स्पष्ट ही दिव्य या बृहत् सत्य की दिशा है, ये किरणें स्पष्टत दिव्य उषा की या सत्य के सूर्य की किरणें हैं, वे गौएं हैं जिन्हे पणियों ने छिपा रखा है, ये हैं प्रकाशमान विचार, चमकीले रग की 'धिय', 'ऋतस्य धीतय'।

वेद की सारी अन्त साक्षी जहा कही भी पणियों, गौओं, अगिरसों का उल्लेख हुआ है, नियत रूप से इसी परिणाम को सपुष्ट करती है, स्थापित करती है। पणि है सत्य के विचारों के अवरोधक, ज्ञान-रहित अधकार (तमो अवयुनम्) में निवास करनेवाले, जिस अधकार को इन्द्र और अगिरस् दिव्य शब्द के द्वारा, सूर्य के द्वारा हटाकर उसके स्थान में प्रकाश को ले आते हैं, ताकि जहा पहले अधकार

---

*वय, तुलना करो ६.२१.३ से, जहा यह कहा गया है कि जो इन्द्र ज्ञानी है और जो हमारे शब्दों (वाणियों) को वहन करता है और उन शब्दों द्वारा यज्ञ में प्रवृद्ध होता है (**इन्द्रं यो विदानो गिर्वाहसं गीर्भिर्यज्ञवृद्धम्**), वह इन्द्र उस अधकार को जो ज्ञान से शून्य फैला पडा था सूर्य के द्वारा उस रूप में परिणत कर देता है जो ज्ञान की अभिव्यक्ति से युक्त है, (**स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार**)।

और उन्हें जीत लिया, उसने मनुष्य के लिये दिनों के ज्ञान-दर्शन को (केतुम् अह्ना) प्रकाशित कर दिया, उसने विशाल आनन्द के लिये प्रकाश को पा लिया (ऋचा ४)। उसने अपने उपासक के लिये इन विचारों को ज्ञान-चेतना से युक्त किया, जागृत किया, उसने इन (विचारों) के चमकीले 'वर्ण' को आगे (दस्युओं की बाधा से परे) पहुंचा दिया (अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेम वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्) (ऋचा ५)। वे महान् इन्द्र के अनेक महान् और पूर्ण कर्मों को क्रिया में लाते हैं (या उनकी स्तुति करते हैं); अपने बल से, अपनी अभिभूत कर देनेवाली शक्ति में भरकर, अपनी ज्ञान की क्रियाओं द्वारा (मायाभि) वह कुटिल दस्युओं को पीस डालता है (ऋचा ६)'।*

यहां हम 'केतुम् अह्नाम्' अर्थात् 'दिनों का ज्ञान-दर्शन' इस वैदिक मुहावरे को पाते हैं, जिससे सत्य के सूर्य का वह प्रकाश अभिप्रेत है जो विशाल दिव्य आनन्द को प्राप्त कराता है, क्योंकि 'दिन' वे हैं जो मनुष्य के लिये इन्द्र से की गयी 'स्व' की विजय द्वारा उत्पन्न किये गये हैं उस समय जब कि, जैसा कि हम जानते हैं, इन्द्र ने पहले उत्पन्न अंगिरसों की सहायता से पणि-सेनाओं का विनाश कर लिया तथा सूर्य और प्रकाशमय गौओं का उदयन हो चुका। देव यह सब कुछ मनुष्य के लिये और मनुष्य की शक्तियों का रूप धारण करके करते हैं, न कि स्वयं अपने लिये क्योंकि वे तो पहले से ही इन दौलतों से युक्त हैं,--मनुष्य के लिये वह इन्द्र 'नृ' अर्थात् दिव्य मनुष्य या पुरुष बनकर उस पौरुष के अनेक बलों को धारण करता है (नृवद् . . . नर्या पुरूणि--मंत्र ५), मनुष्य को वह इसके

*इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥४॥
(इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि)।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥
महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान् सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥६॥ (ऋ. ३।३४।४-६)

लिये जागृत करता है कि वह इन विचारों का ज्ञान प्राप्त करे, जिन विचारों को यहां प्रतीकरूप में पणियों के पास से छुड़ायी गयी चमकदार गौएं कहा गया है, और इन विचारों का चमकीला रंग (शुक्रं वर्णमासाम्) स्पष्टतः वही है जो 'शुद्र' या 'श्वेत' आर्य-रंग है, जिसका नौवीं ऋचा में उल्लेख हुआ है। इन्द्र इन विचारों के 'रंग' को आगे ले जाकर या वृद्धिगत करके पणियों के विरोध से परे कर देता है (प्र वर्णमतिरच्छुक्रम्), ऐसा करके वह दस्युओं को मार डालता है और आर्य के 'रंग' की रक्षा करता है या पालना करता है और वृद्धि करता है, (हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ।९।) । इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि ये दस्यु कुटिल हैं (वृजिनान्), तथा ये जीते जाते हैं इन्द्र के कर्मों या ज्ञान के रूपों द्वारा, उसकी 'मायाओं' द्वारा, जिन मायाओं से, जैसा कि अन्य कई स्थानों पर कहा मिलता है, वह इन्द्र दस्युओं की, 'वृत्र' की या 'वल' की विरोधिनी 'मायाओं' को अभिभूत करता है। 'ऋजु' और 'कुटिल' ये वेद में सततरूप से क्रमशः 'सत्य' और 'अनृत' के पर्यायवाची के तौर पर आते हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि ये 'पणि' 'दस्यु' अनृत और अज्ञान की कुटिल शक्तियां है जो अपने मिथ्या ज्ञान को, अपने मिथ्या बल संकल्प और कर्मों को देवों तथा आर्यों के सच्चे ज्ञान, सच्चे बल सच्चे संकल्प और कर्मों के विरोध में लगाती हैं। प्रकाश की विजय का अभिप्राय है इस मिथ्या ज्ञान या दानवीय ज्ञान पर सत्य के दिव्य ज्ञान की विजय और उस विजय का मतलब है सूर्य का ऊर्ध्वारोहण, दिनों का जन्म, उषा का उदय प्रकाशमान किरणों रूपी गौओं की मुक्ति और उन गौओं का प्रकाश के लोक में चढ़ना।

ये गौएं सत्य के विचार हैं यह हमें सोम देवता के एक सूक्त ९-१११ में पर्याप्त स्पष्ट रूप में बता दिया गया है।

'इस जगमगानेवाले प्रकाश से अपने को पवित्र करता हुआ अपने स्वयं जुते घोड़ों द्वारा वह सब विद्वेषिणी शक्तियों को चीरकर पार निकल जाता है, मानो उसके वे घोड़े सूर्य के स्वयं जुते घोड़े हों। निचोड़े हुए सोम की धारारूप, अपने-को पवित्र करता हुआ, आरोचमान, जगमगानेवाला वह चमक उठता है, जब कि वह ऋक् के वक्ताओं के साथ, सात-मुखोंवाले ऋक् के वक्ताओं (अंगिरस् शक्ति-

या वहां सत्य का विस्तार अभिव्यक्त हो जाय। इन्द्र पणियों के साथ भौतिक आयुधों से नहीं बल्कि शब्दों से युद्ध करता है (देखो ऋ॰ ६.३९.२), पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः। जिस सूक्त में यह वाक्यांश आया है उस सूक्त (६.३९) का बिना कोई टिप्पणी किये केवल अनुवाद कर देना पर्याप्त होगा, जिससे कि इस प्रतीकवाद का स्वरूप अंतिम रूप से प्रकट हो जाय।

'उस दिव्य और आनन्दमग्न सत्यदर्शी (सोम) की, उसकी जो यज्ञ का वाहक है, उसकी जो प्रकाशमान विचारवाला मधुमय वक्ता है, प्रेरणाओं को, हे देव! हममें, शब्द के वक्ता में संयुक्त कर, जो प्रेरणाएं प्रकाश की गौओं से पुरःसर (इषो गोअग्राः) हैं। (मंत्र १)'

'यह था जिसने चमकीली (गौओं, 'उस्राः') को, जो पहाड़ी के चारों ओर थीं चाहा, जो सत्य को जाननेवाला, सत्य के विचारों से अपने रथ को जोतते हुए था (ऋतधीतिभिर्ऋतयुग् युजानः)। (तब) इन्द्र ने 'बल' के अभग्न पहाड़ी सम प्रदेश (सानु) को तोड़ा शब्दों के द्वारा उसने पणियों के साथ युद्ध किया। (मंत्र २)

'यह (सोम) था जिसने, चन्द्र-शक्ति (इन्दु) के रूप में, दिन-रात लगातार और वर्षों में, प्रकाशरहित रात्रियों को चमकाया, और वे (रात्रियां) दिनों के दर्शन (Vision, केतु) को धारण करने लग पड़ीं, उसने उषाओं को रचा जो उषाएं जन्म में पवित्र थीं' (मंत्र ३)।

'यह था जिसने आरोचमान होकर प्रकाशरहितों को प्रकाश से परिपूर्ण किया, उसने सत्य के द्वारा अनेकों (उषाओं) को चमकाया, वह सत्य से जोते हुए घोड़ों के साथ, 'स्व' को पा लेनेवाले पहिये के साथ चल पड़ा, कर्मों के कर्त्ता को (दौलत से) परितृप्त करता हुआ (चर्षणिप्राः)।' (मंत्र ४)*

---

*मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः।
अपा नस्तस्य सचनस्य देवेषो युवस्व गृणते गोअग्राः ॥१॥
अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजानः।
रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः ॥२॥

यह सर्वत्र विचार है, सत्य है, शब्द है जो पणियों की गौओं के साथ सबद्ध पाया जाता है, दिव्य मन शक्ति रूप इन्द्र के शब्दों द्वारा वे जीते जाते हैं जो गौओं को अवरुद्ध करते हैं, वह जो कि अधकारपूर्ण या प्रकाशमय हो जाता है, सत्य मे जोते गये घोडों से खिचनेवाला रथ (ज्ञान के द्वारा, स्वर्विदा नाभिना) सत्ता की, चेतना की और आनद की प्रकाशमय विस्तीर्णता को पा लेता है जो कि अबतक हमारी दृष्टि से ओझल है। 'ब्रह्म' (विचार) के द्वारा इन्द्र 'वल' का भेदन करता है, अधकार को ओझल करता है, 'स्व' को सुदृश्य करता है।

उद् गा आजद् अभिनद् ब्रह्मणा वलम्।
अगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्व ।(ऋ.२.२४.३)

सारा ऋग्वेद प्रकाश की शक्तियों का एक विजयगीत है और गीत है प्रकाश की शक्तियों के ऊर्ध्वारोहण का, जो आरोहण सत्य के बल तथा दर्शन के द्वारा होता है और जो इस उद्देश्य से होता है कि सत्य के स्रोत व घर में, जहा कि सत्य अनृत के आक्रमण से स्वतत्र रहता है, पहुचकर उस सत्य को अधिगत कर लिया जाय। 'सत्य के द्वारा गौए (प्रकाशमान विचार) सत्य में प्रविष्ट होती है सत्य की तरफ जाने का यत्न करता हुआ व्यक्ति सत्य को जीतता है, सत्य का अग्रगामी बल प्रकाश की गौओं को पाना चाहता है और (शत्रु को) बीच में से चीरता हुआ चला जाता है, सत्य के लिये दो विस्तृत (द्यौ व पृथिवी) बहुत और गभीर हो जाते हैं, सत्य के लिये दो परम माताए अपना दूध देती है।'

ऋतेन गाव ऋतमा विवेशु ।
ऋत येमान ऋतमिद् वनोति, ऋतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्यु ।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे, ऋताय धेनू परमे दुहाते॥
(ऋ ४ २३ ९,१०)

अय द्योतयदद्युतो व्य१क्तून् दोषा वस्तो शरद इन्दुरिन्द्र।
इम केतुमदधुर्नू चिदह्ना शुचिजन्मन उषसश्चकार॥३॥
अय रोचयदरुचो रुचानोऽ३य वासयद् व्यृ१तेन पूर्वी ।
अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वै स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्रा ॥४॥

तेईसवां अध्याय

दस्युओं पर विजय

दस्यु आर्य-देवों तथा आर्य-ऋषियों दोनोंके विरोध में खडे होते हैं। देव पैदा हुए हैं 'अदिति' से वस्तुओं के उच्चतम (परम) सत्य में, दस्यु या दानव पैदा हुए हैं 'दिति' से निम्नतर (अवर) अधकार में, देव हैं प्रकाश के अधिपति तथा दस्यु रात्रि के अधिपति हैं और पृथिवी, द्यौ तथा मध्य के लोक (शरीर, मन तथा इनको जोडनेवाले जीवन-प्राण) इस त्रिगुण लोक के आरपार इन दोनोंका आमना-सामना होता है। सूक्त १०।१०८ में सरमा सर्वोच्च लोक से, परावतः, उतरती है; उसे 'रसा' के जलों को पार करना पडता है, उसे 'रात्रि' मिलती है जो अपने अतिलघन किये जाने के भय से (अतिष्कदो भियसा) उसे स्थान दे देती है; वह दस्युओं के घर को पहुचती है, (दस्योरोको न....सदन। १।१०४। ५), जिस घर को स्वय दस्युओं ने ही इस रूप में वर्णित किया है कि यह 'रेकु पदम् अलकम्' (१०।१०८।७) है, अर्थात् अनृत का लोक जो कि वस्तुओं की सीमा से परे है। है तो उच्च लोक भी वस्तुओं की सीमा से परे गया हुआ क्योंकि वह इस सीमा से आगे बढा हुआ या इस सीमाको लाघे हुए है, है यह भी "रेकु पदम्", पर 'अलकम्' नही किंतु 'सत्यम्' है, सत्य का लोक है न कि अनृत का लोक। अनृत का लोक है अधकार जो कि ज्ञानरहित है, (तमो अवयुन ततन्वत्)। जब इन्द्र की विशालता बढकर द्यौ तथा पृथिवी और मध्यलोक (अन्तरिक्ष) को लाघ जाती है (रिरिचे), तब वह (इन्द्र) आर्य के लिये, इस (अनृतलोक) के विपरीत, सत्य के और ज्ञान के लोक (वयुनवत्) को रचता है, जो ज्ञान और सत्य का लोक इन तीन लोकों से परे है और इसलिये 'रेकु पदम्' है। इस अन्ध-कार को, इस अधोलोक को जो कि रात्रि और अचेतना का है (वस्तुओं की साकार सत्ता में इस रात्रि और अचेतना का प्रतीक के तौर पर इस रूप में वर्णन किया गया है कि यह वह पर्वत है जो पृथिवी के आभ्यन्तर से उठता है और द्यौ

के पृष्ठ तक जाता है) निरूपित किया गया है उस गुप्त गुफा से जो पहाड़ी के अधोभाग में है, जो गुफा अन्धकार की गुफा है।

पर यह गुफा पणियो का केवल घर है, पणियो का क्रिया-क्षेत्र है पृथिवी तथा द्यौ और मध्य-लोक। पणि अचेतना के पुत्र है, पर स्वयं अपनी क्रिया में वे पूरे-पूरे अचेतन नही है; वे प्रतीयमान ज्ञान के रूपो (मायाः) को रखते है पर ये रूप वस्तुत. अज्ञान के रूप है जिनका सत्य अचेतन के अन्धकार में छिपा हुआ है और इनका उपरितल या अग्रभाग अनृत है, न कि सत्य। क्योकि ससार जैसा यह हमें दीखता है उस अन्धकार मे से निकला है जो कि अन्धकार में छिपा हुआ था (तम आसीत् तमसा गूढम्), उस गम्भीर तथा अगाध जल-प्रवाह मे से निकला है जिसने सब वस्तुओ को आच्छादित किया हुआ था, अचेतन समुद्र (अप्रकेतं सलिलम्) मे से निकला है (देखो, १०-१२९-३')। उस असत् के अन्दर द्रष्टाओ (कवियो) ने हृदय में इच्छा करके और मन में विचार के द्वारा उसे पाया जिससे कि सत्य सत्ता रचित होती है'। वस्तुओं के सत्य का यह 'असत्' उनका प्रथम रूप है, जो अचेतन समुद्र से उद्भूत होता है; और इसका महान् अन्धकार ही वैदिक रात्रि है जो रात्रि 'जगतो निवेशनी' है, जगत् को तथा जगत् की सारी अव्यक्त सभाव्य वस्तुओ को अपने अन्धकार-मय हृदय (वक्ष स्थल) मे धारण किये हुए है (रात्रिम् जगतो निवेशनीम्)। यह रात्रि हमारे इस त्रिगुण लोक पर अपने राज्य को फैलाती है और उस रात्रि के अन्दर से द्यौ मे, मानसिक सत्ता म, उषा पैदा होती है जो उषा सूर्य को अन्धकार म से छुडाती है जहा कि वह छिपा हुआ तथा ग्रहण को प्राप्त हुआ पडा था, और जो 'असत्' मे, रात्रि म, परम दिन के दर्शन को रचती है, (असति प्र केतुम्)। इसलिये यह इन तीन लोकों के अन्दर होता है कि प्रकाश के अधिपतिया (देवो) तथा अज्ञान के अधिपतियो (दस्युओ) के बीच युद्ध चलता है,

---

'तम आसीतमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कवयो मनीषा॥ (ऋ.१०।१२९।४)

अपनी सतत परिवृत्तियों, पर्यायों में से गुजरता हुआ चलता है।

'पणि' शब्द का अर्थ है व्यवहारी, व्यापारी जो कि 'पण' धातु से (तथा 'पन'* से, तुलना करो तामिल 'पण'– करना और ग्रीक 'पोनोस (Ponos)' – श्रम करना) बनता है और पणियों को हम समझकर, यह समझ सकते हैं कि ये वे शक्तियां हैं जो जीवन की उन सामान्य अप्रकाशमान इन्द्रिय-क्रियाओं की अधिष्ठात्रियां हैं जिनका सन्निकृष्ट मूल अन्धकारमय अवचेतन भौतिक सत्ता में होता है, न कि दिव्य मन में। मनुष्य का सारा संघर्ष इसके लिये है कि वह इस क्रिया को हटाकर उसके स्थान में मन और प्राण की प्रकाशयुक्त दिव्य क्रिया को ले आये जो कि ऊपर से और मानसिक सत्ता के द्वारा आती है। जो कोई इस प्रकार की अभीप्सा रखता है, इसके लिये यत्न करता है, युद्ध करता है, यात्रा करता है, *जीवन की पहाड़ी पर आरोहण करता है, वह है आर्य* (आर्य, अर्य, अरि के अनेक अर्थ हैं, श्रम करना, लड़ना, चढ़ना या उदय होना, यात्रा करना, यज्ञ रचना)। आर्य का कर्म है यज्ञ, जो कि एक साथ एक युद्ध और एक आरोहण तथा एक यात्रा है, एक युद्ध है अन्धकार की शक्तियों के विरुद्ध, एक आरोहण है पर्वत की उन उच्चतम चोटियों पर जो द्यावापृथिवी से परे 'स्व' के अन्दर चली गयी हैं, एक यात्रा है नदियों तथा समुद्र के परले पार की, वस्तुओं की सुदूरतम असीमता के अन्दर। आर्य में इस कर्म के लिये संकल्प होता है, वह इस कर्म का कर्ता (कारु, किरि इत्यादि) है, देव जो कि उसके कर्म में अपने बल को प्रदान करते हैं 'सुक्रतु' है, यज्ञ के लिये अपेक्षित शक्ति से पूर्ण है, दस्यु या पणि इन दोनों से विपरीत है, वह 'अक्रतु' है।

---

*सायण 'पन' धातु का अर्थ वेद में 'स्तुति करना' यह लेता है, पर एक स्थान पर उसने 'व्यवहार' अर्थ भी स्वीकार किया है। मुझे प्रतीत होता है कि अधिकांश सन्दर्भों में इसका अर्थ 'क्रिया' है। क्रियार्थक 'पण' से ही, हम देखते हैं, कर्मेंद्रियों के प्राचीन नाम बने हुए हैं, जैसे 'पाणि' अर्थात् हाथ, पैर या खुर, लैटिन पेनिस (Penis), इसके साथ 'पायु' की भी तुलना कर सकते हैं।

आर्य है यज्ञकर्ता 'यजमान' 'यज्यु'; देव जो कि उसके यज्ञ को ग्रहण करते हैं, धारण करते हैं, प्रेरित करते हैं 'यजत' 'यजत्र' हैं, यज्ञ की शक्तियां हैं; दस्यु इन दोनों से विपरीत है, वह 'अयज्यु' है।

आर्य यज्ञ में दिव्य शब्द, गीः, मन्त्र, ब्रह्म, उक्थ को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मा अर्थात् शब्द का गायक है; देव शब्द में आनन्द लेते हैं और शब्द को धारित करते हैं (गीर्वाहसः, गिर्वणसः)। दस्यु शब्द से द्वेष करनेवाले और उसके विनाशक हैं (ब्रह्मद्विषः), वाणी को दूषित या विकृत करनेवाले हैं (मृध्रवचसः)। दस्युओं के पास दिव्य प्राण की शक्ति नहीं है या मुख नहीं है जिससे कि वे शब्द को बोल सकें, वे अनासः (५-२९-१०) हैं और उनके पास शब्द को तथा शब्द के अन्दर जो सत्य रहता है उसे विचारने की, मनोमय करने की शक्ति नहीं है 'अमन्यमानाः' हैं, पर आर्य शब्द के विचारक हैं, 'मन्यमानाः' हैं, विचार को, विचारशील मन को और द्रष्टा-ज्ञान को धारण करनेवाले 'धीर, मनीषी, कवि' हैं, साथ ही देव भी विचार के अत्युच्च विचारक हैं (प्रथमो मनोता धियः, काव्यः)। आर्य देवत्वों के इच्छुक (देवयु, उशिज) हैं, वे यज्ञ द्वारा, शब्द द्वारा, विचार द्वारा, अपनी सत्ता को तथा अपने अन्दर के देवत्वों को वृद्धिगत करना चाहते हैं। दस्यु हैं देवों के द्वेषी (देवद्विषः), देवत्व के बाधक (देवनिदः), जो कि किसी वृद्धि को नहीं चाहते (अवृधः)। 'देव' आर्य पर दौलत बरसाते हैं, आर्य अपनी दौलत देवों को देता है, दस्यु अपनी दौलत को आर्य के पास जाने से रोकता है जबतक कि वह उससे जबर्दस्ती नहीं छीन ली जाती, और वह देवों के लिये अमृतरूप सोम-रस को नहीं निचोडता जो देव इस सोम के आनद को मनुष्य के अदर पैदा करना चाहते हैं, यद्यपि वह 'रेवान्' है, यद्यपि उसकी गुफा गौओं से और घोडों से और खजानों से भरी पडी है (गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टम्), तो भी वह अराधस् है, क्योंकि उसकी दौलत मनुष्य को या स्वयं उसे किसी प्रकार की समृद्धि या आनद नहीं देती—पणि सत्ता का कृपण है। और आर्य तथा दस्यु के बीच संघर्ष में पणि सदा आर्य की प्रकाशमान गौओं को लूट लेना और नष्ट कर देना, चुरा लेना तथा उन्हें फिर से गुफा के

अधकार में छिपा देना चाहता है। "मक्षव को, पणि को, मार डालो, क्योंकि वह भेडिया है (विदारक, 'वृक' है)*।"

यह स्पष्ट है कि ये वर्णन आसानी के साथ मानवीय शत्रुओ की ओर भी लगाये जा सकते हैं और यह कहा जा सकता है कि दस्यु या पणि मानवीय शत्रु थे जो आर्य के सप्रदाय से तथा उसके देवो से द्वेष किया करते थे, पर हम देखेंगे कि इस प्रकार की कोई व्याख्या बिल्कुल असभव है, क्योंकि सूक्त १ ३३ म जहा कि ये विभेद अत्यधिक स्पष्टता के साथ चित्रित किये गये हैं और जहा इन्द्र तथा उसके मानवीय सखाओ का दस्युओ के साथ युद्ध बडे यत्नपूर्वक वर्णित किया गया है, यह सभव नही है कि ये दस्यु, पणि और वृत्र मानवीय योद्धा, मानवीय जातिया या मानवीय लुटेरे हो सकें। हिरण्यस्तूप आगिरसके इस सूक्त में पहिली दस ऋचाए स्पष्टतया गौओ के लिये होनेवाले युद्ध के विषय में हैं और अतएव पणियो के विषय म हैं।

"एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माक सु प्रमति वावृधाति।
अनामृण कुविदादस्य रायो गवा केत परमावर्जते न ॥ (१. ३३ १)

आओ, गौओकी इच्छा रखते हुए हम इन्द्रके पास चले, क्योंकि वही है जो हमारे अदर विचारको प्रवृद्ध करता है, वह अजय है और उसकी सुख-समृद्धिया (राय) पूर्ण है, वह प्रकाशमान गौओंके उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शनको हमारे लिये मुक्त कर देता है (अधकार से जुदा कर देता है)। गवा केत परमावर्जते न (ऋचा १)।

उपेदह धनदामप्रतीत जुष्टा न श्येनो वसति पतामि।
इन्द्र नमस्यन्नुपमेभिरर्कै र्य स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन् ॥ (१. ३३ २)

मै अधर्षणीय ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र) की ओर शीघ्रता से जाता हू जैसे कोई पक्षी अपने प्यारे घोसले की ओर उडकर जाता है, प्रकाश के परम शब्दो के साथ इन्द्र के प्रति नत होता हुआ, उस इन्द्र के प्रति जा कि अपने स्तोताओ द्वारा अपनी यात्रा म अवश्य पुकारा जाता है (ऋचा २)

नि सर्वसेन इषुधीरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वाम मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥ (१. ३३. ३)

---

*जही न्यत्रिण पणि वृको हि ष ॥ ६-५१-१४

वह (इन्द्र) अपनी सब सेनाओं के साथ आता है और उसने अपने तूणीरों को दृढता से बाध रखा है, वह योद्धा है (आर्य है) जो कि जिसके लिये चाहता है गौओं को ला देता है। ' (हमारे शब्द द्वारा) प्रवृद्ध हुए हुए ओ इन्द्र ! अपने प्रचुर आनद को हमसे अपने लिये मत रोक रख, हमारे अदर पणि मन बन।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वाम मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध (ऋचा ३)।"

यह अत का वाक्याश सहसा ध्यान खीचनेवाला है। पर प्रचलित व्याख्या में इसे यह अर्थ देकर कि "हमारे लिये तू कृपण मत हो" इसके वास्तविक बल को खो दिया गया है। इस अर्थ से यह तथ्य ध्यान में नही आता कि पणि दौलत के अवरोधक हैं, वे दौलत को अपने लिये रख लेते हैं और इस दौलत को न वे देव को देते हैं न ही मनुष्य को। इस वाक्याश का अभिप्राय स्पष्टत यही है कि "आनद की अपनी भरपूर दौलत को रखता हुआ तू पणि मत बन, अर्थात् ऐसा मत बन जैसा कि पणि होता है कि वह अपने हाथ में आयी दौलता को केवल अपने ही लिये रखता है और मनुष्य के पास जाने से बचाता है, अभिप्राय हुआ कि आनद को हमसे दूर छिपाकर अपनी पराचेतन गुहा मे मत रख जैसे कि पणि अपनी अवचेतन गुफा में रखे रखता है।"

इसके बाद सूक्त पणि का, दस्यु का तथा पृथिवी और द्यौ को अधिगत करने के लिये उस पणि या दस्यु के साथ इन्द्र के युद्ध का वर्णन करता है।

"वधीर्हि दस्यु धनिनं घनेन एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वान सनका प्रेतिमीयु ॥(१ ३३.४)

नही, अपनी उन शक्तियो के साथ जो कि तेरे कार्य को सिद्ध करती हैं एकाकी विचरता हुआ तू हे इन्द्र ! अपने वज्र द्वारा दौलत से भरे दस्यु का वध कर डालता है, वे जो (त्राणरूप शक्तिया) तेरे धनुष पर चढी हुई थीं पृथक्-पृथक् सब दिशाओ मे तेजी से गयी और वे जो दौलतवाले थे फिर भी यज्ञ नही करते थे अपनी मौत मारे गये। (ऋचा ४)

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभि स्पर्धमाना।
प्र यद् दिवो हरिव स्थातरुग्र निरव्रता अधमो रोदस्यो ॥ (१. ३३ ५)

वे जो कि स्वय यज्ञ नहीं करते थे और यज्ञकर्ताओं से स्पर्धा करते थे उनके

सिर उनसे अलग होकर दूर जा पड़े, जब कि, ओ चमकीले घोड़ों के स्वामिन्! ओ द्यौ में दृढ़ता से स्थित होनेवाले! तूने द्यावापृथिवी से उन्हें बाहर निकाला जो तेरी क्रिया के नियम का पालन नहीं करते (अव्रतान्)। (ऋचा ५)

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वा।

वृषायुधो न वध्रयो निरष्टा प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन्॥(१.३३.६)

उन्होंने निर्दोष (इन्द्र) की सेना से युद्ध ठाना था, नवग्वाओं ने उस (इन्द्र) को प्रयाण में प्रवृत्त किया, उन वधिया बैलों की तरह जो कि साँड (वृषा) से लड़ते हैं वे बाहर निकाल दिये गये, वे जान गये कि इन्द्र क्या है और ढलानों से उसके पास से नीचे भाग आये। (ऋचा ६)

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे।

अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः॥ (१-३३-७)

ओ इन्द्र! तूने उनसे युद्ध किया जो मध्यलोक के परले किनारे पर (रजस पारे, अर्थात् द्यौ के सिरे पर) हंस रहे थे और रो रहे थे, तूने उच्च द्यौ में दस्यु को बाहर निकालकर जला डाला, तूने उसके कथन की पालना की जो तेरी स्तुति करता है और सोम अर्पित करता है। (ऋचा ७)

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।

न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण॥ (१ ३३.८)

पृथिवी के चारों ओर चक्र बनाते हुए वे सुनहरी मणि ('मणि' यह सूर्य के लिये एक प्रतीक शब्द है) के प्रकाश में चमकने लगे, पर अपनी सारी दौड़-धूप करते हुए भी वे इन्द्र को लाँघकर आगे नहीं जा सके, क्योंकि उस (इन्द्र) ने सूर्य द्वारा चारों तरफ गुप्तचर बैठा रखे थे। (ऋचा ८)

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम्।

अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र॥ (१.३३.९)

जब तूने द्यावापृथिवी को चारों तरफ अपनी महत्ता से व्याप्त कर लिया तब जो (सत्य को) नहीं विचार सकते उनपर विचार करनेवालों द्वारा आक्रमण करके (अमन्यमानान् अभि मन्यमानैः) तूने ओ इन्द्र! शब्द के वचनों द्वारा (ब्रह्मभिः) दस्यु को बाहर निकाल दिया। (ऋचा ९)

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन्।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्॥ (१. ३३. १०)

उन्होंने द्यौ और पृथिवी के अन्त को नहीं पाया और वे अपनी मायाओं से ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र) को पराजित नहीं कर सके, वृषभ इन्द्र ने वज्र को अपना सहायक बनाया, प्रकाश द्वारा उसने जगमगाती गौओं को अंधकार में से दुह लिया। (ऋचा १०)"

यह युद्ध पृथिवी पर नहीं किंतु अन्तरिक्ष के परले किनारे पर होता है, दस्यु वज्र की ज्वालाओं द्वारा द्यौ से बाहर निकाल दिये जाते हैं, वे पृथिवी का चक्कर काटते हैं और द्यौ तथा पृथिवी दोनों से बाहर निकाल दिये जाते हैं, क्योंकि वे द्यौ में या पृथिवी में कहीं भी जगह नहीं पा सकते, क्योंकि द्यावापृथिवी सारा-का-सारा अब इन्द्र की महत्ता से व्याप्त हो गया है, न ही वे इन्द्र के वज्रों से बचकर कहीं छिप सकते हैं, क्योंकि सूर्य अपनी किरणों से इन्द्र को गुप्तचर दे देता है और उन गुप्तचरों को वह इन्द्र चारों तरफ नियुक्त कर देता है, और उन किरणों की चमक में पणि ढूंढ लिये जाते हैं। यह आर्य तथा द्राविड़ जातियों के बीच हुए किसी पार्थिव युद्ध का वर्णन नहीं हो सकता; न यह वज्र ही भौतिक वज्र हो सकता है क्योंकि भौतिक वज्र का तो रात्रि की शक्तियों के विनाश से तथा अन्धकार में से उषा की गौओं के दुहे जाने से कोई संबंध नहीं है। तब यह स्पष्ट है कि ये यज्ञ न करनेवाले, ये शब्द के द्वेषी जो कि इसके विचारने तक में असमर्थ हैं, कोई आर्य सम्प्रदाय के मानवीय शत्रु नहीं हैं। ये तो शक्तियां हैं जो स्वयं मनुष्य के ही अंदर द्यौ तथा पृथिवी को अधिगत करने का यत्न करती हैं। ये दानव हैं, द्रवीड़ी नहीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वे शक्तियां "पृथिवी तथा द्यौ की सीमा (अंत)" को पाने का यत्न तो करती हैं, पर पाने में असफल रहती हैं, हम अनुमान कर सकते हैं कि ये शक्तियां पृथिवी तथा द्यौ से परे स्थित उस उच्चतर लोक को जो कि केवल शब्द और यज्ञ द्वारा ही जीता जा सकता है, शब्द या यज्ञ के बिना ही अधिगत कर लेना चाहती हैं। वे अज्ञान के नियम से शासित होकर सत्य को अधिगत करना चाहती हैं, पर पृथिवी या द्यौ की सीमा को पाने में असमर्थ

रहती है, केवल इन्द्र और देव ही हैं जो इस प्रकार मन, प्राण और शरीर के विधि-नियम को पार करके आगे जा सकते हैं, जब कि पहले वे इन तीनोंको अपनी महत्ता से परिपूर्ण कर लेते हैं। सरमा (१० १०८ ६ में) पणियों की इसी महत्त्वाकांक्षा की तरफ संकेत कर रही प्रतीत होती है—"हे पणियो! तुम्हारे वचन प्राप्त करने में असमर्थ रहें, तुम्हारे शरीर पापी और अशुभ हों, अपने चलने के लिये तुम मार्ग को धृष्ट न कर सको, बृहस्पति तुम्हें (दिव्य तथा मानुष) दोनों लोकों के सुख को न दे।"[1]

पणि सचमुच गर्व के मद में यह प्रस्ताव रखते हैं कि 'हम इन्द्र के मित्र हो जायगे, यदि वह हमारी गुफा में आ जायगा और हमारी गौओं का रखवाला बन जायगा।'[2] इसका सरमा यह उत्तर देती है कि 'इन्द्र तो सबको पराजित करनेवाला है, स्वय वह पराजित तथा पीडित नहीं हो सकता।'[3] और फिर पणि सरमा से यह प्रस्ताव करते हैं कि 'हम तुझे बहिन बना लेंगे यदि तू हमारे साथ रहने लगेगी और उस सुदूर लोक को नहीं लौटेगी जहा से तू देवों की शक्ति द्वारा सब बाधाओं को मुकाबला करके (प्रबाधिता सहसा दैव्येन) आयी है।'[4] सरमा उत्तर देती है, "न मैं भाईपने को जानती हू, न बहिनपने को, इन्द्र और घोर अंगिरस् जानें, गौओं की कामना करते हुए उन्होंने मेरा पालन किया है जब कि मैं आयी हू, चले जाओ यहांसे, ओ पणियो! किसी प्रशस्त स्थान को (मत्र १०)। यहांसे कहीं दूर प्रशस्त स्थान को चले जाओ, ओ पणियो! गौएं जिन्हें कि तुमने बन्द कर रखा है सत्य द्वारा ऊपर चली जाय, वे छिपी हुई गौएं जिन्हें बृहस्पति ने ढूंढा है और सोम ने व अभिषव के पत्थरों (ग्रावाणः) ने तथा प्रकाशयुक्त द्रष्टाओं ने (ढूंढा

---

[1]असेन्या वः पणयो वचांसि, अनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था, बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥ (१०. १०८. ६)
[2]आ च गच्छान् मित्रमेना दधाम, अथा गवां गोपतिर्नो भवाति। (३)
[3]नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स, यस्येदं दूतीरसरं पराकात्। (४)
[4]एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥ (१०-१०८-९)

हैं)।" (मन्त्र ११)*

सूक्त ६ ५३ में, जोकि पुष्टिकर्ता पूषा के नाम से सूर्य को सबोधित किया गया एक सूक्त है, हम यह विचार भी पाते हैं कि पणि स्वेच्छासे अपने खजानेको दे दें।

वयमु त्वा पथस्पते रथ न वाजसातये। धिये पूषन्नयुज्महि॥ (ऋ.६ ५३.१)

"हे मार्ग के अधिपति पूषन्! हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के लिये, विचार के लिये, रथ की न्याई तुझे नियुक्त करते हैं। (मन्त्र १)

अदित्सन्त चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।

पणेश्चिद् वि म्रदा मन॥ (६ ५३.३)

हे प्रकाशमान पूषन्! उस पणि को भी जो कि नही देता है, तू देने के लिये प्रेरित कर, पणि के भी मन को तू मृदु कर दे। (मन्त्र ३)

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि। साधन्तामुग्र नो धिय॥(६।५३।४)

उन मार्गों को तू चुनकर पृथक् कर दे जो मार्ग ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने के लिये है, आक्रान्ताओ का वध कर डाल, हमारे विचार पूर्णता को प्राप्त हो जावे। (मन्त्र ४)

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे। अथेमस्मभ्य रन्धय॥(६।५३।५)

हे द्रष्ट! अपने अकुश से पणियो के हृदया को विद्ध कर, इस प्रकार उन्हे हमारे वश कर दे। (मन्त्र ५)

वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम्। अथेमस्मभ्य रन्धय॥(६।५३।६)

अपने अकुश से, हे पूषन्! तू उनपर प्रहार कर और पणि के हृदय में हमारे आनद की इच्छा कर, इस प्रकार उसे हमारे वश कर दे। (मन्त्र ६)

या पूषन् ब्रह्मचोदनीमारा बिभर्ष्याघृणे।

तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु॥ (६ ५३ ८)

---

*नाह वेद भ्रातृत्व नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोरा।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीय॥ (१०।१०८।१०)
दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हा सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्रा॥(१०।१०८।११)

जिस ऐसे अंकुश को तू धारण करता है जो शब्द को उठने के लिये प्रेरित करनेवाला है उससे, हे प्रकाशमान पूषन्! तू सबके हृदयों पर अपना लेख लिख दे और उन हृदयों को छितरा हुआ कर दे, (इस प्रकार उन्हें हमारे वश कर दे)। (मंत्र ८)

या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी।

तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥ (६.५३.९)

जो तेरा अंकुश ऐसा है जिसमें तेरी किरण नोक का काम करती है और जो पशुओं को पूर्ण बनानेवाला है (अभिप्राय है, ज्ञान-दर्शन के पशुओं को, पशुसाधनी, तुलना करो चतुर्थ ऋचा में आये "साधन्तां धियं" से) उस (अंकुश) के आनंद को हम चाहते हैं। (मंत्र ९)

उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत।

नृवत् कृणुहि वीतये ॥ (६.५३.१०)

हमारे लिये उस विचार को रच, जो गौ को जीत लेनेवाला है, जो घोड़े को जीत लेनेवाला है और जो दौलत की पूर्णता को जीत लेनेवाला है।' (मंत्र १०)

पणियों के इस प्रतीक की हमने जो व्याख्या की है यदि वह ठीक है तब इस सूक्त में वर्णित विचार पर्याप्त रूप से समझ में आ सकते हैं और इसके लिये ऐसी आवश्यकता नहीं है, जैसा कि सायण ने किया है, कि पणि शब्द में जो सामान्य आशय अन्तर्निहित है उसे अलग कर दिया जाय और पणि का अर्थ केवल 'कृपण, लुब्ध मनुष्य' इतना ही समझा जाय और यह समझा जाय कि इस कृपण के ही संबंध में भूख से मारा हुआ कवि इस प्रकार दीनतापूर्वक सूर्य-देवता से प्रार्थना कर रहा है कि तू इसे मृदु कर दे और देनेवाला बना दे। वैदिक विचार यह था कि अवचेतन अंधकार के अंदर तथा सामान्य अज्ञान के जीवन में वे सब ऐश्वर्य छिपे पड़े हैं जो दिव्य जीवन से संबंध रखते हैं और इन गुप्त ऐश्वर्यों को फिर से प्राप्त किया जाना आवश्यक है और उसका उपाय यह है कि पहले तो अज्ञान की अनुतापरहित शक्तियों का विनाश किया जाय और फिर निम्न जीवन का उच्च जीवन के अधीन किया जाय।

इन्द्र के संबंध में, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कहा गया है कि वह दस्यु का

या तो वध कर देता है या उसे जीत लेता है और उसकी दौलत आर्य को दिलवा देता है। इसी प्रकार सरमा भी पणियों के साथ बंधुत्व कायम कर संधि कर लेने से इन्कार कर देती है, बल्कि उन्हें यह सलाह देती है कि तुम अपने-आपको समर्पण कर दो और देवों तथा आर्यों के आगे झुक जाओ, और बंद की हुई गौओं को ऊपर आरोहण करने के लिये छोड दो और तुम स्वय इस अंधकार को छोडकर किसी प्रशस्त स्थान को चले जाओ (आ वरीय)। और यह प्रकाशमान द्रष्टा, सत्य के अधिपति पूषा का जो अंकुश है उसके अविरत स्पर्श से होता है कि पणि का हृदय-परिवर्तन हो जाता है—उस अंकुश के जो कि बन्द हृदय को भग्न कर खोल देता है और इसकी गहराइयों से पवित्र शब्द को उठने देता है, उस चमकीली नोक-वाले अंकुश के जो कि जगमगाती गौओं को पूर्ण बनाता है, प्रकाशमान विचारों को सिद्ध करता है, तब सत्य का देवता इस पणि के अधकारपूर्ण हृदय में भी उसीकी इच्छा करने लगता है जिसकी आर्य इच्छा करता है। इस प्रकार प्रकाश तथा सत्य की इस गहराई तक पहुचनेवाली क्रिया द्वारा यह होता है कि सामान्य अज्ञान-मय इन्द्रिय-क्रिया की शक्तिया आर्य के वशवर्ती हो जाती है।

परतु साधारणत पणि आर्य के शत्रु, दास है। 'दास' अधीनता या सेवा के अर्थ में नही बल्कि विनाश या क्षति के अर्थ में (दास का अर्थ सेवक भी है जब कि यह करणार्थक 'दस्' से बनता है, 'दास या 'दस्यु का दूसरा अर्थ है शत्रु, लुटेरा और यह उस 'दस्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है विभक्त करना, चोट मारना, क्षति पहुचाना, पणि आर्य के दास इस दूसरे अर्थ म ही है)। पणि लुटेरा है जो कि प्रकाश की गौओ को, वेग के घोडो को और दिव्य ऐश्वर्य के खजानो को बलपूर्वक छीन ले जाता है, वह भेडिया है, भक्षक है, 'वृक' है 'अत्रि है, वह शब्द को बाधा डालकर रोकनेवाला (निद्) और शब्द को विकृत करनेवाला है। वह शत्रु है, चोर है, झूठा या बुरा विचार करनेवाला है जो कि अपनी लूटमारों से और बाधाओ से मार्ग को दुर्गम बना देता है, "शत्रु को, चोर को, कुटिल को जो कि विचार को झूठे रूप में स्थापित करता है, हमसे बहुत दूर बिलकुल परे कर दे, हे सत्ता के पति! हमारे मार्ग को आसान यात्रावाला कर दे। . . . पणि का वध कर दे, क्योंकि वह भेडिया है जो

कि गा जानेवाला है।"[1] (६ ५१ १३, १४)।

यह आवश्यक है कि उसका आक्रमण के लिये उठना देवों के द्वारा रोका जाय। "इस देव (सोम) ने जन्म पाकर, सहायक के रूप में इन्द्र को साथ लेकर बल के जोर से पणि को रोक दिया"[2] और स्व को, सूर्य को तथा सब ऐश्वर्यों को जीत लिया (६ ४४)। पणियों को मार डालना या भगा देना अभीष्ट है जिससे कि उनके ऐश्वर्य उनसे छीने जा सकें तथा उच्चतर जीवन को समर्पित किये जा सकें। "तू जिसने कि पणि को लगातार भिन्न भिन्न श्रेणियो म विभक्त कर दिया, तेरे ही ये जबर्दस्त दान हैं, हे सरस्वति। सरस्वति! देवो के बाधकों को कुचल डाल"[3] (६ ६१)। 'हे अग्नि और सोम! तब तुम्हारी शक्ति जागृत हुई थी जब कि तुमने पणि के पास से गौएं लूटी थी और बहुतो के लिये एक ज्योति को पा लिया था।'[4] (१-९३ ४)

जब कि देव यज्ञ के लिये उषा में जागृत होते हैं तब कहीं ऐसा न हो कि पणि भी यज्ञ की सफल प्रगति में बाधा डालने के लिये जाग उठें, सो उन्हे अपनी गुफा के अन्धकार में सोया पडा रहने दो। "हे ऐश्वर्यों की सम्राज्ञी उष! उन्हे तू जगा दे जो हमें परिपूर्ण करते हैं (अर्थात् जो देव हैं), पर पणियो को न जगाते हुए सोया पडा रहने दे। हे ऐश्वर्यों की सम्राज्ञी! ऐश्वर्य के अधिपतियो के लिये तू ऐश्वर्यों को साथ लेकर उदित हो हे सत्यमयी उष! उसके लिये तू ऐश्वर्यों को साथ लेकर (उदित) हो जो तेरा स्तोता है। यौवन में भरी हुई वह (उषा) हमारे आगे चमक रही है उसने अरुण गौओ के समूह को रच

---

[1]अप त्य वृजिन रिपु स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्टमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥
. जही न्यत्रिण पणि वृको हि ष ॥ (६।५१।१३, १४)

[2]'अय देव सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्"। (६ ४४ २२)

[3]'या शश्वन्तमाचखादावस पणि ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति।
सरस्वति देवनिदो निबर्हय॥' (६ ६१ १, ३)

[4]'अग्नीषोमा चेति तद वीर्यं वा यदमुष्णीतमवस पणि गा ।
(अवातिरत बृसयस्य शेष) अविन्दत ज्योतिरेक बहुभ्य ॥ (१ ९३ ४)

न्यिा है, असत् में दर्शन विशाल रूप में उदित हो गया है" (१-१२४-१० -११)। या फिर इसी बात को ४-५१ में देख सकते हैं–"देखो, हमारे आगे वह ज्ञान से परिपूर्ण श्रेष्ठतम प्रकाश अन्धकार में से उदित हो गया है, द्यौ की पुत्रियां विशाल रूप में चमक रही हैं, इन उषाओं ने मनुष्य के लिये मार्ग रच दिया है (मन्त्र १)। उषाएं हमारे आगे खड़ी हुई हैं जैसे कि यज्ञों में स्तम्भ, विशुद्ध रूप में उदित होती हुई और पवित्र करनेवाली उन (उषाओं) ने बाड़े के, अन्धकार के द्वारों को खोल दिया है (मन्त्र २)। आज उदित होती हुई उषाएं सुख-भोक्ताओं को समृद्ध आनन्द देने के लिये ज्ञान में जागृत कर रही हैं, अन्धकार के मध्य में जहां कि प्रकाश क्रीडा नहीं करता पणि न जागते हुए सोये पड़े रह (मन्त्र ३)[१]।" इसी निम्न अन्धकार के अन्दर वे पणि उच्च लोकों से निकाल कर डाल दिये जाने चाहियें और उषाओं को जिन्हें कि पणियों ने उस रात्रि में कैद कर रखा है चढाकर सर्वोच्च लोकों में पहुचा देना चाहिये। इसलिये वेद में कहा है–

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥(७-६-३)

"जो पणि कुटिलता की गांठ पैदा करनेवाले हैं, जो कर्मों को करने का सकल्प

---

[१]प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।
रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत् स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती ॥१०॥
अवेयमश्वैद् युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
वि नूनमुच्छादसति प्र केतु (र्गृहं गृहमुप तिष्ठाते अग्निः) ॥११॥(ऋ.१-१२४)
इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥
अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥
उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ४।५१।१, २, ३

नहीं रखते, जो वाणी को विकृत करनेवाले हैं, जो श्रद्धा नहीं रखते, जो वृद्धि को नहीं प्राप्त होते, जो यज्ञ नहीं करते, उन पणियों को अग्नि ने दूर, बहुत दूर खदेड़ दिया; उस पूर्व अर्थात् प्रकृष्ट या उच्च (अग्नि) ने जो यज्ञ नहीं करना चाहते उन (पणियों) को सबसे नीचे अपर कर दिया ॥३॥

यो अपाचीने तमसि मदन्ती प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः ...।

और उनको (गौओं को, उषाओं को) जो कि निम्न अन्धकार में आनन्द ले रही थीं, अपनी शक्तियों से उस नृतम (अग्नि) ने सर्वोच्च (लोक) की तरफ प्रेरित कर दिया ॥४॥

यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार।

उसने अपने आघातों से उन दीवारों को जो कि सीमित करनेवाली थीं तोड़ गिराया, उसने उषाओंको आर्यकी सहचारिणी, अर्यपत्नी कर दिया ॥५॥ ' नदियाँ और उषाएं जब 'वृत्र' या 'वल' के कब्जे में होती हैं तब वे 'दासपत्नी' कही गयी हैं, देवकी क्रिया द्वारा वे 'अर्यपत्नी' बन जाती हैं, आर्यकी सहचारिणी हो जाती हैं।

अज्ञान के अधिपतियों का वध कर देना चाहिये या उन्हें सत्य का और सत्य के अन्वेष्टाओं का दास बना देना चाहिये, परन्तु पणियों के पास जो दौलत है उसे पा लेना मानवीय परिपूर्णता के लिये अनिवार्य है, इन्द्र मानो "पणि के दौलत से अधिकतम भरे मूर्धा पर" खड़ा हो जाता है, (**पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। ऋ ६-४५-३१**)। वह स्वयमेव प्रकाश की गौ और वेग का घोड़ा बन जाता है[1] और सदा प्रवृद्ध होती रहनेवाली सहस्रों गुणा दौलत का वरसा देता है[2]। पणिवाली उस प्रकाशमान दौलत की परिपूर्णता और द्यौ की तरफ आरोहण, जैसा कि हमें पहले से ही मालूम है, अमरत्व का मार्ग है और अमरत्व का जन्म है। "अंगिरा ने (सत्य की) सर्वोच्च अभिव्यक्ति (वय) को धारण किया, उन (अंगिरसों) ने जिन्होंने कर्म की पूर्ण सिद्धि द्वारा अग्नि को प्रज्वलित किया था, उन्होंने पणि के सारे सुख भोग को, इसके घोड़ोंवाले और

---

[1] **गौरसि वीर गव्यते, अश्वो अश्वायते भव। (ऋ ६।४५।२६)**

[2] **यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा राति सहस्रिणी। (६।४५।३२)**

गौओंवाले पशु-समूह को, अपने हस्तगत कर लिया (१.८३.४)। यज्ञों द्वारा सर्वप्रथम अथर्वा ने पथ का निर्माण किया, उसके बाद सूर्य पैदा हुआ जो कि 'व्रतपा' और 'वेन' अर्थात् नियम का रक्षक और आनन्दमय है (ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि)। उशना काव्य ने गौओं को ऊपर की तरफ हांक दिया। इनके साथ हम चाहते हैं कि यज्ञ द्वारा उस अमरत्व को पा सकें जो कि नियम के अधिपति के पुत्र के तौर पर उत्पन्न हुआ है (१.८३.५)*" यमस्य जातममृतं यजामहे।

अंगिरा द्रष्टा-संकल्प (Seer-Will) का द्योतक ऋषि है, अथर्वा दिव्य पथ पर यात्रा का ऋषि है, उशना काव्य उस द्युमुखी इच्छा का ऋषि है जो इच्छा द्रष्टा-ज्ञान में से पैदा होती है। अंगिरस उन ज्योतियों की दौलत को और सत्य की शक्तियों को जीतते हैं जो कि निम्न जीवन के तथा निम्न जीवन की कुटिलताओं के पीछे छिपी पड़ी थीं; अथर्वा उनकी शक्ति में पथ का निर्माण कर देता है और तब प्रकाश का अधिपति सूर्य पैदा हो जाता है जो कि दिव्य नियम का तथा यम-शक्ति का संरक्षक है, उशना हमारे विचार की प्रकाशात्मक गौओं को सत्य के उस पथ पर हांकता हुआ ऊपर उस दिव्य आनन्द तक पहुंचा देता है जो कि सूर्य में रहता है; इस प्रकार सत्य के नियम में से वह अमरत्व पैदा हो जाता है जिसकी आर्य-आत्मा यज्ञ द्वारा अभीप्सा किया करता है।

---

*आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥४॥
यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

नहीं रखते, जो वाणी को विकृत करनेवाले हैं, जो श्रद्धा नहीं रखते, जो वृद्धि को नहीं प्राप्त होते, जो यज्ञ नहीं करते, उन पणियों को अग्नि ने दूर, बहुत दूर खदेड़ दिया; उस पूर्व अर्थात् प्रकृष्ट या उच्च (अग्नि) ने जो यज्ञ नहीं करना चाहते उन (पणियों) को सबसे नीचे अपर कर दिया ॥३॥

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः ...।

और उनको (गौओं को, उषाओं को) जो कि निम्न अन्धकार में आनन्द ले रही थी, अपनी शक्तियों से उस नृतम (अग्नि) ने सर्वोच्च (लोक) की तरफ प्रेरित कर दिया ॥४॥

यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार।

उसने अपने आघातों से उन दीवारों को जो कि सीमित करनेवाली थीं तोड़ गिराया, उसने उषाओंको आर्यकी सहचारिणी, अर्यपत्नी कर दिया ॥५॥" नदियां और उषाएं जब 'वृत्र' या 'वल' के कब्जे में होती हैं तब वे 'दासपत्नी' कही गयी हैं, देवोंकी क्रिया द्वारा वे 'अर्यपत्नी' बन जाती हैं, आर्यकी सहचारिणी हो जाती हैं।

अज्ञान के अधिपतियों का वध कर देना चाहिये या उन्हें सत्य का और सत्य के अन्वेष्टाओं का दास बना देना चाहिये, परन्तु पणियों के पास जो दौलत है उसे पा लेना मानवीय परिपूर्णता के लिये अनिवार्य है, इन्द्र मानो "पणि के दौलत के उच्चितम भरे मूर्धा पर" खड़ा हो जाता है, (पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। ऋ ६-४५-३१)। वह स्वयमेव प्रकाश की गौ और वेग का घोड़ा बन जाता है[1] और सदा प्रवृद्ध होती रहनेवाली सहस्रों गुणा दौलत को बरसा देता है[2]। पणिवाली उस प्रकाशमान दौलत की परिपूर्णता और द्यौ की तरफ आरोहण, जैसा कि हमें पहले से ही मालूम है, अमरत्व का मार्ग है और अमरत्व का जन्म है। "अंगिरा ने (सत्य की) सर्वोच्च अभिव्यक्ति (वय) का धारण किया, उन (अंगिरसा) ने जिन्होंने कर्म की पूर्ण सिद्धि द्वारा अग्नि को प्रज्वलित किया था; उन्होंने पणि के सारे सुख-भोग को, इसके घोड़ोंवाले और

---

[1]गौरसि वीर गव्यते, अश्वो अश्वायते भव। (ऋ. ६।४५।२६)

[2]यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी। (६।४५।३२)

गौओवाले पशु-समूह को, अपने हस्तगत कर लिया (१८३.४)। यज्ञों द्वारा सर्वप्रथम अथर्वा ने पथ का निर्माण किया, उसके बाद सूर्य पैदा हुआ जो कि 'व्रतपा' और 'वेन' अर्थात् नियम का रक्षक और आनन्दमय है (तत. सूर्यो व्रतपा वेन आजनि)। उशना काव्य ने गौओं को ऊपर की तरफ हांक दिया। इनके साथ हम चाहते है कि यज्ञ द्वारा उस अमरत्व को पा सकें जो कि नियम के अधिपति के पुत्र के तौर पर उत्पन्न हुआ है (१८३.५)*" यमस्य जातममृत यजामहे।

अगिरा द्रष्टा-संकल्प (Seer-Will) का द्योतक ऋषि है, अथर्वा दिव्य पथ पर यात्रा का ऋषि है, उशना काव्य उस द्युमुखी इच्छा का ऋषि है जो इच्छा द्रष्टा-ज्ञान में से पैदा होती है। अगिरस उन ज्योतियों की दौलत को और सत्य की शक्तियों को जीतते है जो कि निम्न जीवन के तथा निम्न जीवन की कुटिलताओं के पीछे छिपी पडी थी, अथर्वा उनकी शक्ति मे पथ का निर्माण कर देता है और तब प्रकाश का अधिपति सूर्य पैदा हो जाता है जो कि दिव्य नियम का तथा यम-शक्ति का सरक्षक है, उशना हमारे विचार की प्रकाशात्मक गौओं को सत्य के उस पथ पर हाकता हुआ ऊपर उस दिव्य आनन्द तक पहुचा देता है जो कि सूर्य मे रहता है, इस प्रकार सत्य के नियम में से वह अमरत्व पैदा हो जाता है जिसकी आर्य-आत्मा यज्ञ द्वारा अभीप्सा किया करता है।

---

*आदङ्गिरा प्रथम दधिरे वय इद्धाग्नय शम्या ये सुकृत्यया।
सर्व पणे समविन्दन्त भोजनमश्वावन्त गोमन्तमा पशु नर ॥४॥
यज्ञैरथर्वा प्रथम पथस्तते तत सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्य सचा यमस्य जातममृत यजामहे ॥५॥

चौबीसवाँ अध्याय

परिणामों का सार

अब हम ऋग्वेद में आनेवाले अंगिरस कथानक की, सभी सम्भव पहलुओं को लेकर तथा इसके मुख्य प्रतीकों सहित, सर्मापता के साथ परीक्षा कर चुके हैं और अब इस स्थिति में हैं कि इसमें हमने जिन परिणामों को निकाला है उन्हें यहां निश्चयात्मकता के साथ संक्षेप से वर्णित कर दें। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, अंगिरसों का कथानक तथा वृत्र की गाथा ये दो वेद के आधारभूत रूपक हैं, ये सारे वेद में पाये जाते हैं और बार-बार आते हैं, ये सूक्तों में इस रूप में आते हैं मानो ये प्रतीकात्मक अलंकारवर्णना के दो घनिष्ठतया आपस में जुड़े हुए मुख्य तार हैं और इन्हीं के चारों ओर अवशिष्ट सारा वैदिक प्रतीकवाद बाने की तरह ओतप्रोत हुआ-हुआ है। यही नहीं कि ये इसके केन्द्रभूत विचार हैं बल्कि ये इस प्राचीन रचना के मुख्य स्तम्भ हैं। जब हम इन दो प्रतीकात्मक रूपकों के अभिप्राय को निश्चित कर लेते हैं तो मानो हमने सारी ही ऋक्-संहिता का अभिप्राय निश्चित कर लिया। क्योंकि यदि वृत्र और जल बादल और वर्षा के तथा पञ्जाब की सात नदियों के प्रवाहित हो पड़ने के प्रतीक हैं और यदि अंगिरस भौतिक उषा के लानेवाले हैं तो वेद प्राकृतिक घटनाओं का एक प्रतीकवाद है जिसमें कि इन प्राकृतिक घटनाओं को देवों और ऋषियों तथा उपद्रवी दानवों का सजीव रूप देकर वर्णन किया गया है। और यदि 'वृत्र' और 'बल' द्रवीडी देवता हैं तथा 'पणि' और 'वृत्रा' मानवीय शत्रु हैं तो वेद द्राविड भारत पर प्रकृतिपूजक जंगलियों द्वारा किये गये आक्रमण का एक कवितामय तथा कथात्मक उपाख्यान है। किन्तु इस सबके विपरीत यदि वेद प्रकाश और अन्धकार, सत्य और अनृत, ज्ञान और अज्ञान, मृत्यु और अमरता की आध्यात्मिक शक्तियों के मध्य होनेवाले संघर्ष का एक प्रतीकवाद है तो यही असली वेद है, यही सम्पूर्ण वेद का वास्तविक आशय है।

'हमने यह परिणाम निकाला है कि अंगिरस ऋषि उषा के लानेवाले हैं, सूर्य को अन्धकार मे से छुडानेवाले हैं, पर ये उषा, सूर्य, अन्धकार प्रतीकरूप हैं जो कि आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त किये गये हैं। वेद का केन्द्रभूत विचार है अज्ञान के अन्धकार मे से सत्य की विजय करना तथा सत्य की विजय द्वारा साथ मे अमरता की भी विजय कर लेना। क्योकि वैदिक ऋतम् जहा मनोवैज्ञानिक विचार है वहा आध्यात्मिक विचार भी है। यह 'ऋतम्' अस्तित्व का सत्य सत्, सत्य चैतन्य, सत्य आनन्द है जो कि इस शरीररूप पृथिवी, इस प्राणशक्तिरूप अन्तरिक्ष, इस मनरूप सामान्य आकाश या द्यौ मे परे है। हम इन सब स्तरो को पार करके आगे जाना है ताकि हम उस पराचेतन सत्य के उच्च स्तर मे पहुच सके जो कि देवो का स्वकीय घर है और अमरत्व का मूल है। यही 'स्व' का लोक है जिस तक पहुचने के लिये अंगिरसो ने अपनी आगे आनेवाली सन्ततियो के लाभार्थ मार्ग को ढढा है।

अंगिरस एक साथ दोनो है, एक तो दिव्य द्रष्टा जो कि देवो के विश्वसम्बन्धी तथा मानवसम्बन्धी कार्यों मे सहायता करते है, और दूसरे उनके भमिष्ठ प्रतिनिधि, पूर्वज पितर, जिन्होने कि सर्वप्रथम उस ज्ञान को पाया था जिसके वैदिक सूक्त गीत हैं, सस्मरण है और फिर से नवीन रूप मे अनुभव करने योग्य सत्य हैं। सात दिव्य अंगिरस अग्नि के पुत्र या अग्नि की शक्तिया है, द्रष्टा-सकल्प की शक्तिया है और यह 'अग्नि' या 'द्रष्टा-सकल्प' है दिव्य शक्ति की दिव्य ज्ञान से उद्दीप्त वह ज्वाला जो विजय के लिये प्रज्वलित की जाती है। भृगुओं ने तो पार्थिव सत्ता की वृद्धियो (उपचयो) मे छिपी हुई इस ज्वाला को ढूढा है, पर अंगिरस इस ज्वाला का यज्ञ की वेदी पर प्रज्वलित करते हैं और यज्ञ को यज्ञिय वर्ष के काल विभागो मे लगातार जारी किये रखते है जो कि काल विभाग उस दिव्य प्रयास के कालविभागो के प्रतीक है जिसके द्वारा सत्य का सूर्य अन्धकार मे से निकालकर पुन प्राप्त किया जाता है। वे जो इस वर्ष के नौ महीनो तक यज्ञ करते है नवग्वा है नौ गौओ या किरणो के द्रष्टा है, जो कि सूर्य की गौओ की खोज को आरभ करते है और पणियो के साथ युद्ध करने के लिये इन्द्र को प्रयाण मे प्रवृत्त करते है। वे जो दस महीनो तक यज्ञ

करते हैं बतलाया है, इन ऋचाओं के द्रष्टा हैं, जो कि इन्द्र के साथ पणियों की गुफा के अन्दर घुसते हैं और खोई हुई गौओं को वापिस ले आते हैं।

यज्ञ यह है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह उच्चतर या दिव्य स्वभाव को अर्पित कर दे, और इस यज्ञ का फल यह होता है कि उसका मानुष्य देवों के मुक्तहस्त दान के द्वारा और अधिक समृद्ध हो जाता है। दौलत जो इस प्रकार यज्ञ करने से प्राप्त होती है आध्यात्मिक ऐश्वर्य, समृद्धि, आनन्द की अवस्था में निमित्त होती है और यह अवस्था स्वयं यात्रा में सहायक होने वाली एक शक्ति है और युद्ध की एक शक्ति है। क्योंकि यज्ञ एक यात्रा है, एक प्रगति है, यज्ञ स्वयं यात्रा करता है जो उसकी यात्रा 'अग्नि' को नेता बनाकर दिव्य मार्ग से देवों के प्रति होती है और 'स्व' के दिव्य लोक के प्रति अंगिरस पितरों का आरोहण इसी यात्रा का आदर्श रूप (नमूना) है। अंगिरस-पितरों की यह आदर्श यज्ञ-यात्रा एक युद्ध भी है क्योंकि पणि, वृत्र तथा पाप और अनृत की अन्य शक्तियां इस यात्रा का विरोध किया करती हैं और इस युद्ध का इन्द्र तथा अंगिरस ऋषियों की पणियों के साथ लड़ाई एक मुख्य उदाहरण है।

यज्ञ के प्रधान अंग हैं दिव्य ज्वाला को प्रज्वलित करना, 'घृत' की तथा सोम-रस की हवि देना और पवित्र शब्द का गान करना। स्तुति तथा हवि के द्वारा देव प्रवृद्ध होते हैं, उनके लिये कहा गया है कि वे मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होते हैं, रचे जाते हैं या अभिव्यक्त होते हैं तथा यहां अपनी वृद्धि और महत्ता से वे पृथिवी और द्यौ को अर्थात् भौतिक और मानसिक सत्ता को इनका अधिक-से-अधिक जितना ग्रहणसामर्थ्य होता है उतना बढ़ा देते हैं और फिर, इन्हें अतिक्रान्त करके, अवसर आने पर उच्चतर लोकों या स्तरों की रचना करते हैं। उच्चतर सत्ता दिव्य है, असीम है जिसका चमकीली गौ, असीम माता, अदिति प्रतीक है, निम्न सत्ता उसके अन्धकारमय रूप दिति के अधीन है।

यज्ञ का लक्ष्य है उच्च या दिव्य सत्ता को जीतना, और निम्न या मानवीय सत्ता को इस दिव्य सत्ता से युक्त कर देना तथा इसके नियम और सत्य के अधीन कर देना। यज्ञ का 'घृत' चमकीली गौ की देन है, यह 'घृत' मान-

वीय मनोवृत्ति के अन्दर सौर प्रकाश की निर्मलता या चमक है। 'सोमरस' है सत्ता का अमृतरूप आनन्द जो कि जलों म और सोम नामक पौधे (लता) म निगूढ रहता है और देवो तथा मनुष्यो द्वारा पान करने के लिये निचोडा जाता है। शब्द है अन्त प्रेरित वाणी जो कि सत्य के उस विचार प्रकाश को अभिव्यक्त करती है जो आत्मा म से उठता है, हृदय में निर्मित होता है और मन द्वारा आकृनियुक्त होता है। 'अग्नि' धृत से प्रवृद्ध होकर और 'इन्द्र' सोम की प्रकाशमय शक्ति से तथा आनन्द से सबल और शब्द द्वारा प्रवृद्ध होकर, सूर्य की गौओ को फिर से पा लेने म अंगिरसो की सहायता करता है।

बृहस्पति सर्जनकारी शब्द का अधिपति है। यदि अग्नि प्रथम अंगिरा है, वह ज्वाला है जिससे कि अंगिरस ऋषि पैदा हुए हैं तो बृहस्पति वह एक अंगिरा है जो सातमुखवाला अर्थात् प्रकाशकारी विचार की सात किरणोवाला और इस विचार को अभिव्यक्त करनेवाले सात शब्दोवाला (एक अंगिरा) है, जिसकी ये सात ऋषि (अंगिरस) उच्चारण शक्तियां बने ह। यह सत्य का सात सिरोवाला अर्थात पूर्ण विचार है जो कि मनुष्य के लिय यज्ञ की लक्ष्यभूत पूर्ण आध्यात्मिक दौलत को जीतकर उसके लिय चौथे या दिव्य लोक का जीत लाता है। इसलिये अग्नि, इन्द्र बृहस्पति सोम सभी इस रूप म वर्णित किये गये ह कि ये सूर्य की गौओ को जीत लानेवाले हैं और उन दस्युओ के विनाशक ह जो कि उन गाओ को छिपा लेते ह और मनुष्य के पास आने स रोकते हैं। सरस्वती भी जो कि दिव्य शब्द की धारा या सत्य की अन्त प्रेरणा ह दस्युओ का वध करनेवाली और चमकीली गौओ का जीतनेवाली है उन गौओ को ढूढा है इन्द्र की अग्रदूती सरमा न जो कि सूर्य की या उषा की एक देवी है और सत्य की अन्तर्ज्ञानमयी शक्ति की प्रतीक मालूम होती है। उषा एक साथ दाता है स्वय वह इस महान विजय म एक कार्यकर्त्री भी है और पूर्ण रूप में उसका आगमन इस विजय का उज्ज्वल परिणाम है।

उषा दिव्य अरुणोदय है क्योकि सूर्य जो कि उसके आगमन के बाद प्रगट होता है पराचेतन सत्य का सूर्य ह दिन जिसको वह सूर्य लाता है सत्यमय ज्ञान क अदर होनेवाला सत्यमय जीवन का दिन है रात्रि जिसे वह विध्वस्त

करता है अज्ञान की रात्रि है जो कि अब तक उषा को अपने अन्दर छिपाये रखती है। उषा स्वयं सत्य है, सूनृता है और सत्यों की माता है। दिव्य उषा के इन सत्यों को उषा की गौएं, उषा के चमकीले पशु कहा गया है, जब कि सत्य के वेगवान् बलों को जो कि उन गौओं के साथ-साथ रहते हैं और जीवन को अधिष्ठित करते हैं उषा के घोड़े कहा गया है। गौओं और घोड़ों के इस प्रतीक के चारों ओर वैदिक प्रतीकवाद का अधिकांश घूम रहा है, क्योंकि ये ही उन सम्पत्तियों के मुख्य अंग हैं जिनको मनुष्य ने देवों से पाना चाहा है। उषा की गौओं को अन्धकार के अधिपति दानवों ने चुरा लिया है और ले जाकर गूढ़ अवचेतना की अपनी निम्नतर गुफा में छिपा दिया है। वे गौएं ज्ञान की ज्योतियां हैं, सत्य के विचार हैं (गावो मतय), जिन्हें उन को इस कैद से छुटकारा दिलाना है। उनके छुटकारे का अभिप्राय है दिव्य उषा की शक्तियों का वेग से ऊर्ध्वगमन होने लगना।

साथ ही इस छुटकारे का अभिप्राय उस सूर्य की पुन प्राप्ति भी है जो कि अन्धकार में छिपा पड़ा था, क्योंकि यह कहा गया है कि सूर्य अर्थात् दिव्य सत्य, "सत्य तत्", ही वह वस्तु थी जिसे इन्द्र और अगिरसो ने पणियों की गुफा में पाया था। उस गुफा के विदीर्ण हो जाने पर दिव्य उषा की गौएं जो कि सत्य के सूर्य की किरणें हैं आरोहण-करके सत्ता की पहाड़ी के ऊपर जा पहुंचती हैं और सूर्य स्वयं दिव्य सत्ता के प्रकाशमान ऊर्ध्व समुद्र में ऊपर चढ़ता है, जो विचारक है वे जल में जहाज की तरह इस ऊर्ध्व समुद्र में इस सूर्य को आगे-आगे ले जाते हैं जबतक कि वह इसके दूरवर्ती परले तट पर नहीं पहुंच जाता।

पणि जो कि गौओं को कैद कर लेनेवाले हैं, जो निम्न गुफा के अधिपति हैं, दस्युओं की एक श्रेणी में के हैं, जो दस्यु वैदिक प्रतीकवाद में आर्य देवों और आर्य द्रष्टाओं तथा कार्यकर्ताओं के विरोध में रखे गये हैं। आर्य वह है जो यज्ञ के कार्य को करता है, प्रकाश के पवित्र शब्द को प्राप्त करता है, देवों को चाहता है और उन्हें बढ़ाता है तथा स्वयं उनमें बढ़ाया जाकर सच्चे अस्तित्व की विशालता को प्राप्त करता है, वह प्रकाश का योद्धा है और सत्य का यात्री है। 'दस्यु' है अदिव्य सत्ता जो किसी प्रकार का यज्ञ नहीं करती, दौलत को

बटोर-बटोरकर जमा तो कर लेती है पर उसका ठीक प्रकार उपयोग नहीं कर सकती, क्योंकि वह शब्द को नहीं बोल सकती या परचेतन सत्य को मनोगत नहीं कर सकती, शब्द से, देवों से और यज्ञ से द्वेष करती है और अपने-आप से कोई वस्तु उच्च सत्ताओं को नहीं देती, बल्कि आर्य की उसकी अपनी दौलत को उससे लूट लेती है और अपने पास रोक रखती है। वह चोर है, शत्रु है, भेडिया है, भक्षक है, विभाजक है, बाधक है, अवरोधक है। दस्यु अन्धकार और अज्ञान की शक्तिया है जो सत्य के तथा अमरत्व के अन्वेष्टा का विरोध करती है। देव है प्रकाश की शक्तिया, असीमता (अदिति) के पुत्र, एक परम देव के रूप और व्यक्तित्व जो अपनी सहायता के द्वारा तथा मनुष्य के अन्दर अपनी वृद्धि और मानुष व्यापारो के द्वारा मनुष्य को ऊचा उठाकर सत्य और अमरता तक पहुचा देते है।

इस प्रकार आगिरस-गाथा का स्पष्टीकरण हम वेद के सम्पूर्ण रहस्य की कुञ्जी पकडा देता है। क्योंकि वे गौए और घोडे जो आर्यों से खो गये थे और जिन्हे उनके लिये देवो ने फिर से प्राप्त किया, वे गौए और घोडे जिनका इन्द्र स्वामी और प्रदाता है और वस्तुत स्वय गौ और घोडा है यदि भौतिक पशु नही है, यज्ञ द्वारा चाही गयी दौलत के ये अग यदि आध्यात्मिक सम्पत्तियो के प्रतीक है तो इसी प्रकार इसके अन्य अग पुत्र, मनुष्य, सुवर्ण, खजाना आदि भी जो कि सदा इनके साथ सम्बद्ध आते है इन्ही अर्थों मे होने चाहियें। यदि गौ जिससे 'घृत' पैदा होता है कोई भौतिक गाय नही है बल्कि जगमगानेवाली माता है तो स्वय घृत को भी जो कि जलो मे पाया गया है और जिसके लिये यह कहा गया है कि पणियो ने उसे गौ के अन्दर त्रिविध रूप मे छिपा दिया था, भौतिक हवि नही होना चाहिये न ही सोम का मधु-रस भौतिक हवि हो सकता है जिसके विषय मे यह भी कहा गया है कि वह नदियो मे होती है और समुद्र से एक मधुमय लहर के रूप मे उठता है तथा ऊपर देवो के प्रति धारारूप मे प्रवाहित होता है। और यदि ये प्रतीकरूप है तो यज्ञ की अन्य हवियो को भी प्रतीकरूप ही होना चाहिये, स्वय बाह्य यज्ञ भी एक आन्तर प्रदान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। और यदि अगिरस ऋषि भी अशत प्रतीक-

रूप हैं या देवों के सदृश यज्ञ में अर्ध-दिव्य कार्यकर्ता और सहायक हैं तो वैसे ही भृगुगण, अथर्वण, उशना और कुत्स तथा अन्य होने चाहियें जो कि उनके कार्य में उनके साथ सम्बद्ध आते हैं। यदि अंगिरसों की गाथा तथा दस्युओं के साथ युद्ध की कहानी एक रूपक है, तो वैसा ही अन्य आख्यायिकाओं को भी होना चाहिये जो कि ऋग्वेद में उस सहायता के विषय में पायी जाती हैं जो दानवों के विरुद्ध लड़ाई में ऋषियों को देवों द्वारा प्रदान की गयी थी, क्योंकि वे आख्यायिकाएं भी उन्हीं जैसे शब्दों में वर्णित की गयी हैं और वैदिक ऋषियों ने उन्हें सतत रूप से अंगिरसों के कथानक के साथ इस तरह एक श्रेणी में रखा है जैसे कि ये इनके समान आकारवाली हों।

इसी प्रकार ये दस्यु जो दान और यज्ञ का निषेध करते हैं और शब्द से तथा देवों से द्वेष करते हैं और जिनके साथ आर्य निरन्तर युद्ध में संलग्न रहते हैं, ये वृत्र, पणि व अन्य यदि मानवीय शत्रु नहीं हैं, बल्कि अन्धकार, अनृत और पाप की शक्तियां हैं, तो आर्यों के युद्धों का, आर्य-राजाओं का तथा आर्यों की जातियों का सारा विचार आध्यात्मिक प्रतीक और आध्यात्मिक उपाख्यान का रूप धारण करने लगता है। वे अविकल रूप में ऐसे हैं या केवल प्रधान रूप से यह अपेक्षाकृत अधिक ब्यौरेवार परीक्षा के बिना निर्णीत नहीं किया जा सकता, और यह परीक्षा इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा वर्तमान उद्देश्य केवल यह देखना है कि हमारे पास हमारे इस विचार की पुष्टि के लिये प्रारंभिक पर्याप्त सामग्री है या नहीं, जिसको लेकर हम चले हैं अर्थात् यह विचार कि वैदिक-सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्यवादियों की प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तकें हैं और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार की प्रारंभिक पर्याप्त सामग्री है यह हमने स्थापित कर दिया है क्योंकि अबतक हमने जितना विचार-विवेचन किया है उससे ही हमारे पास इसके लिये पर्याप्त आधार है कि वेद के पास हमें गंभीरता के साथ इसी दृष्टिकोण को लेकर पहुंचना चाहिये तथा वह भावनामय काव्य में लिखे गये इसी प्रकार के प्रतीकवाद के ग्रंथ हैं इस दृष्टि को ही सामने रखकर इनकी ब्यौरेवार व्याख्या करनी चाहिये।

तो भी अपने पक्ष को पूर्णतया सुदृढ़ करने के लिये यह अच्छा होगा कि वृत्र

तथा जलों सम्बन्धी दूसरी सहचरी गाथा की भी परीक्षा कर ली जाय जिसे हमने अंगिरसों तथा प्रकाश की गाथा के साथ इतना निकट रूप से सम्बद्ध पाया है। इस सम्बन्ध में पहली बात यह कि वृत्रहन्ता 'इन्द्र', अग्नि के साथ, वैदिक विश्वदेवगण के मुख्य का देवताओं में से एक है और उसका स्वरूप तथा उसके व्यापार यदि समुचित रूप से निर्धारित हो सके तो आर्यों के देवों का सामान्य रूप सुदृढ़तया नियत हो जायगा। दूसरे यह कि मरुत् जो इन्द्र के सखा हैं, पवित्र गान के गायक हैं, वैदिक पूजा के विषय में प्रकृतिवादी मत के सबसे प्रबल साधक बिन्दु हैं, वे निःसन्देह आँधी के देवता हैं और अन्य बड़े-बड़े वैदिक देवों में से दूसरे किसी का भी, अग्नि का या मित्र-वरुण का या त्वष्टा का और वैदिक देवियों का या यहाँतक कि सूर्य का भी या उषा का भी ऐसा कोई प्रधान भौतिक स्वरूप नहीं है। यदि इन आँधी के देवताओं के विषय में यह दर्शाया जा सके कि ये एक आध्यात्मिक स्वरूप और प्रतीकवाद को रखे हुए हैं तब वैदिक धर्म तथा वैदिक कर्मकाण्ड के गम्भीरतर अभिप्राय के सम्बन्ध में कोई सन्देह अवशिष्ट नहीं रह सकता। अन्तिम बात यह कि वृत्र और उसके सम्बद्ध दानव, शुष्ण, नमुचि तथा अवशिष्ट अन्यों की निकट रूप से परीक्षा किये जाने पर यदि पता चले कि ये आध्यात्मिक अर्थ में दस्यु हैं तथा यदि वृत्र द्वारा रोके जानेवाले आकाशीय (दिव्य) जलों के अभिप्राय का और अधिक गहराई में जाकर अनुसन्धान किया जाय तब यह विचार कि वेद में ऋषियों और देव तथा दानवों की कहानियाँ रूपक हैं एक निश्चित आरम्भ बिंदु को लेकर चलाया जा सकता है और वैदिक लोकों का प्रतीकवाद एक सन्तोषजनक व्याख्या के अधिक समीप लाया जा सकता है।

इससे अधिक प्रयत्न करना इस समय हमारे लिये संभव नहीं, क्योंकि वैदिक प्रतीकवाद जैसा कि सूक्तों में प्रपञ्चित किया गया है अपने अंग-उपांगों में अत्यधिक पेचीदा है, अपने दृष्टि बिन्दुओं की अत्यधिक विविधता को रखता है अपनी प्रतिच्छायाओं में और अवान्तर निर्देशों में व्याख्या करनेवाले के लिये अति ही अधिक अस्पष्टताओं तथा कठिनाइयों को उपस्थित करता है और सबसे बढ़कर यह कि विस्मृति और अन्यथाग्रहण के पिछले युगों द्वारा यह इतना

अधिक धुंधला हो चुका है कि एक ही पुस्तक में इसपर समुचित रूप से विचार कर सकना शक्य नहीं है। इस समय हम इतना ही कर सकते हैं कि मुख्य-मुख्य सूत्रसूत्रों को ढूंढ निकालें और जहांतक हो सके इतना सुरक्षित रूप में ठीक-ठीक आधारों को स्थापित कर दें।

इति

अन्तिम वक्तव्य

पाठक देखेंगे कि इस ग्रंथ का अंतिम अध्याय—अर्थात् यह ग्रंथ ही—इस प्रकार समाप्त हुआ है मानो कि यह अधूरा है, अपूर्ण है। एक प्रकार से यह बात ठीक भी है। क्योंकि श्रीअरविंद का विचार तब इस विषय पर और आगे भी लिखने का था। अपने अंग्रेजी मासिक पत्र 'आर्य' में पहिले दो वर्षों तक लगातार इस वेद-रहस्य (The Secret of the Veda) नामक लेख-माला को देकर इसे समाप्त करते हुए इसके अंतिम अध्याय की टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट इच्छा प्रकट की थी कि—

'इस समय तो 'वेद-रहस्य' लेखमाला को हम बन्द करते हैं जिससे कि 'आर्य' के तृतीय वर्ष में अन्य लेखों के लिये स्थान रिक्त हो सके, पर हमारा विचार है कि बाद में इस लेखमाला को हम फिर हाथ में लेंगे और इसे पूरा करेंगे।'

पर यह इच्छा तो उन्होंने सन् १९१६ में प्रकट की थी, उसके बाद चार वर्ष तक 'आर्य' भी प्रकाशित होता रहा किंतु वे उसमें वेद पर आगे कुछ और नहीं लिख सके। और उसके बाद अब तो ३० वर्ष और बीत गये हैं। अभी सन् १९४६ में उन्होंने अग्निदेवता के सूक्तों का एक सभाष्य संग्रह (Hymns to the Mystic Fire) अवश्य लिखा है और उसके प्रारंभ में एक ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी लिखी है (जिसे, जैसा कि प्राक्कथन में कहा गया है, हम पाठकों को वेद-रहस्य के तृतीय खण्ड में भेंट करेंगे)। पर उसके अतिरिक्त उन्होंने वेद पर गत ३० वर्षों में और कुछ नहीं लिखा है, जैसा कि उनका पहिले विचार था। प्रस्तुत पुस्तक के अन्तिम अध्याय में ही इन्द्र-वृत्र की तथा जलों की जिस सहचरी गाथा के विषय में गवेषणा करने की बात उन्हों-ने कही है और उसके लिये तीन विचारणीय विषय भी प्रस्तुत किये हैं, वह गवे-षणा श्रीअरविन्द की लेखनी द्वारा होनी अभी बाकी ही है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में उन्होंने अन्य कई जगह यह भाव प्रकट किया है कि वे इसमें इसकी अपनी

मर्यादाओं के कारण विषय का पूरा-पूरा विस्तृत विवेचन नहीं कर सके हैं, सातवें अध्याय में तो उन्होंने 'वैदिक मन्त्र पर, वेद के देवताओं पर तथा वैदिक प्रतीकों पर अपने अनुसंधान लिखने की' और इसके लिये 'सूक्ष्म तथा बड़ा प्रयास करने की' इच्छा प्रकट की है और इस पुस्तक को समाप्त करते हुए अन्त में कहा ही है कि वेद का विषय इतना गहन है कि 'इस ही पुस्तक में इस पर समुचित रूप से विचार कर सकना शक्य नहीं।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री-अरविन्द का सदा यह विचार रहा है, और यह अब भी है कि वेद के विषय में वे फिर कभी विस्तार से और आगे लिखना चाहते हैं और संभवतः लिख सकेंगे।

वे आगे जब भी लिखेंगे उसे तो परमेश्वर की कृपा से हम पाठकों को सुलभ कर ही देंगे। पर यहां यह सब बात कहने का अभिप्राय यह है कि चूंकि श्री-अरविन्द का विचार तब और अब भी लिखने का था इसीलिये इस पुस्तक की समाप्ति अपूर्णता का-सा भाव लिये हुए है। हमने भी अनुवाद करते हुए उसे वैसा ही रहने दिया है जिससे कि श्रीअरविन्द का यह इरादा पाठकों को विदित हो जाय। पर वैसे यह पुस्तक किसी प्रकार अपूर्ण नहीं है। इन चौबीस अध्यायों में 'वेद का प्रतिपाद्य क्या है' इस विषय पर श्रीअरविन्द का अपना विवेचन अच्छी तरह से आ गया है। "वैदिक सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्य-वादियों की प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तकें हैं और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है।" इस विचार को मानने के लिये पर्याप्त सामग्री तथा वेद की अन्तःसाक्षी है यह बात इन अध्यायों में अच्छी तरह स्थापित कर दी गयी है। अतः 'इसी दृष्टिकोण को लेकर हमें वेद के पास पहुंचना चाहिये' तथा 'इसी दृष्टि से वेद की ब्योरेवार व्याख्या करनी चाहिये' यह भी स्पष्ट हो गया है। वेद के प्रतीकवाद का भी इसमें अच्छा दिग्दर्शन करा दिया गया है। अब आगे वैदिक 'देवताओं का स्वरूप' तथा 'अग्नि-स्तुति' के विषय में श्रीअर-विन्द के विचार पाठक 'वेद-रहस्य' के क्रमशः द्वितीय और तृतीय खण्ड में पढ़ेंगे।

—अभय

अनुक्रमणिका (१)

(इस ग्रंथ में आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखों की)*

*इस अनुक्रमणिका म प्रारम्भ म लिखे अक पृष्ठा को सूचित करते हैं । इस चिह्न के उपरान्त लिखे अक पक्तिया का। –इस चिह्न मे क्रमिक सातत्य सूचित होता है जैसे ९–१२ का अर्थ है ९, १०, ११, १२।

अनुक्रमणिका (२)

(इस ग्रंथ में उल्लिखित वैदिक मंत्रों तथा मंत्रांशों की)*

अ

---

*इस अनुक्रमणिका में मंत्रों के आगे लिखे तीन अंक क्रमशः मंडल, सूक्त, और मंत्र को सूचित करते हैं और उनके आगे कोष्ठ में लिखी संख्या इस पुस्तक के पृष्ठ को सूचित करती है।

ए

ओ

क

ग

च

ज

त

द

र

व

"गीत गाया पत्थरोंने"
श्री शांताराम

श्रीअरविन्द-आश्रम प्रेस, पाडीचेरी
452—47—1000

वेद-रहस्य

के

द्वितीय तथा तृतीय खण्ड

वेद-रहस्य के द्वितीय खण्ड का नाम 'देवताओं का स्वरूप' है। इसमें वे १३ अध्याय हैं जो श्रीअरविन्द ने Selected Hymns नाम से लिखे थे। इनमें इन्द्र, अग्नि आदि वैदिक देवताओं में से एक एक को लेकर उनका स्वरूप निर्धारण किया गया है और उदाहरण के रूप में उस उस देवता के एक एक सूक्त का भाष्य दिया गया है।

तृतीय खण्ड में अग्नि देवता के सूक्तों का चयन है। इसका नाम 'अग्नि-स्तुति' है। यह Hymns to the Mystic Fire का अनुवाद है। इसमें श्रीअरविन्द द्वारा अभी हाल में लिखी ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी है।